ISSN No. 2277-680X

# उशती

# UŚATĪ

एकविंशोऽङ्कः ( Vol. XXI ) 2021 - वर्षम्

उ॒त त्व॒: पश्य॒न्न ददर्श॒ वाच॑मु॒त त्व॑: शृ॒ण्वन्न शृ॑णोत्येनाम्।
उ॒तो त्वस्मै॑ त॒न्वं॑१ वि स॑स्रे जा॒येव॒ पत्य॑ उश॒ती सु॒वासा॑: ॥-ऋ.१०/७१/४

केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः
गङ्गानाथझापरिसरः
चन्द्रशेखर-आजादोद्यानम्
प्रयागराजः
2023

ISSN No.: 2277–680X

# उशती
# UŚATĪ
## (THE JOURNAL OF SANSKRIT STUDIES)

**एकविंशोऽङ्कः** (Vol. XXI) **2021 वर्षम्**

उ॒त त्वः॒ पश्य॒न्न द॑दर्श॒ वाच॑मु॒त त्वः॑ शृ॒ण्वन्न शृ॑णोत्येनाम्।
उ॒तो त्वस्मै॑ त॒न्वं॑१ वि स॑स्रे जा॒येव॒ पत्य॑ उश॒ती सु॒वासाः॑॥

ऋ॰ १०।७१।४

**प्रधानसम्पादकः**
श्रीनिवास वरखेडी

**सम्पादकाः**
ललितकुमारत्रिपाठी
अपराजिता मिश्रा
मोनाली दास

**केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः**
गङ्गानाथझापरिसरः, प्रयागराजः
2023

# उशती

**पुनरीक्षणसमितिः**

**प्रो. हरिदत्तशर्मा (राष्ट्रपतिसम्मानितः)**
(विभागाध्यक्षचरः, संस्कृतविभागः)
इलाहाबादविश्वविद्यालयः, प्रयागराजः

**प्रो. विश्वम्भरनाथगिरिः**
(आचार्यचरः, साहित्यविभागः)
केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः, गङ्गानाथझापरिसरः, प्रयागराजः

**प्रो. भारत भूषण त्रिपाठी**
(आचार्यः, व्याकरणविभागः)
केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः, लखनऊपरिसरः, लखनऊ

**प्रकाशकः**

**निदेशकः**,
केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः,
**गङ्गानाथझापरिसरः**,
चन्द्रशेखर-आजादोद्यानम्,
प्रयागराजः, उ. प्र. — २११ ००२

**प्रकाशनवर्षम्** दिसम्बर, २०२३

**अङ्कस्य शुल्कम्**

भारतीयम् ₹१५०
वैदेशिकम् $३५

**© प्रकाशकः**

**मुद्रकः**

एकेडमी प्रेस
दारागंज, प्रयागराजः - २११ ००२

ISSN No.: 2277–680X

# उशती
# UŚATĪ
## (THE JOURNAL OF SANSKRIT STUDIES)

**एकविंशोऽङ्कः (Vol. XXI)** **2021 वर्षम्**

उ॒त त्वः॒ पश्य॒न्न द॑दर्श॒ वाच॑मु॒त त्वः॑ शृ॒ण्वन्न शृ॑णोत्येनाम्।
उ॒तो त्वस्मै॑ त॒न्वं॑१ वि स॑स्रे जा॒येव॒ पत्य॑ उश॒ती सु॒वासाः॑॥

ऋ॰ १०।७१।४

**Chief Editor**
Shrinivas Varakhedi

**Editors**
Lalit Kumar Tripathi
Aprajita Mishra
Monali Das

**Central Sanskrit University**

Ganganatha Jha Campus, Prayagraj

2023

# UŚATĪ

**Review Committee**

**Prof. Hari Dutta Sharma**
(Former Head, Department of Sanskrit)
Allahabad University, Prayagraj
**Prof. Vishwambhar Nath Giri**
(Former Professor, Department of Sahitya)
Central Sanskrit University, Ganganatha Jha Campus, Prayagraj
**Prof. Bharat Bhushan Tripathi**
(Professor, Department of Vyakarana)
Central Sanskrit University, Lucknow Campus, Lucknow

**Published by**

**Director**,
Central Sanskrit University,
**Ganganatha Jha Campus**,
Chandrasekhar Azad Park,
Prayagraj, U. P. — 211 002

**Year** December, 2023

**Individual Copy**

Indian ₹150
Foreign $35

© publisher

**Printed at**

Academy Press
Daraganj, Prayagraj - 211 002

# सम्पादकीय

भारतीय ज्ञान परम्परा से सम्बद्ध विविध विषयों पर लिखित शोधपत्रों से सुसज्जित इस शोधपत्रिका के नवीनतम अंक को पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए अत्यन्त हर्ष का अनुभव हो रहा है। इस अंक में ज्ञान की विविध शाखाओं से सम्बद्ध मौलिक एवं गंभीर अनुसंधान से युक्त शोध पत्र सम्मिलित हैं। ये शोधलेख अनुसन्धान क्षेत्र में अनेक नवीन सम्भावनाओं को उद्घाटित करने में अवश्य समर्थ होंगे। इस अंक में २४ शोधपत्र प्रकाशित किए जा रहे हैं।

"शमी का सांस्कृतिक, काव्यात्मक एवं वैज्ञानिक अनुशीलन" शीर्षक प्रथम शोधपत्र में शमी वृक्ष के सांस्कृतिक, ज्योतिषीय एवं वास्तुशास्त्रीय महत्त्व और उसके औषधीय गुणों की विस्तृत चर्चा पुराणों एवं आयुर्वेदीय ग्रन्थों के उद्धरणों के आधार पर प्रस्तुत की गई है।

"कातन्त्रव्याकरणम्" शीर्षक द्वितीय आलेख में पाणिनीय व्याकरण के सुव्यवस्थापित होने पर भी वर्तमान में संस्कृत भाषा शिक्षण के लिए कातन्त्रव्याकरण की सामान्यजनोपयोगिता पर प्रकाश डाला गया है।

"The Economical Picture Reflected In The Drama Mṛcchakaṭikam" इस तृतीय लेख में शूद्रक के 'मृच्छकटिक' के आधार पर तत्कालीन समाज की समाजिक और आर्थिक स्थिति का विश्लेषण किया गया है।

"वैदिक साहित्य में राष्ट्रिय चेतना" इस चतुर्थ लेख में भारतीय सनातन आर्य संस्कृति के मूल आधार वैदिक साहित्य में राष्ट्रिय चेतना की उदात्त भावना का निदर्शन सोदाहरण प्रस्तुत किया गया है।

"Analysis of Critical Claims against Sāmānya Padārtha by Buddhist Schools" इस शोधपत्र के द्वारा सामान्य एवं जाति की अवधारणा का न्याय-वैशेषिक दर्शन के वस्तुवादी दर्शन में प्रभाव एवं बौद्ध दार्शनिकों के द्वारा सामान्य के खण्डन का विश्लेषण किया गया है।

"श्री गङ्गानन्दकवीन्द्र के काव्यदोष लक्षण की समीक्षा" शीर्षक लेख में मैथिल काव्यशास्त्री श्री गङ्गानन्द कवीन्द्र की कृति 'काव्यडाकिनी' में प्रतिपादित दोषतत्त्व की साङ्गोपाङ्ग विवेचना तथा दोषों से सम्बद्ध मम्मट से पृथक् कतिपय नवीन परिष्कारों की समीक्षा प्रस्तुत की गई है।

"Sociolinguistics importance of Kāśikā Vṛtti" इस शोधपत्र में जयादित्य और वामनकृत काशिकावृत्ति में उदाहरणों एवं प्रत्युदाहरणों के माध्यम से प्रस्तुत समाजभाषाविज्ञान से सम्बद्ध अभिव्यक्तियों का अध्ययन प्रस्तुत किया है।

"The Triad of Learning Strategy Based on Bhagvadgītā: A Conceptual Framework" इस शोध लेख में शिक्षा के मनोविज्ञान पर आधारित शैक्षिक अधिगम प्रणाली का एक नया मॉडल प्रस्तुत किया गया है। श्रीमद्भगवद्गीता की शिक्षा प्रविधि और कार्य सिद्धान्तों पर आधारित इस मॉडल को वर्तमान शिक्षा प्रणाली में समाविष्ट कर इसका परीक्षण किया जा सकता है। ज्ञान के अधिगम के पश्चात् की प्रक्रिया के आधार पर इस मॉडल को विकसित करने की भी अपार सम्भावना पर इस लेख में विचार प्रस्तुत किया गया है।

"वाणीभूषण ग्रन्थ के आधार पर संस्कृत छन्दों का पाश्चात्त्य छन्दशास्त्र पर प्रभाव" शीर्षक शोधलेख में दामोदरमिश्र विरचित 'वाणीभूषण' ग्रन्थ के आधार पर आङ्ग्ल, लैटिन, फ्रेंच तथा स्पेनिश आदि पाश्चात्त्य भाषाओं के छन्दशास्त्र पर संस्कृत छन्दों के प्रभाव को सोदाहरण प्रस्तुत करने के साथ ही इस विषय में भावी काल में सम्भावित तुलनात्मक शोधसम्भावनाओं की ओर भी इङ्गित किया गया है।

"श्रीमद्भगवद्गीता और कुरुक्षेत्र में निहित साम्यवाद" इस शोध लेख में इस ग्रन्थ में प्रतिपादित साम्यवादी चिन्तन को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। गीता को सामरस्य और सामंजस्य से युक्त साम्यवाद का अपूर्व उद्घोष मानते हुए इसे साम्यवादी दृष्टि की आधारभूत पीठिका के रूप में प्रदर्शित किया गया है।

"जानकीहरण महाकाव्य में विद्यमान अर्थ विस्तार" इस शोधपत्र में कुमारदास विरचित जानकीहरण महाकाव्य में विद्यमान अर्थविस्तार का विवेचन किया गया है।

"शाब्दिकमते लक्षणाविमर्शः" शीर्षक शोधपत्र में वैयाकरणों द्वारा सम्मत लक्षणा के स्वरूप पर विभिन्न ग्रन्थों के आधार पर विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

"Sanskrit Education : Bowing Heads to Tradition" नामक शोधलेख में भारतीय ज्ञान प्रणाली में संस्कृत शिक्षा का महत्त्व तथा वर्तमान में नूतन शिक्षानीति के प्रविधानों के आधार पर संस्कृतभाषा शिक्षण, अभ्यास और उसके वैश्विक प्रसार की आवश्यकता पर चर्चा की गई है।

"Preluding the Yoga-Vāsiṣṭha: An Inimitable Genre" यह शोधपत्र वेदान्तदर्शन के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'योग वाशिष्ठ' के अद्वितीय तथा विशिष्ट अद्वैत दार्शनिक चिन्तन, विशिष्ट प्रविधि, तथा इसके महत्त्व पर विचार के साथ ही आधुनिक विचारकों के द्वारा इसकी उपेक्षा के कारणों पर सर्वेक्षण प्रस्तुत करता है।

"नागेशभट्टपर्यालोचितभाष्यसम्मताष्टाध्यायीपाठ and Nonpāṇinian Grammars: A comparative study of variations in the अष्टाध्यायी rules" इस शोधलेख में 'नागेशभट्टपर्यालोचितभाष्यसम्मताष्टाध्यायीपाठ' इस ग्रन्थ के आधार पर प्राप्त पाणिनीय सूत्रों के पाठभेदों के आधार पर पाणिनीय व्याकरण तथा अन्य व्याकरणों (कातन्त्र, जैनेन्द्र, शाकटायन, चान्द्र आदि) का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है।

"मक्किभट्टः कश्चन अपूर्वः व्याख्यकारः" इस लेख में १४ वीं शती के विद्वान् और रघुवंश की विवरण टीका, गणितभूषणम्, गणितविलासम् आदि व्याख्यान ग्रन्थों के रचयिता मक्किभट्ट का रघुवंश के अन्य टीकाकार हेमाद्रि से पार्थक्य सप्रमाण निरूपित किया गया है।

"Reflections of Abhinavagupta on aesthetic experience" इस शोधपत्र में रस और सौन्दर्यशास्त्र के सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए भारतीय शैव दार्शनिक आचार्य अभिनवगुप्त की सौन्दर्य शास्त्रीय और रस सम्बन्धी अवधारणाओं पर शैव दर्शन के प्रभाव को स्पष्ट किया गया है।

"पण्डित विष्णुशर्मा कृत 'पञ्चतन्त्र' के अपरीक्षितकारकम् की वर्तमान में प्रासंगिकता" इस शोधपत्र में संस्कृत साहित्य के 'पञ्चतन्त्र' ग्रन्थ की नीति कथाओं के पञ्चम तन्त्र 'अपरिक्षितकारक' की वर्तमान समाज में प्रासङ्गिकता को दर्शाया गया है।

"Portrayal of the character of Draupadī in Bhaṭṭanārāyaṇa's Veṇīsaṃhāra" यह शोधपत्र नाटककार भट्टनारायण विरचित प्रसिद्ध नाटक 'वेणीसंहार' में चित्रित द्रौपदी के चरित्र के वैशिष्ट्य को रूपायित करता है।

"उपक्रमन्यायविमर्शः" इस शोधपत्र में आचार्य जैमिनि द्वारा प्रवर्तित वेद वाक्यार्थ निर्णायक न्यायों में अन्यतम उपक्रमन्याय के स्वरूप की समालोचना करते हुए यह भी प्रदर्शित किया गया है कि किन-किन स्थलों पर यह न्याय प्रवर्तित होता है, इसके प्रतिबन्धक क्या हैं तथा शास्त्रान्तर में इसका प्रयोग किस प्रकार सम्भव है।

"असिद्धवति लाघवसमीक्षणम्" अष्टाध्यायी में पाणिनि द्वारा शास्त्र लाघवार्थ प्रयुक्त विधाओं में असिद्धत्व का सिद्धान्त एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। प्रस्तुत शोधलेख में असिद्धवदत्राऽभात् सूत्र के द्वारा पाणिनि ने कितने सूत्रों का लाघव किया है, इस पर विमर्श प्रस्तुत किया गया है।

"भूमिच्छिद्र विधान का अभिलेखीय साक्ष्य" लेख में हर्ष के तीन ताम्रपत्रलेखों में भूमिच्छिद्र विधान में महत्त्वपूर्ण अभिलेखीय साक्ष्य हैं जो भूमिदान के सम्बन्ध में प्राचीन परम्परा के विधान को पुष्ट करते हैं।

"Survey of Holism and Multidisciplinary approach in Higher Education with Reference to Indian Knowledge System" इस शोध पत्र में शिक्षण के संबंध में भारतीय ज्ञान प्रणाली में निर्धारित समग्र शिक्षण एवं बहुविषयक शिक्षण अवधारणा के महत्त्व को स्थापित करने का और उनका विश्लेषण करने का प्रयास किया गया है।

"विवेकचूडामणिदृशा व्यक्तित्वस्वरूपसमीक्षणम्" शीर्षक शोध पत्र में वेदान्तशास्त्र के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'विवेकचूडामणि' ग्रन्थ में प्रतिपादित व्यक्तित्व के स्वरूप उसके आधारभूत कारक, भेद आदि पर समीक्षा प्रस्तुत की गई है।

**सम्पादक**

❀❀❀

# विषयानुक्रमणी

i. सम्पादकीय ..... v

1. शमी का सांस्कृतिक, काव्यात्मक एवं वैज्ञानिक अनुशीलन
धनञ्जय वासुदेव द्विवेदी ..... 1

2. कातन्त्रव्याकरणम्
शुभङ्करदासः ..... 23

3. The Economical Picture Reflected In The Drāmā Mṛccha-kaṭikam
Paromita Biswas ..... 31

4. वैदिक साहित्य में राष्ट्रिय चेतना
गोविन्द सरकार ..... 36

5. Analysis of Critical Claims against Sāmānya Padārtha by Buddhist Schools
Pooja ..... 40

6. श्रीगङ्गानन्दकवीन्द्र के काव्यदोष लक्षण की समीक्षा
ब्रजेश कश्यप ..... 47

7. Sociolinguistics importance of Kāśikā Vṛtti : A Study
Dharmendra Das ..... 53

8. The Triad of Learning Strategy Based on Bhagavad Gītā : A Conceptual Framework
Mangesh Pandey and Balram Pradhan ..... 66

9. "वाणीभूषण" ग्रन्थ के आधार पर संस्कृत छन्दों का पाश्चात्त्य छन्दशास्त्र पर प्रभाव
गढ़वी आनन्द महेशभाई ..... 84

10. श्रीमद्भागवद्गीता और कुरुक्षेत्र में निहित साम्यवाद
नीरज शर्मा ..... 91

11. जानकीहरण महाकाव्य में विद्यमान अर्थ विस्तार
नेहा जैन ..... 100

12. शाब्दिकमते लक्षणाविमर्शः
सदानन्द झा ..... 107

13. Sanskrit Education : Bowing Heads to Tradition
Indrajit Kumar ..... 115

14. Preluding the Yoga-Vāsiṣṭha: An Inimitable Genre
Shruti Sharma and Sharma Bhanu Bhupendra .. 119

15. नागेशभट्टपर्यालोचितभाष्यसम्मताष्टाध्यायीपाठ and Non-Pāṇinian grammars : A comparative study of variations in the अष्टाध्यायी rules
Tanuja Ajotikar ..... 129

16. 'मक्किभट्टः' कश्चन अपूर्वः व्याख्याकारः
बालचन्द्रकृष्णभट्टः ..... 152

17. Reflections of Abhinavagupta on Aesthetic Experience
Hari Ram Mishra ..... 159

18. पण्डित विष्णु शर्मा कृत पञ्चतन्त्र के अपरीक्षितकारकम् की वर्तमान में प्रासंगिकता
कुसुमलता टेलर ..... 169

19. Portrayal of the Character of Draupadī in Bhaṭṭanārāyaṇa's Veṇīsaṃhāra
Karabi Sarmah ..... 179

20. उपक्रमन्यायविमर्शः
देबनाथ पाल ..... 187

21. असिद्धवति लाघवसमीक्षणम्
अनिलकुमारसन्मुखः ..... 195

22. भूमिच्छिद्र विधान का अभिलेखीय साक्ष्य
सत्य प्रकाश श्रीवास्तव ..... 206

23. Survey of Holism and Multidisciplinary approach in Higher Education with reference to Indian Knowledge Systems
Pooja ..... 211

24. विवेकचूडामणिदृशा व्यक्तित्वस्वरूपसमीक्षणम्
मनीषजुगरानः ..... 220

25. Contributors ..... 229

❀❀❀

# उशती

# UŚATĪ

**A RESEARCH JOURNAL DEVOTED TO SANSKRIT STUDIES IN GENERAL AND ŚĀSTRIC STUDIES IN PARTICULAR**

# शमी का सांस्कृतिक, काव्यात्मक एवं वैज्ञानिक अनुशीलन

धनञ्जय वासुदेव द्विवेदी

सारांश

भारतीय परम्परा में वनस्पतियों की महत्ता को स्वीकार किया गया है। वनस्पतियों की परम्परा में शमीवृक्ष का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह उन वनस्पतियों में सम्मिलित है जो सांस्कृतिक और औषधीय दोनों ही दृष्टियों से उपयोगी हैं। यह पुंसवन, विवाह आदि संस्कारों में तो प्रयुक्त होता ही है, वास्तु और ज्योतिष की दृष्टि से यह अत्यन्त उपयोगी है। देवताओं से इसकी सम्बद्धता इसके महत्त्व को और भी अधिक बढ़ा देती है। आयुर्वेदीय निघण्टु ग्रन्थों में इसके अनेक पर्यायवाची शब्दों का उल्लेख प्राप्त होता है जो इस वृक्ष के महत्त्व तथा विशेषता की ओर संकेत करते हैं। शमी का पूजन भी अत्यन्त फलदायी माना गया है। यही कारण है कि विजयादशमी के दिन सायंकाल इस वृक्ष की पुजा की जाती है। इसकी वृक्ष की पूजा का माहात्म्य पुराणों में विस्तार के साथ बताया गया है। वाल्मीकीय रामायण, कालिदासीय कव्यों में भी शमी का उल्लेख इस बात की ओर संकेत करता है कि कवियों ने इस वनस्पति का प्रयोग अपने काव्यों को समृद्ध करने के लिए किया है। विविध पुराणों और आयुर्वेदीय ग्रन्थों के अनुशीलन से स्पष्ट होता है कि इस वृक्ष में कई महत्त्वपूर्ण औषधीय गुण भी हैं।

(कूटशब्द – वनस्पति, शमी, संस्कृति, संस्कार, औषधीय गुण, ईश्वरत्व, ज्योतिष)

.....

## भूमिका

सांस्कृतिक और औषधीय दोनों ही दृष्टियों से शमी का महत्त्व सर्वविदित है। भारत में प्राचीनकाल से ही शमी के विविध गुणों की चर्चा प्राप्त होती है। इसका सबसे प्राचीन उल्लेख ऋग्वेद में प्राप्त होता है - 'ईजे यज्ञेभिः शशमे शमीभिः'।[1] यजुर्वेद में भी शमी का सन्दर्भ प्राप्त होता है जहाँ उसे वरुण का उत्थान करने वाला बताया गया है।[2] अथर्ववेद, ब्राह्मण ग्रन्थों[3], वाल्मीकि रामायण, महाभारत, पुराणों तथा अवान्तरकालीन साहित्य तथा आयुर्वेद वाङ्मय में भी शमी का उल्लेख प्राप्त होता है।

सांस्कृतिक और औषधीय कार्यों के अतिरिक्त शमी के काष्ठ का प्रयोग कृषि उपकरणों को बनाने में किया जाता है। इसके अतिरिक्त इसका उपयोग स्तम्भों, दरवाजों, खिड़कियों आदि बनाने में भी किया जाता है। अग्नि प्रज्वलित करने में इसकी गणना उत्कृष्ट लकड़ियों में होती है। मत्स्यपुराण में हिमालय की अनोखी शोभा तथा आश्रम का वर्णन करने के क्रम में अन्य वृक्षों के साथ शमीवृक्ष का उल्लेख भी प्राप्त होता है।[4] प्रियनिघण्टु में कहा गया है - जो बालुकामय मरुस्थली तथा प्रचण्ड वात में भी सानन्द विहार करती है, अपने अन्तस्तल में आग रखकर भी प्रसन्न रहती है तथा मनुष्यों के मद को शान्त करती है वह शमी है -

विहरति मरुदेशे सैकते तीव्रवाते वितरति फलपत्रान् प्राणिनां जीवनाय।
कलयति विशिखाग्निं स्वान्तरे सौमनस्या शमयति मनुजानां मत्ततां सा शमी स्यात्॥[5]

---

1 ऋ., 6/2/2
2 यजुः, 4/36
3 श.ब्रा., 2/5/2/12, 9/2/3/37, 13/8/4/1
4 म.पु., 118/1-10
5 प्रि.नि.ह.व., 166

शमीवृक्ष जङ्गलभूमि में शीघ्र वृद्धि को प्राप्त होते हैं।[6] शमीवृक्ष में बहुत सी पत्तियाँ होती हैं। ऐसा कहा जाता है कि शमी हेमन्त ऋतु में भी नहीं सूखता।[7] काश्यपीयकृषिसूक्ति ने अनेक धान्यबीजों में संरक्षण का परामर्श दिया है। शमी का बीज भी उनमें से एक है।[8] अन्य वृक्षों के साथ शमी वृक्षों का आरोपण प्रशंस्य माना जाता है। इनका प्रयासपूर्वक आरोपण किया जाना चाहिए। आरोपण के अनन्तर संरक्षण और सिञ्चन की बात भी कही गई है। अग्नि, हिंसक जन्तुओं और चोरों से इन वृक्षों की सायास रक्षा की जानी चाहिए। नदी तटों पर इनका आरोपण और भी अधिक प्रशंसनीय माना जाता है।[9]

## शोधप्रविधि

इस शोधालेख को तैयार करने में शोध की पुस्तकावलोकन विधि का अनुसरण किया गया है। इसके अतिरिक्त साक्षात्कार विधि का भी आश्रय लिया गया है जिसके अन्तर्गत विषय के लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों का मार्गदर्शन प्राप्त किया गया है।

## शमी की उत्पत्ति

वामनपुराण के अनुसार कात्यायनी दुर्गा से शमी की उत्पत्ति हुई है - कात्यायन्याः शमी जाता [10]। अतः शमी वृक्ष में भगवती का निवास बताया गया है और इसी कारण शमीवृक्ष के लिए शिवा, ईशानी, लक्ष्मी, शुभकरी, मङ्गल्या, भद्रा, शङ्करी, शिवाफला आदि संज्ञाओं का प्रयोग किया जाता है।

## शमी का स्वरूप और रासायनिक संघटन

शमी का वृक्ष छोटा और मध्यमप्रमाण कंटकित होता है। इसका काण्ड-त्वक् धूसर, रुक्ष, शाखाएं झुकी हुईं होती हैं। इसके पत्र छोटे क्षोदलिप्त होते हैं जिनके दो जोड़े, 1-2 इञ्च लम्बे पक्ष तथा आधे इञ्च तक लम्बे, अवृन्त, जिह्वाकार, 8-12 जोड़े पत्रक होते हैं। पुष्प छोटे, पीताभ, अक्षीय या अन्त्य 2-3 इञ्च लम्बी मञ्जरियों में होते हैं। फली 4-6 इञ्च लम्बी, चौथाई इञ्च मोटी, सीधी, चिकनी, लंवगोल, बीच-बीच में संकुचित होती है जिसमें 10-15 भूरे रंग के आयताकार चपटे बीज होते हैं। शीतकाल में पुष्प और वर्षा में फल होते हैं। पत्तियों में नाइट्रोजन 2.9, फास्फोरस 0.4, पोटाशियम 1.4 और कैल्शियम 2.8 प्रतिशत होता है। पुष्पों में पैंटुलिट्रिन नामक एक फ्लेवोन ग्लाइकोसाईड निकाला गया है। शाखाओं से एक पीताभ गोंद निकलती है जिसके जल में मिलाने पर एक गहरे रंग का स्वादरहित लुआब बनता है।[11]

## शमी तथा उसके पर्यायवाची शब्द

निघण्टुग्रन्थों में शमी के अनेक पर्यायवाची शब्दों का उल्लेख प्राप्त होता है। ये सभी पर्यायवाची शब्द सोद्देश्य हैं। ये सभी शमी के गुणधर्म, वैशिष्ट्य आदि की ओर संकेत करते हैं। विभिन्न निघण्टु ग्रन्थों में परिगणित शमी के पर्यायवाची शब्दों का उल्लेख आगे किया जा रहा है -

---

6 वृ., 42
7 अ.चि.वि., पृ.379
8 का.कृ.सू., 1/395
9 वही, 2/143-155
10 वा.पु., 17/8
11 द्र.गु.वि., पृ.481-482

## भावप्रकाश निघण्टु -

शमी, शक्तुफला, तुङ्गा, केशहन्त्री, शिवाफला, मङ्गल्या तथा लक्ष्मी ये सब हैं। छोटे शमीवृक्ष का नाम 'शमीर' है -

शमी शक्तुफला तुङ्गा केशहन्त्री शिवाफला।
मङ्गल्या च तथा लक्ष्मीः शमीरः साल्पिका स्मृता॥[12]

## कैयदेव निघण्टु -

लक्ष्मी, शिवा, सीता, मङ्गल्या, केशहृत्फला, पवित्रपत्रा, आशवती, तुङ्गा, सक्तुफला, रसा ये शमी के पर्यायवाची हैं -

शमी लक्ष्मी शिवा सीता मङ्गल्या केशहृत्फला।
पवित्रपत्राशवती तुङ्गा सक्तुफला रसा॥[13]

## मदनपाल निघण्टु -

तुङ्गा, शङ्कुफला, पवित्रा, केशहृत्फला, लक्ष्मी, शिवानी, आधिमती, भूशमी और शङ्कराह्वया आदि नाम शमी के पर्यायवाची कहे जाते हैं -

शमी तुङ्गा शङ्कुफला पवित्रा केशहृत्फला।
लक्ष्मी शिवान्याधिमती भूशमी शङ्कराह्वया॥[14]

## राजनिघण्टु -

शमी, शान्ता, तुङ्गा, कचरिपुफला, केशमथनी, शिवा, ईशा, नौ, लक्ष्मी, तपनतनुनष्टा, शुभ-करी, हवि, गन्धा, मेध्या, दुरितशमनी, शंकुफलिका, सुभद्रा, मङ्गल्या, सुरभि, शापापशमनी, भद्रा, शङ्करी, केशहन्त्री, शिवाफला, सुपत्रा तथा सुखदा ये सब शमी वृक्ष के पच्चीस नाम हैं -

शमी शान्ता तुङ्गा कचरिपुफला केशमथनी।
शिवेशा नौर्लक्ष्मीस्तपनतनुनष्टा शुभकरी॥
हविर्गन्धा मेध्या दुरितशमनी शङ्कुफलिका।
सुभद्रा मङ्गल्या सुरभिरथ शापापशमनी॥[15]

## धन्वन्तरिनिघण्टु -

शङ्कुफला, तुङ्गा, केशहन्त्री, शिवा, ईशानी, शङ्करी, लक्ष्मी, मङ्गल्या और पापनाशिनी ये सब शमी के पर्यायवाची हैं -

शमी शङ्कुफला तुङ्गा केशहन्त्री शिवा फला।
ईशानी शङ्करी लक्ष्मीर्मङ्गल्या पापनाशिनी॥[16]

## प्रियनिघण्टु -

शमी, लक्ष्मी, सक्तुफला और केशहन्त्री ये पर्यायवाची हैं -

---

12 भा.नि.वट.व., 72
13 कै.नि.ओ.व., 1083-84
14 म.नि.वट.व., 63
15 रा.नि.शा.व., 33
16 ध.नि.आ.व., 86

शमी लक्ष्मीः सत्फला केशहन्त्री च कथ्यते।[17]

अब कतिपय महत्त्वपूर्ण पर्यायवाची शब्दों का उल्लेख करते हुए उसके उस नामकरण के कारण को रेखाङ्कित किया जा रहा है -

- शमी - यह आग के दाह को कम तथा शमन करता है। इसलिए इसका नाम शमी पड़ा - अग्निदाहशमनहेतुर्वृक्षः शमी।
- ईशा - यह भगवती दुर्गा को अत्यन्त प्रिय है।
- केशमथनी, केशहन्त्री, केशहृत्फला - यह केशों का नाश/हरण करने वाली है।
- गन्धा - यज्ञाग्नि में डालने पर उससे सुगन्ध निकलता है।
- तुङ्गा - यह अत्यन्त उन्नत वनस्पति है तथा यह भगवती पार्वती को प्रिय है।
- दुरितशमनी - इसका प्रयोग पापों का शमन करने वाला है।
- पवित्रपत्रा - पूजन, यजन आदि में इसका प्रयोग किया जाता है तथा इसके पत्तों को पवित्र माना जाता है।
- मङ्गल्या - माङ्गलिक कार्यों में इसका प्रयोग होता है।
- मेध्या - इसे यज्ञों के लिए अत्यन्त उपयुक्त माना जाता है।
- लक्ष्मी - इसके पत्ते भगवती लक्ष्मी को अत्यन्त प्रिय है।
- शंकुफलिका - इसके फल शंकु के आकार के होते हैं।
- शुभकरी - यह शुभ फलों को प्रदान करने वाली है।
- सुखदा - यज्ञों में इसका प्रयोग सुखकारक है।
- हवि - यज्ञों में इसका प्रयोग हवि के रूप में होता है।

## शमी का सांस्कृतिक महत्त्व

भारतीय परम्परा में व्रत एवं पूजा आदि में पुष्पों का प्रयोग अत्यन्त प्रशंस्य है। इसी क्रम में पञ्चपुष्पों कि चर्चा प्राप्त होती है जिसमें शमी भी सम्मिलित है। शमी के अतिरिक्त अन्य पुष्प हैं - चम्पक, आम्र, पद्म और करवीर - 'चम्पकाम्रशमीपद्म करवीरं च पञ्चमम्'।[18]

पुंसवन संस्कार में शमी का प्रयोग किया जाता है -

शमीमश्वत्थ आरूढस्तत्र पुंसुवनं कृतम्।[19]

अर्थात् शमी पर जब अश्वत्थ आरूढ़ होता है, तो पुंसवन किया जाता है।

अथर्ववेद में वैदिक ऋषि उपरिबभ्रव प्रार्थना करते हैं कि हे शमी, आपका आनन्ददायक रस केश उत्पादक एवं वर्धक होता है जिससे आप पुरुष को हर्षयुक्त करते हैं। आप सैकड़ों शाखायुक्त होकर बढ़ें। सौभाग्यकारिणी, वर्षा के जल से वर्धित हे शमी औषधे, माता जिस प्रकार पुत्रों को सुख देती है, उसी प्रकार आप केशों के लिए सुखकारी हों -

यस्ते मदोऽवकेशो विकेशो येनाभिहस्यं पुरुषं कृणोषि।
आरात्त्वदन्या वनानि वृक्षि त्वं शमि शतवल्शा वि रोह॥
बृहत्पलाशे सुभगे वर्षवृद्ध ऋतावरि।
मातेव पुत्रेभ्यो मृड केशेभ्यः शमि॥[20]

---

17 प्रि.नि.ह.व., 165

18 व्र.प., पृ.18

19 अ.वे., 6/11/1

20 वही, 6/30/2-3

हिन्दू धर्म में शमी भगवती लक्ष्मी के लिए एक पवित्र एवं पूजनीय वृक्ष माना जाता है। यही कारण है कि शमी के अनेक पर्यायों में लक्ष्मी भी एक है। विशिष्ट पर्व पर इसकी पूजा की जाती है। शमीपत्रों का प्रयोग विविध संस्कारों में किया जाता है।

शमीपत्रों से भगवान् शिव की पूजा करने वाला मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर लेता है - 'शमीपत्रै-स्तथा मुक्तिः प्राप्यते पुरुषेण च'।[21]

भद्रमण्डल आदि की पूजनविधि के क्रम में शमी का उल्लेख प्राप्त होता है जहाँ कहा गया कि शमीपत्र आदि से श्याम रंग का कार्य करना चहिए - शमीपत्रादिकैः श्यामं .....।[22]

सन्पनोत्सव के क्रम में पूर्वदिशावर्ती नवक में घृतपूर्ण कुम्भ रखना चाहिए जिसमें पलाश, अश्वत्थ, वट, बिल्व, उदुम्बर, प्लक्ष, जम्बू, शमी तथा कपित्थ वृक्ष की छाल का क्वाथ डालना चाहिए -

ऐन्द्रे तु नवके मध्ये घृतपूर्णं घटं न्यसेत्।
पलाशाश्वत्थन्यग्रोधबिल्वोदुम्बरशीरिषाम्॥
जम्बूशमीकपित्थानां त्वक्कषायैर्घटाष्टकम्।[23]

## शमी का माहात्म्य एवं उसका ईश्वरत्व

वैदिक संहिताओं और ब्राह्मणों में ऐसे प्रसङ्ग आते हैं जिनमें कहा गया है कि जब अग्नि सर्वप्रथम पृथिवी पर अपने प्रचण्डरूप में प्रकट हुई तो उस समय देवता लोग भयाक्रान्त हो गए। ऐसी स्थिति को देखकर शमी ने देवताओं के भय को शान्त किया।[24]

शमी की लकड़ी से आग की लपटें हल्की निकलती हैं जिसके कारण यह बहुत तेज एवं शीघ्रातिशीघ्र न जलकर धीरे-धीरे देर तक जलती है।[25]

विजयादशमी को सायंकाल शमीपूजा का विधान शास्त्रों में किया गया है। आश्विनशुक्ल दशमी को श्रवण का सहयोग होने से विजयादशमी होती है। आश्विन शुक्ल दशमी के सायंकाल में तारा उदय होने के समय 'विजयकाल' रहता है। वह सब कामों को सिद्ध करता है। उस दिन प्रातःकाल स्नान करके देवताओं, अस्त्र-शस्त्रादिकों और पूजनीय गुरुजन आदि का यथाविधि पूजन करके अपराह्णकाल में स्वपुर से बाहर ईशानकोण में शमी के समीप जाकर शमी के मूल की भूमि का जल से प्रोक्षण करना चाहिए और पूर्व या उत्तर मुख बैठकर शमी का पूजन करना चाहिए। कहा गया है कि भक्तों को अभय करने वाले शमीयुक्त जगन्नाथ की पूजा करके फिर शमी वृक्ष की पूजा करनी चाहिए। शमीवृक्ष से यह प्रार्थना करनी चाहिए - सम्पूर्ण अमङ्गलों को शान्त करने वाली, समस्त दुष्कृतों को शमन करने वाली, और दुःस्वप्नों का नाश करने वाली धन्य तथा शुभरूपिणी शमी की शरण में मैं प्राप्त होता हूँ। शमी पापों को शान्त करती है, शमी के श्वेतकण्टक हैं, शमी अर्जुन के बाणों को धारण करने वाली और रामचन्द्र की प्रियवादिनी है। रामचन्द्र के द्वारा पूजी हुई हे शमी, यथावसर सुखपूर्वक जो मैं यात्रा करूंगा, उसमें तुम विघ्नों का नाश करो -

अमङ्गलानां शमनीं शमनीं दुष्कृतस्य च।

---

21 शि.पु.रु.सं., 14/31
22 अ.पु., 31/20
23 वही, 69/8-9
24 अ.चि.वि., पृ.379
25 वही, पृ.379

दुःस्वप्ननाशिनीं धन्यां प्रपद्येऽहं शमीं शुभाम् ॥
शमी शमयते पापं शमी लोहितकण्टका ।
धारिण्यर्जुनबाणानां रामस्य प्रियवादिनी ॥
करिष्यमाणयात्रायां यथाकालं सुखं मया ।
तत्र निर्विघ्नकर्त्रीत्वं भव श्रीरामपूजिते ॥[26]

इसके पश्चात् शमी के पत्ते लेकर, उनमें थोड़ी सी मृत्तिका और कुछ तण्डुल तथा सुपारी रखकर कपड़े में बाँध लेना चाहिए और कार्यसिद्धि की कामना से अपने पास रखना चाहिए।[27]

गणेशाराधना में शमीपत्र का महत्त्व गणेशपुराण में बताया गया है। भगवान् गजानन ब्रह्माजी से कहते हैं - आप शमीपत्र की महान् फलप्रद महिमा को सुनिए। न यज्ञों के द्वारा, न दानों से, न सैकड़ों-करोड़ों व्रतों से, न जपों से अथवा न विविध प्रकार के पूजनों से, न कमल पुष्पों के अर्पण से और न अन्य पुष्पों से मुझको वैसी सन्तुष्टि प्राप्त होती है, जैसी कि शमीपत्र को अर्पण करने से होती है। 'शमी' इस नाम के उच्चारणमात्र से ही वाणी द्वारा किया गया समस्त पाप नष्ट हो जाता है। शमी का स्मरण कर लेने से मानस पाप तथा उसका स्पर्श कर लेने से शारीरिक पाप नष्ट हो जाते हैं। शमी का नित्य पूजन करने से, उसका ध्यान करने से तथा श्रद्धाभक्ति से उसका वन्दन करने से निर्विघ्नता, आयुष्य तथा ज्ञान की प्राप्ति होती है और पाप का क्षय भी हो जाता है। समस्त इच्छाओं की पूर्ति हो जाती है और मन की चंचलता दूर हो जाती है, इसमें कोई संशय नहीं है।[28]

पुनः इसी पुराण में आगे कहा गया है कि व्रत, दान, तपस्या, विविध तीर्थों का सेवन, ग्रीष्म में पञ्चाग्निसाधना और हेमन्त ऋतु में जल में निवास करने से वह फल प्राप्त नहीं होता, जो कि शमी पत्रों के द्वारा गणेशजी का पूजन करने से प्राप्त होता है। प्रातःकाल में अथवा तीनों सन्ध्याकालों में जो भगवान् गणेशजी का ध्यान करके भक्तिभावपूर्वक शमी का स्मरण करता है, उसकी वन्दना करता है अथवा पूजन करता है, भगवान् विनायक उस पर प्रसन्न हो जाते हैं, उसे मनोभिलषित पदार्थों को देते हैं और अन्त में मोक्ष प्राप्त करा देते हैं, इसमें कोई संशय नहीं है।[29]

भगवान् गजानन ने कहा है कि जो व्यक्ति मन्दारवृक्ष की जड़ों से मेरी मूर्ति बनाकर उसकी पूजा करेगा और शमीपत्रों के द्वारा तथा दूर्वादलों से मेरा पूजन करेगा, वह मुझे अत्यन्त प्रीति पहुँचायेगा क्योंकि ये तीनों संसार में अत्यन्त दुर्लभ हैं।[30] पुनः भगवान् ने कहा है कि शमीपत्र से की गई पूजा, दूर्वा तथा मन्दार-दोनों से की गई पूजा का फल प्रदान करती है। इसमें विचार की कोई आवश्यकता नहीं है। विविध प्रकार के यज्ञों, विविध प्रकार के तीर्थों के सेवन एवं व्रतों से तथा विविध दानों एवं नियमों के पालन से व्यक्ति वह पुण्य नहीं प्राप्त करता है, जो पुण्यफल शमीपत्रों के द्वारा मेरी पूजा करने से प्राप्त होता है। मैं न तो धन-वैभव से, न सुवर्ण राशियों से, न विविध प्रकार के अन्न के दानों से, न वस्त्रों से, न विविध पुष्पों के अर्पण करने से, न मणिसमूहों से, न मोतियों से वैसा सन्तुष्ट होता हूँ, जैसा कि शमीपत्रों के पूजन से प्रसन्न होता हूँ। जो प्रातःकाल उठकर शमी का दर्शन करता है, उसे प्रणाम करता है और उसका पूजन करता है, वह न तो कष्ट, न रोग, न विघ्न और न बन्धन को प्राप्त होता है। मेरे कृपाप्रसाद से वह स्त्री, पुत्र, धन, पशु, तथा अन्य सभी

---

26 नि.सि., पृ.323-324
27 व्र.प., पृ.123-124
28 ग.पु.-उ./क्री.ख./32/2-6
29 वही 33/55-59
30 वही 35/19

कामनाओं को प्राप्त कर लेता है, मेरी शरण ग्रहण करने से वह अन्त में मुक्ति प्राप्त करता है।[31]

भगवान् गजानन ने यह भी कहा है कि जिसने मुझे शमीपत्र अर्पित कर दिया, उसने मानो सम्पूर्ण भुवन ही दे दिया, उसे सौ भार सुवर्ण दान करने का फल मिलेगा।[32]

शमीपुष्पों से भगवान् शिव की पूजा करने का विधान लिंगपुराण में किया गया है।[33] अन्य पुष्पों और पत्रों के अतिरिक्त शमीपत्र भी भगवान् भास्कर को भी अत्यन्त प्रिय है।[34] सूर्याराधन के क्रम में सहस्र कुशपुष्पों से शमीपत्र की विशेषता अधिक बताई गई है -

कुशपुष्पसहस्रेभ्यः शमीपत्रं विशिष्यते।[35]

नारदपुराण में कहा गया है कि यदि मनुष्य गयाशिरतीर्थ में शमीपत्र के बराबर भी पिण्डदान करता है तो वह जिसके नाम से पिण्डदान करता है, उसे सनातन ब्रह्मपद को पहुँचा देता है।[36]

अग्निपुराण में भी इसका संकेत किया गया है। कहा गया है कि गयाशीर्ष में शमी के पत्ते के बराबर पिण्ड देने से भी नरकों में पड़े हुए पितर स्वर्ग को चले जाते हैं और स्वर्गवासी पितरों को मोक्ष की प्राप्ति होती है -

शमीपत्रप्रमाणेन पिण्डं दत्वा गयाशिरे।
नरकस्था दिवं यान्ति स्वर्गस्था मोक्षमाप्नुयुः ॥[37]

श्रीहरि पूजा में बिल्वपत्रों एवं शमीपत्रों के प्रयोग से परमगति सुलभ होती है -

मुक्तिभागी बिल्वपत्रैः शमीपत्रैः परा गतिः ॥[38]

तैत्तिरीयब्राह्मण में बताया गया है कि प्रजापति ने अग्नि की रचना की, लेकिन वे स्वयं उसकी विनाशकारी शक्ति से भयभीत थे। उन्होंने शमी के पेड़ की डाली से आग का शमन किया। इसलिए, पेड़ को उपयुक्त रूप से शमी नाम दिया गया है। इस वृक्ष के संभार का उपयोग करने से पूजा करने वाला शांत जीवन व्यतीत करता है क्योंकि उसके अग्नि जैसे दुःखों का नाश हो जाता है -

प्रजापतिरग्निमसृजत। सोऽबिभेत्प्रमा धक्ष्यतीति। तं शम्या शमयत्। तच्छम्यै शमित्वम्। तच्छमीमयस्सम्भारो भवति। शान्त्या अप्रदाहाय।[39]

यज्ञ में आवश्यक अग्नि शमी की लकड़ी को पीपल से रगड़ने से उत्पन्न होती है। केवल इस तरह से उत्पन्न अग्नि ही वैदिक संस्कारों के लिए उपयुक्त है -

शमीगर्भादग्निं मन्थति। एषा वा अग्नेर्यज्ञिया तनूः। तामेवास्मै जनयति।[40]

---

31 वही 35
32 वही 37/13
33 लिं.पु.-1/79/17, 1/92/175
34 भ.पु.-ब्रा.प./115/23-29
35 वही 163/61
36 ना.पु.-उ.भा./45/97
37 अ.पु.-115/46-47
38 वही 202/6
39 तै.ब्रा.-1-1-3
40 वही 1-1-9

## यज्ञ और शमी

यज्ञ में पीपल की लकड़ी से उत्तराणि और शमी की लकड़ी से अधराणि बनाकर दोनों को आपस में रगड़कर अग्नि उत्पन्न की जाती थी। इसे प्रकृति एवं पुरुष का प्रतीक माना गया है। इनके संयोग से ही सृष्टि की उत्पत्ति मानी गई है।[41]

## यज्ञ की समिधा के रूप में शमी

शमी को यज्ञीय वृक्ष माना जाता है। मत्स्यपुराण में हवनकार्य में नवग्रहों के निमित्त भिन्न-भिन्न समिधाओं से हवन करने की बात कही गई है। मत्स्यपुराण के अनुसार मन्दार, पलाश, खैर, चिचिड़ा, पीपल, गूलर, शमी, दूब और शमी - ये क्रमशः सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु तथा केतु ग्रहों की समिधाएं हैं -

अर्कः पलाशखदिरावपामार्गोऽथ पिप्पलः।
औदुम्बरः शमी दूर्वा कुशाश्च समिधः क्रमात्॥[42]

अग्निपुराण में भी इसका उल्लेख प्राप्त होता है।[43] भविष्यपुराण में इसे और भी अधिक स्पष्टता के साथ बताया गया है -

दुःस्थान्ग्रहांश्च विज्ञाय ग्रहशान्तिं समाचरेत्।
प्रादेशमात्राः कर्तव्याः समिधोऽथ प्रमाणतः॥
अर्कमय्यो रवेः कार्या पालाश्यः शशिनः स्मृताः।
खादिर्यश्चैव भौमाय अपामार्ग्योऽब्जसूनवे॥
आश्वत्थ्यश्चाथ जीवाय औदुम्बर्यः सिताय च।
असिताय शमीमय्यो दूर्वा कार्यस्तु राहवे॥
केतवे तु कुशाः कार्याः दक्षिणाश्चाप्यतः शृणु।[44]

अर्थात् अरिष्ट स्थान में स्थित ग्रहों को देखकर उनकी शान्ति तो करनी ही चाहिए जिसमें समिधाएं प्रदेशमात्र तर्जनी और अंगूठे के मध्यभाग के समान ही लम्बी होती हैं। उन्हें समेत सूर्य के लिए अर्क (मन्दार), चन्द्रमा के लिए पलाश, मंगल के लिए खैर, बुध के लिए चिचिरा, बृहस्पति के लिए पीपल, शुक्र के लिए गूलर, शनि के लिए शमी, राहु के लिए दूर्वा एवं केतु के लिए कुशा की समिधाओं में हवन करके दक्षिणा देनी चाहिए।

याज्ञवल्क्यस्मृति में इसी बात को बताया गया है। यहाँ यह भी कहा गया है कि एक-एक ग्रह के लिए आठ सौ या अट्ठाइस-अट्ठाइस समिधाएं मधु और घी या दही या दूध से युक्त कर हवन करनी चाहिए।[45]

लिंगपुराण में कहा गया है कि शिवपूजा के क्रम में होम में लगाई जाने वाली लकड़ी शमी या पीपल की होनि चाहिए। ये 16 अंगुल लम्बी होनी चाहिए। इसको साफ करके रखना चाहिए। तत्पश्चात् हृदय मन्त्र से शक्तिन्यास कृत्य पूरा करते हुए और वह्नि बीज मन्त्र को दोहराते हुए अग्नि उत्पन्न करनी चाहिए। यज्ञ की लकड़ियों के टुकड़े लम्बाई में प्रवेश मात्र होने चाहिए। उनको मौन

41 अ.चि.वि.-पृ. 379
42 म.पु.-93/27
43 अ.पु.-167/8
44 भ.पु.-ब्रा.प./56/21-24
45 या.स्मृ.-1/302-303

होकर रखना चाहिए। क्रम से पूर्व दिशा से प्रारम्भ करके आठो दिशाओं में जल के छिड़काव के द्वारा परिसम्मोहन कृत्य किया जाना चाहिए -

शमीपिप्पलसंभूतामरणीं षोडशांगुलाम्।
मथित्वा वह्निबीजेन शक्तिन्यासं हृदैव तु॥
प्रक्षिपेद्विधिना वह्निमन्वाधाय यथाविधिः।
तूष्णीं प्रादेशमात्रैस्तु याज्ञिकैः शकलैः शुभैः॥
परिसम्मोहनं कुर्याज्जलेनाष्टसु दिक्षु वै।
परिस्तीर्य विधानेन प्रागाद्येवमनुक्रमात्॥[46]

## शमी का ज्योतिषीय महत्त्व

शमीवृक्ष से भूमिगत जल का पता लगाने में सहायता मिलती है।[47] बृहत्संहिता में कहा गया है कि जहाँ पर अनेक गाँठों से युक्त शमी वृक्ष हो उसके उत्तर वल्मीक हो तो उस शमी वृक्ष के पश्चिम पाँच हाथ पर पचास पुरुष नीचे जल होता है -

ग्रन्थिप्रचुरा यस्मिन् शमी भवेदुत्तरेण वल्मीकः।
पश्चात् पञ्चकरान्ते शतार्धसंख्यैर्नरैः सलिलम्॥[48]

जहाँ पर पलाश के वृक्ष से युक्त शमी वृक्ष हो वहाँ उन वृक्षों से पश्चिम पाँच हाथ पर साठ पुरुष नीचे जल होता है। यहाँ पर आधा पुरुष नीचे सर्प और उसके नीचे रेत मिली हुई पीली मिट्टी मिलती है -

सपलाशा यत्र शमी पश्चिमभागेऽम्बु मानवैः षष्ट्या।
अर्धनरेऽहिः प्रथमं सबालुका पीतमृत्परतः॥[49]

जहाँ सफेद काँटों से युत शमी वृक्ष हो वहाँ उस वृक्ष से दक्षिण एक हाथ पर पचहत्तर पुरुष नीचे जल रहता है। यहाँ पर खोदने से आधा पुरुष नीचे सर्प होता है -

श्वेता कण्टकबहुला यत्र शमी दक्षिणेन तत्र पयः।
नरपञ्चकसंयुतया सप्तत्याहिर्नरार्धे च॥[50]

बृहत्संहिता में प्रतिमा निर्माण के लिए वर्णानुसार काष्ठों का उल्लेख किया गया है। इसके अनुसार देवदारू, चन्दन, शमी और महुआ ब्राह्मणों के लिए नीम्, पीपल, खैर और बेल क्षत्रियों के लिए, जीवक, खैर, सिंधुक और स्यन्दन वैश्यों के लिए तथा तिन्दुक, नागकेसर, सर्ज, अर्जुन और शाल शूद्रों के लिए शुभदायक हैं -

सुरदारुचन्दनशमीमधूकतरवः शुभाद्विजातीनाम्।
क्षत्रस्यारिष्टाश्वत्थखदिरबिल्वा विवृद्धिकराः॥
वैश्यानां जीवकखदिरसिन्धुकस्यन्दनाश्च शुभफलदाः।
तिन्दुककेसरसर्जार्जुनाम्रशालाश्च शूद्राणाम्॥[51]

46 लिं.पु.-2/25/8-10
47 विश्ववल्लभ-I B/8
48 बृ.सं.-54/81
49 वही 54/83
50 वही 54/85
51 वही 59/5-6

शमी का सम्बन्ध शनि से बताया गया है। विभिन्न रूपों में शमी का प्रयोग शनि ग्रह के प्रतिकूल प्रभावों को दूर कर देता है। अतः कुण्डली में शनि ग्रह अनुकूल स्थान पर स्थापित हो तो इसका प्रयोग सुख, समृद्धि, लम्बी आयु आदि का कारक होता है।

भारतीय परम्परा में ग्रहों एवं नक्षत्रों से सम्बन्धित वृक्षों का विवेचन प्राप्त होता है। नक्षत्रों के वर्णन क्रम में शमी वृक्ष को धनिष्ठा नक्षत्र का वृक्ष बताया गया है। धनिष्ठा नक्षत्र से ही शमी की उत्पत्ति हुई है। अतः धनिष्ठा नक्षत्र में शमी की पूजा करनी चाहिए।[52]

होराचक्र में मकर और कुम्भ लग्न का सम्बन्ध भी शमी से ही है। अतः मकर और कुम्भ लग्न के जातकों को शमी वृक्ष का आरोपण करना चाहिए।[53]

## वास्तु और शमी

शमी उन वृक्षों के समूह में सम्मिलित है जिनसे सुशोभित घर लक्ष्मी का विस्तार करता है -

पुन्नागाशोकबकुलशमीतिलकचम्पकान्।
दाडिमीपिप्पलीद्राक्षास्तथा कुसुममण्डपान्॥
जम्बीरपूगपनससद्रुमकेतकीभिर्जातीसरोजशतपत्रिकमल्लिकाभिः।
बन्नारिकेलकदलीदलपाटलाभिर्युक्तं तदत्र भवनं श्रियमातनोति॥[54]

अर्थात् पुन्नाग, अशोक, मौलसिरी, शमी, तिलक, चम्पा, अनार, पीपली, दाख, अर्जुन, जंबीर, सुपारी, कटहल, केतकी, मालती, कमल, चमेली, मल्लिका, नारियल, केला एवं पाटल इन वृक्षों से सुशोभित घर लक्ष्मी का विस्तार करता है।

बृहत्संहिता में कहा गया है कि कांटेदार वृक्ष के गृह-समीप में रहने से शत्रु भय होता है। दूध वाला वृक्ष गृह समीप में रहने से धन नाश होता है। फल वाले वृक्ष के गृह समीप में रहने से सन्तति का नाश होता है। इनके काष्ठ भी गृह में लगाने से शुभ नहीं होता है। यदि उपर्युक्त कांटेदार आदि वृक्षों को काटकर उनकी जगह पुन्नाग, अशोक, अरिष्ट, वकुल, कटहल, शमी या शाल रोप दिए जाएं तो उपर्युक्त दोष नहीं लगते -

आसन्नाः कण्टकिनो रिपुभयदाः क्षीरिणोऽर्थनाशाय।
फलिनः प्रजाक्षयकरा दारुण्यपि वर्जयेदेषाम्॥
छिन्द्याद्यदि न तरूंस्तान् तदन्तरे पूजितान् वपेदन्यान्।
पुन्नागाशोकारिष्टबकुलपनसान् शमीशालौ॥[55]

वास्तुसारसङ्ग्रह में भी शमी वृक्ष को गृह के समीप शुभ माना गया है।[56] यतः शमी की गणना शुभ वृक्षों में की जाती है, अतः इसका काटना निषिद्ध है।[57]

---

52 बृ.दै.र.-24/122
53 ज्यो.व.- पृ. 109
54 म.पु.-255/23-24
55 बृ.सं.-53/86-87
56 वा.सा.सं.-19/54
57 वही 19/65

## शमी से जुड़ी रोचक कथा

शमी से सम्बद्ध एक रोचक कथा महाभारत में प्राप्त होती है। वैशम्पायन ने जनमेजय को सम्बोधित करते हुए कहा - एक बार शमी के गर्भ में छिप जाने के कारण कहीं अग्नि देव का दर्शन नहीं हो रहा था और सम्पूर्ण जगत् के प्रकाश अथवा दृष्टिशक्ति के विनाश की घड़ी उपस्थित हो गई। तब सब देवता सर्वलोकपितामह ब्रह्माजी कि सेवा में उपस्थित हुए और बोले - 'प्रभो भगवन् अग्निदेव अदृश्य हो गए हैं। इसका क्या कारण है, यह हमारी समझ में नहीं आ रहा। सम्पूर्ण भूतों का विनाश न हो जाए, इसके लिए अग्निदेव को प्रकट कीजिए' -

नष्टो न दृश्यते यत्र शमीगर्भे हुताशनः।
लोकालोकविनाशे च प्रादुर्भूते तदानघ॥
उपतस्थुः सुरा यत्र सर्वलोकपितामहम्।
अग्निः प्रणष्टो भगवान् कारणं च न विद्महे॥
सर्वभूतक्षयो मा भूत् सम्पादय विभोऽनलम्।[58]

इसपर जनमेजय ने वैशम्पायन से कहा - ब्रह्मन् लोकभावन भगवान् अग्नि क्यों अदृश्य हो गए थे और देवताओं ने कैसे उनका पता लगाया? यह यथार्थ रूप से बताइये -

किमर्थं भगवानग्निः प्रणष्टो लोकभावनः।
विज्ञातश्च कथं देवैस्तन्ममावक्ष्य तत्त्वतः॥[59]

इसपर वैशम्पायन ने कहा - राजन् एक समय की बात है कि प्रतापी भगवान् अग्निदेव महर्षि भृगु के शाप से अत्यन्त हो शमी के भीतर अदृश्य हो गए। उस समय अग्निदेव के दिखाई न देने पर इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता बहुत दुःखी हो उनकी खोज करने लगे। तत्पश्चात् अग्नितीर्थ में जाकर देवताओं ने अग्नि को शमी के गर्भ में विधिपूर्वक निवास करते हुए देखा। इन्द्रसहित सब देवता बृहस्पति को आगे करके अग्निदेव के समीप आए और उन्हें देखकर बड़े प्रसन्न हुए। फिर वे जैसे आए थे, वैसे लौट गए और अग्निदेव महर्षि भृगु के शाप से सर्वभक्षी हो गए। उन ब्रह्मवादी मुनि ने जैसा कहा था, वैसा ही हुआ -

भृगोः शापाद् भृशं भीतो जातवेदाः प्रतापवान्।
शमीगर्भमथासाद्य ननाश भगवांस्ततः॥
प्रणष्टे तु तदा वह्नौ देवाः सर्वे सवासवाः।
अन्वैषन्त तदा नष्टं ज्वलनं भृशदुःखिताः॥
ततोऽग्नितीर्थमासाद्य शमीगर्भस्थमेव हि।
ददृशुर्ज्वलनं तत्र वसमानं यथाविधिः॥
देवाः सर्वे नरव्याघ्र बृहस्पतिपुरोगमाः।
ज्वलनं तं समासाद्य प्रीताभूवन् सवासवाः॥
पुनर्यथागतं जग्मुः सर्वभक्षश्च सोऽभवत्।
भृगोः शापान्महाभाग यदुक्तं ब्रह्मवादिना॥[60]

महाभारत में ही शमी से सम्बद्ध एक और रोचक कथा प्राप्त होती है। एक बार जब देवता लोग अग्नि का अन्वेषण कर रहे थे तब वे अश्वत्थ में प्रवेश कर गए। इसके बाद भी देवताओं ने

58 म.भा.-श.प./47/14-16
59 वही 47/16-17
60 वही 47/17-22

अग्निदेव का अनुसरण किया। तब अग्निदेव अश्वत्थ से निकलकर शमी के भीतर जा बैठे। ऐसी स्थिति में एक तोते ने देवताओं को अग्नि का पता बता दिया। इसके बाद तो देवता शमीवृक्ष की ओर दौड़े। यह देख अग्नि ने तोते को शाप दे दिया - तू वाणी से रहित हो जायेगा। अग्निदेव ने उसकी भी जिह्वा उलट दी। अग्निदेव को प्रत्यक्ष देखकर देवताओं ने दयायुक्त होकर शुक से कहा - 'तू शुक-योनि में रहकर अत्यन्त वाणीरहित नहीं होगा कुछ-कुछ बोल सकेगा। जीभ उलट जाने पर भी तेरी बोली बड़ी मधुर एवं कमनीय होगी'। ऐसा कहकर शमी के गर्भ में अग्निदेव का दर्शन करके देवताओं ने सभी कर्मों के लिए शमी को ही अग्नि का पवित्र स्थान नियत किया। तब से अग्निदेव शमी के भीतर दृष्टिगोचर होने लगे -

इत्युक्त्वा तं शमीगर्भे वह्निमालक्ष्य देवताः ॥
तदेवायतनं चक्रुः पुण्यं सर्वक्रियास्वपि।
ततः प्रभृति चाप्यग्निः शमीगर्भेषु दृश्यते ॥[61]

इसके पश्चात् मनुष्यों ने अग्नि को प्रकट करने के लिए शमी का मन्थन ही उपाय जाना -

उत्पादने तथोपायमभिजग्मुश्च मानवाः।[62]

महाभारत में ही विराटनगर में अज्ञातवास करने के क्रम में पाण्डवों द्वारा श्मशान में एक शमीवृक्ष पर अपने अस्त्र-शस्त्र रखने का वर्णन प्राप्त होता है। इस सम्बन्ध में युधिष्ठिर-अर्जुन का संवाद उल्लेखनीय है। जब पाण्डव विराटनगर पहुँचे तो कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर ने अर्जुन से कहा - हम अपने अस्त्र-शस्त्र कहाँ रखकर नगर में प्रवेश करें? यदि अपने आयुधों के साथ हम नगर में प्रवेश करेंगे, तो निःसन्देह यहाँ निवासियों को उद्वेग में डाल देंगे। तुम्हारा गाण्डीव धनुष तो बहुत बड़ा और भारी है। संसार के सब लोगों में उसकी प्रसिद्धि है। ऐसी दशा में यदि हम अस्त्र-शस्त्र लेकर नगर में चलेंगे, तो यहाँ सब लोग हमें शीघ्र ही पहचान लेंगे। इसमें संशय नहीं है। यदि हममें से एक भी पहचान लिया गया, तो हमें दुबारा बारह वर्षों के लिए वन में प्रवेश करना पड़ेगा; क्योंकि हमने ऐसी ही प्रतिज्ञा कर रखी है -

सा राजधानीं सम्प्राप्य कौन्तेयोऽर्जुनमब्रवीत्।
क्वायुधानि समासज्य प्रवेक्ष्यामः पुरं वयम् ॥
सायुधाश्च प्रवेक्ष्यामो वयं तात पुरं यदि।
समुद्वेगं जनस्यास्य करिष्यामो न संशयः ॥
गाण्डीवं च महद् गाढं लोके च विदितं नृणाम्।
तच्चेदायुधमादाय गच्छामो नगरं वयम्।
क्षिप्रमस्मान् विजानीयुर्मनुष्या नात्र संशयः ॥
ततो द्वादश वर्षाणि प्रवेष्टव्यं वने पुनः।
एकस्मिन्नपि विज्ञाते प्रतिज्ञातं हि नस्तथा ॥[63]

इस पर अर्जुन ने कहा कि हे राजन्, श्मशानभूमि के समीप एक टीले पर यह शमी का बहुत बड़ा सघन वृक्ष है। इसकी शाखाएं बड़ी भयानक हैं, इससे इसपर चढ़ना कठिन है। मेरा विश्वास है कि यहाँ कोई ऐसा मनुष्य नहीं है, जो हमें अपने अस्त्र-शस्त्रों को यहाँ रखते समय देख सके। यह वृक्ष रास्ते से बहुत दूर जंगल में है। इसके आसपास हिंसक जीव और सर्प आदि रहते हैं। विशेषतः यह दुर्गम श्मशानभूमि के निकट है। इसलिए इसी शमीवृक्ष पर हम अपने अस्त्र-शस्त्र रखकर नगर में चलें -

---

61 म.भा.-अ.प./85/43-44

62 वही 85/45

63 म.भा.-वि.प./5/9-12

इयं कूटे मनुष्येन्द्र गहना महती शमी।
भीमशाखा दुरारोहा श्मशानस्य समीपतः ॥
न चापि विद्यते कश्चिन्मनुष्य इति मे मतिः।
योऽस्मान् निदधतो द्रष्टा भवेच्छस्त्राणि पाण्डवाः ॥
उत्पथे हि वने जाता मृगव्यालनिषेविते।
समीपे च श्मशानस्य गहनस्य विशेषतः ॥
समाधायायुधं शम्यां गच्छामो नगरं प्रति।[64]

श्रीमद्भागवत महापुराण में भी शमी से सम्बन्धित एक रोचक कथा प्राप्त होती है। चन्द्रवंश के वर्णन के क्रम में बताया गया है कि उर्वशी के मिलने से पुरूरवा को बड़ा सुख मिला और वे एक रात उसी के साथ रहे। प्रातःकाल जब वे विदा होने लगे तब विरह के दुःख से वे अत्यन्त दीन हो गए। उर्वशी ने उनसे कहा - तुम गन्धर्वों की स्तुति करो, ये चाहें तो तुम्हें मुझे दे सकते हैं'। तब राजा पुरूरवा ने गन्धर्वों की स्तुति की। राजा पुरूरवा की स्तुति से प्रसन्न होकर गन्धर्वों ने उन्हें एक अग्निस्थाली (अग्निस्थापन का पात्र) दी। राजा ने समझा यही उर्वशी है, इसीलिए उसको हृदय से लगाकर वे एक वन से दूसरे वन में घूमते रहे। जब उन्हें होश हुआ, तब वे स्थाली को वन में छोड़कर अपने महल में लौट आए एवं रात के समय उर्वशी का ध्यान करते रहे। इस प्रकार जब त्रेता का आरम्भ हुआ, तब उनके हृदय में तीनों वेद उत्पन्न हुए। फिर वे उसी स्थान पर गए, जहाँ उन्होंने वह अग्निस्थली छोड़ी थी। अब उस स्थान पर शमीवृक्ष के गर्भ में एक पीपल का वृक्ष उग आया था, उसे देखकर उन्होंने उससे दो अरणियाँ (मन्थनकाष्ठ) बनायीं। फिर उन्होंने उर्वशी की कामना से नीचे की अरणि को उर्वशी, ऊपर की अरणि को पुरूरवा और बीच के काष्ठ को पुत्ररूप से चिन्तन करते हुए अग्नि प्रज्वलित करने वाले मन्त्रों से मन्थन किया। उनके मन्थन से 'जातवेदा' नाम का अग्नि प्रकट हुआ। राजा पुरूरवा ने अग्निदेवता को त्रयीविद्या के द्वारा आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि इन तीन भागों में विभक्त करके पुत्ररूप से स्वीकार कर लिया। फिर उर्वशीलोक की इच्छा से पुरूरवा ने उन तीनों अग्नियों द्वारा सर्वदेवस्वरूप इन्द्रियातीत यज्ञपति भगवान् श्रीहरि का यजन किया।[65]

## ग्रामसीमा के निर्धारण में शमी का प्रयोग

कौटिलीय अर्थशास्त्र में शमी का उल्लेख उन वनस्पतियों में है जिसका उपयोग ग्रामसीमा निर्धारण में किया जाता है। इसके अनुसार नदी, पहाड़, जंगल, शमी के वृक्ष, बेर के वृक्ष, खाई, तालाब, सेंमल के वृक्ष और बरगद आदि के वृक्ष लगाकर गावों की सीमा निर्धारित करनी चाहिए - 'नदीशैलवनगृष्टिदरीसेतुबन्धशाल्मलीशमीक्षीरवृक्षानन्तेषु सीम्नां स्थापयेत्।[66]

इसी तरह का संकेत मनुस्मृति में भी किया गया है -

गुल्मान्वेणूंश्च विविधाञ्छमीवल्लीस्थलानि च।
शरान्कुब्जगुल्मांश्च तथा सीमा न नश्यति ॥[67]

अर्थात् शाखाहीन जिनमें थोड़े या बहुत कांटे हो ऐसे शमी और बेल अथवा ऊँचे टीलों और शर कुबड़े गुल्मवाले वृक्षों को सीमा के वृक्ष बनाना चाहिए क्योंकि इस प्रकार से सीमा नष्ट नहीं होती।

---

64 वही 5/13-16
65 भा.म.पु.-9/15
66 कौ.अ.-पृ. 93
67 म.स्मृ.-8/247

## प्रलम्भन योग और शमी

प्रलम्भन योग में अन्य वनस्पतियों के साथ शमी का उल्लेख प्राप्त होता है। कौटिलीय अर्थशास्त्र के अनुसार शिरीष, गूलर और शमी इन तीनों के चूर्ण को घी के साथ मिलाकर खाने से एक महीने तक भूख नहीं लगती है - शिरीषोदुम्बरशमीचूर्णं सर्पिषा संहृत्यार्धमासिकक्षुद्योगः।[68]

## शमी का काव्यात्मक विवेचन

## वाल्मीकि रामायण में शमी

वाल्मीकीय रामायण में पञ्चवटी का रमणीय उल्लेख प्राप्त होता है। पञ्चवटी के वनों में अनेक वृक्ष थे। उनमें से एक वृक्ष शमी का भी था -

सालैस्तालैस्तमालैश्च खर्जूरैः पनसैर्द्रुमैः।
नीवारैस्तिनिशैश्चैव पुन्नागैश्चोपशोभिताः॥
चूतैरशोकैस्तिलकैः केतकैरपि चम्पकैः।
पुष्पगुल्मलतोपेतैस्तैस्तैस्तरुभिरावृताः॥
स्यन्दनैश्चन्दनैर्नीपैः पर्णासैर्लकुचैरपि।
धवाश्वकर्णखदिरैः शमीकिंशुकपाटलैः॥[69]

अर्थात् पुष्पों, गुल्मों तथा लता वल्लरियों से युक्त साल, ताल, तमाल, खजूर, कटहल, जलकदम्ब, तिनिश, पुन्नाग, आम, अशोक, तिलक, केवड़ा, चम्पा, स्यन्दन, चन्दन, कदम्ब, पर्णास, लकुच, धव, अश्वकर्ण, खैर, शमी, पलाश और पाटर आदि वृक्षों से घिरे हुए ये पर्वत बड़ी शोभा पा रहे हैं।

पञ्चवटी में श्रीराम की कुटिया बनाने में शमी की शाखाओं का उपयोग किया गया -

पर्णशालां सुविपुलां तत्र संघातमृत्तिकाम्।
सुस्तम्भां मस्करैदीर्घैः कृतवंशां सुशोभनाम्॥
शमीशाखाभिरास्तीर्य दृढपाशावपाशिताम्।
कुशकाशशरैः पर्णैः सुपरिच्छादितां तथा॥
समीकृततलां रम्यां चकार सुमहाबलः।
निवासं राघवस्यार्थे प्रेक्षणीयमनुत्तमम्॥[70]

अर्थात् वह आश्रम एक अत्यन्त विस्तृत पर्णशाला के रूप में बनाया गया था। महाबली लक्ष्मण ने पहले वहाँ मिट्टी एकत्र करके दीवार खड़ी की, फिर उसमें सुन्दर एवं सुदृढ़ खम्भे लगाए। खम्भों के ऊपर बड़े-बड़े बाँस तिरछे करके रखे। बाँसों के रख दिए जाने पर वह कुटी बड़ी सुन्दर दिखाई देने लगी। फिर उन बाँसों पर उन्होंने शमीवृक्ष की शाखाएं फैला दीं और उन्हें मजबूत रस्सियों से कसकर बाँध दिया। इसके पर्णशाला को भलीभाँति छा दिया तथा नीचे की भूमि को बराबर करके उस कुटी को बड़ा रमणीय बना दिया। इस प्रकार लक्ष्मण ने श्रीरामचन्द्रजी के लिए परम उत्तम निवासगृह बना दिया, जो देखने के योग्य था।

---

68 कौ.अ.-पृ.912
69 वा.रा.-3/15/16-18
70 वही 3/15/21-23

## कालिदास के काव्यों में शमी

कविकुलकलाधर महाकवि कालिदास के काव्यों में अनेक स्थलों पर शमी का उल्लेख प्राप्त होता है। इनका उल्लेख आगे किया जा रहा है -

इदं किलव्याजमनोहरं वपुस्तपःक्षमं साधयितुं य इच्छति।
ध्रुवं स नीलोत्पलपत्रधारया शमीलतां छेत्तुमृषिर्व्यवस्यति॥[71]

अर्थात् जो ऋषि स्वभाव से ही सुन्दर इस शकुन्तला के शरीर को तपस्या करने के योग्य बनाना चाहता है वह निश्चय ही नीलकमल के पत्ते की धारा से शमीलता को काटने का प्रयत्न कर रहा है।

यहाँ राजा दुष्यन्त यह कहना चाह रहा है कि शमी वृक्ष की शाखा अत्यन्त कठोर होती है और कमल की पंखुड़ियाँ अत्यन्त कोमल। अतः कमल की पंखुड़ी से जैसे शमी को काटना अविवेकपूर्ण है वैसे ही शकुन्तला से आश्रम का कठोर काम लेना ऋषि का अविवेक है।

दुष्यन्तेनाहितं तेजो दधानां भूतये भुवः।
अवेहि तनयां ब्रह्मन्नग्निगर्भां शमीमिव॥[72]

अर्थात् राजा दुष्यन्त के द्वारा स्थापित तेज को पृथिवी के कल्याण के लिए धारण करने वाली पुत्री को अपने अन्दर अग्नि को धारण करने वाले शमी लता के समान जानो।

यहाँ प्रियंवदा यह कहना चाह रही है कि जिस प्रकार शमी वृक्ष के अन्दर अग्नि रहती है, उसी प्रकार शकुन्तला के गर्भ में तेजोमय जीव विद्यमान है।

हविः शमीपल्लवलाजगन्धी पुण्यः कृशानोरुदियाय धूमः।
कपोलसंसर्पिशशिखः स तस्या मुहूर्तकर्णोत्पलतां प्रपेदे॥[73]

अर्थात् घी, शमी के पत्ते और धान की खीलों की गन्ध से भरा हुआ पवित्र धुआँ अग्नि से निकलकर जब इन्दुमती के कपोल तक जा पहुँचा तब ऐसा जान पड़ा मानो इन्दुमती ने नीले कमल का कर्णफूल पहन रखा हो।

## बाणभट्टसाहित्य में शमी

डॉ. माया त्रिपाठी ने अपनी पुस्तक "कादम्बरी का वानस्पतिक वैभव" में कुश से सम्बन्धित कतिपय सन्दर्भों का उल्लेख किया है जो द्रष्टव्य हैं।[74]

अन्य काव्यों में भी शमी का उल्लेख प्राप्त होता है। जैसे -

भवन्तमेतर्हि मनस्विगर्हिते विवर्तमानं नरदेव वर्त्मनि।
कथं न मन्युर्ज्वलयत्युदीरितः शमीतरुं शुष्कमिवाग्निरुच्छिखः॥[75]

---

71 अ.शा.-1/18
72 वही 4/6
73 र.वं.-7/26
74 का.वा.वै.-पृ. 315
75 कि.-1/26

यहाँ द्रौपदी महाराज युधिष्ठिर को सम्बोधित करते हुए कहती है - हे राजन्, इस विपत्तिकाल में भी वीरजनों द्वारा निन्दित मार्ग पर अर्थात् वनवासादिरूप तपस्विजनोचित मार्ग पर स्थित शत्रुकृत विपत्तियों को सहते हुए आपको उद्दीपित क्रोध उसी प्रकार क्यों नहीं उद्दीप्त करता है जैसे सूखे शमी वृक्ष को उद्गत ज्वालाओं वाली अग्नि जला देती है।

हरिं परित्यज्य नलाभिलाषुका न लज्जसे वा विदुषिब्रुवा कथम्।
उपेक्षितक्षोः करभाच्छमीरतादुरुं वदे त्वां करभोरु भो इति॥[76]

अर्थात् अथवा इन्द्र को छोड़कर नल का अभिलाष करने वाली अपने को विदुषी कहती तुम लज्जित क्यों नहीं होती? हे करभोरु, तुम्हें अब मैं ईखरस की उपेक्षा करने वाले, कटु शमी में रत करभ से उत्कृष्ट कहता हूँ।

## शमी के औषधीय गुण

### भावप्रकाश निघण्टु -

शमी तिक्त, कटु तथा कषाय रसयुक्त, शीतल, रेचक, लघु एवं कफ, कास (खांसी), भ्रमरोग, श्वास, कुष्ठ, अर्श तथा कृमि का नाशक है -

शमी तिक्ता कटुः शीता कषाया रेचनी लघुः।
कफकासभ्रमश्वासकुष्ठार्शःकृमिजित् स्मृता॥[77]

### कैयदेव निघण्टु -

शमी कषाय, कटु एवं तिक्त, रुचिकारक एवं लघु होती है। यह कफ, कुष्ठ, अर्श, श्वास, कास, भ्रम एवं कृमि का नाशक है। शमी का फल मधुर, रूक्ष, उष्णवीर्य, मेध्य, कास को नष्ट करने वाला तथा पित्तवर्धक होता है -

शमी तिक्ता कट्वनुष्णा कषाया रोचनी लघुः॥
निहन्ति कफकुष्ठार्शःश्वासकाभ्रमकृमीन्।
तत्फलं स्वादु रूक्षोष्णं मेध्यं केशघ्नपित्तलम्॥[78]

### मदनपाल निघण्टु -

शमी शीतल और हल्की होती है। इससे श्वास, कुष्ठ, बवाशीर, कफ का विनाशन तथा रेचन होता है। इसका फल पित्तकारक, रूक्ष, बुद्धिवर्धक तथा केशविनाशक होता है -

शमी शीता लघुः श्वासकुष्ठार्शः कफहृत्सरा।
तत्फलं पित्तलं रूक्षं मेध्यं केशविनाशनम्॥[79]

### राजनिघण्टु -

शमी कषाय रस युक्त तथा रूक्ष है और रक्तपित्त एवं अतिसार को दूर करती है। इसका फल तिक्तरस, गुरु, मधु तथा उष्ण होता है और यह केश को नष्ट करता है -

---

76 नै.च.-9/43
77 भा.नि.-वट.व.र्ग/73
78 कै.नि.-ओ.व./1084-85
79 म.नि.-वट.व./64

शमी रूक्षा कषाया च रक्तपित्तातिसारजित्।
तत्फलं तु गुरु स्वादु तिक्तोष्णं केशनाशनम्॥[80]

## धन्वन्तरि निघण्टु -

शमी का फल मधुर, रूक्ष, उष्णवीर्य तथा केशविनाशक होता है - शमीफलं गुरु स्वादु रूक्षोष्णं केशनाशनम्।[81]

## प्रियनिघण्टु -

शमी तिक्त-कषाय, रूक्ष और वातप्रकोपक है। यह कफ, कास, तमकश्वास, कुष्ठ, अर्श और कृमि को दूर करती है -

शमी तिक्ता कषाया स्याद्रूक्षा वातप्रकोपिणी।
कफकासतमश्वासकुष्ठार्शःकृमिनाशिनी॥[82]

## गरुडपुराण -

बरगद, नीम और शमी वृक्ष की छाल के क्वाथ से सेंक करने पर मुख और दाँत की विषवेदना नष्ट हो जाती है -

वटनिम्बशमीनाञ्च वल्कलैः क्वथितं जलम्।
तत्सेकान्मुखदन्तानां नश्येद्वै विषवेदना॥[83]

परवल की पत्ती, कटुकी, मंजीठ, अनन्तमूल, हल्दी, चमेली की पत्ती, नीम की पत्ती और मुलेठी के क्वाथ से सिद्ध घृत का लेप करने से व्रण पीड़ारहित हो जाता है और उसका बहना भी बन्द हो जाता है -

पटोलपत्रं कटुका मञ्जिष्ठा शारिवा निशा।
जातीशमीनिम्बपत्रं मधुकं क्वथितं घृतम्॥
एभिर्लेपात्स्युरजो व्रणा विस्राविणः शिवः।[84]

## चरकसंहिता -

शमीफल पाक में गुरु, उष्णवीर्य, रस में मधुर, रूक्ष तथा केशों का नाश करने वाला है - गुरूष्णं मधुरं रूक्षं केशघ्नं च शमीफलम्।[85]

अर्क के मूल तथा शमी के पत्तों के धूपन से अर्शरोग में लाभ होता है - अर्कमूलं शमीपत्र-मर्शोभ्यो धूपनं हितम्॥[86]

---

80 रा.नि.-शा.व./35
81 ध.नि.-आ.व./87
82 प्रि.नि.-ह.व./167
83 ग.पु.-191/21
84 वहीम 192/31-32
85 च.सं.-सू./27/160
86 च.सं.-चि./14/49

अमलतास की गुद्दी, खैर की लकड़ी, कूठ, शमी की लकड़ी, पिण्डीतक, जौ-इनके विधिवत् क्वाथ से निर्मित अलग-अलग वस्तियों का प्रयोग करने से मल में गाढ़ापन आ जाता है। तात्पर्य यह है कि इस प्रयोग से अतिसार आदि मल सम्बन्धी विकृतियाँ दूर हो जाती हैं।[87]

## सुश्रुतसंहिता -

केले की तथा श्योनाक की भस्म और आल, नमक तथा शमी के बीजों को शीतल जल में पीसकर लगाने से बाल साफ हो जाते हैं -

कदलीदीर्घवृन्ताभ्यां भस्मालं लवणं शमी।
बीजं शीतोदपिष्टं वा रोमशातनमाचरेत्॥[88]

शमी की छाल, अरलु की छाल, तिन्दुक की छाल, अनार की छाल और कुडे की छाल-इनको आमपाचन योग माना जाता है।[89]

## अष्टाङ्गहृदय -

शमी का फल पाक में गुरु, उष्णवीर्य, केशनाशक तथा रूक्ष होता है - शम्या गुरूष्णं केशघ्नं रूक्षम्।[90]

अर्क के जड़ की छाल तथा शमी के पत्ते में घी मिलाकर धूप देने से बवासीर के मस्से सूख जाते हैं।[91]

पूतीकरंज की छाल तथा पत्ते, क्षीरीवृक्षों, बरगद आदि की छाल तथा पत्ते, बबूल का वृक्ष, तुम्बी, इन्द्रायण, सोनापाठा, शमी, बेल और कैथ इन सबकी छालों तथा पत्तों को लेकर पकाना और छान लेना चाहिए। इस जल से रात में बालकों को नहलाना कल्याणकारक होता है -

पूतीकरञ्जत्वक्पत्रं क्षीरिभ्यो बर्बरादपि।
तुम्बीविशालरलुकशमीबिल्वकपित्थः॥
उत्क्वाथ्य तोयं तद्रात्रौ बालानां स्नपनं शिवम्।[92]

नेत्ररोगों में निम्नलिखित योग लाभकारी होता है - ताम्रपात्र में स्त्री का दूध डालकर उसके साथ शंख को घीसना चाहिए। उस घोल को घीयुक्त जौ तथा शमी के पत्तों की धूप देना चाहिए। इसके बाद इस सन्धाव नामक घोल को आँखों में लगाने से शीघ्र ही घर्ष तथा वेदना शान्त हो जाती है -

शङ्खं ताम्रे स्तन्यघृष्टं घृतात्तैः शम्याः पत्रैर्धूपितं तद्यवैश्च।
नेत्रे युक्तं हन्ति सन्धावसंज्ञं क्षिप्रं घर्षं वेदनां चातितीव्रम्॥[93]

गूलर के कच्चे फल को स्त्री के दूध के साथ लौहपात्र में घिसने पर जो घोल प्राप्त हो उसे घी मिले शमीपत्तों की धूप देकर आँखों में लगाने से दाह, शूल, लालिमा, आँसुओं का बहना तथा नेत्रहर्ष ये विकार शान्त हो जाते हैं -

87 च.सं.-सि.स्था./10/30
88 सु.सं.-चि./1/106
89 सु.सं.-उ.त./40/41, 46
90 अ.हृ.-चि./6/130
91 वही /8/18
92 अ.हृ.-उ.स्था./3/59-60
93 वही 16/35

उदुम्बरफलं लोहे घृष्टं स्तन्येन धूपितम्।
साज्यैः शमीच्छदैर्दाहशूलरागाश्रुहर्षजित्॥[94]

कण्टकारी, दालचीनी, मुलेठी, ताम्रभस्म - इन सबको आवश्यकतानुसार लेकर बकरी के दूध के साथ पीस कल्क तैयार कर लेना चाहिए। शमी तथा आँवला के पत्तों में घी चुपड़कर धूप देना चाहिए। यह सन्धाव योग शोथ तथा वेदना को नष्ट करता है -

व्याघ्रीत्वङ्मधुकं ताम्ररजोऽजाक्षीरकल्कितम्।
शम्यामलकपत्राज्यधूपितं शोफरुक्प्रणुत्॥[95]

शमी, मूली तथा सहजन के बीज, जौ एवं राई इन सबको काँजी में पीसकर लेप करने से ग्रन्थि तथा गण्डरोग नष्ट हो जाते हैं -

शमीमूलकशिग्रूणां बीजैः सयवसर्षपैः।
लेपः पिष्टोऽम्लतक्रेण ग्रन्थिगण्डविलायनः॥[96]

## निष्कर्ष

यह कहने में किञ्चित् मात्र भी विचिकित्सा नहीं है कि शमी एक ऐसा पादप है जो भारतीय परम्परा में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। यह एक ओर जहाँ सांस्कृतिक रूप से अपना विशिष्ट स्थान रखता है, वहीं दूसरी ओर चिकित्सकों द्वारा इसका प्रयोग कतिपय रोगों के निवारणार्थ किया जाता है। यज्ञ आदि कार्यों में इसकी उपयोगिता सर्वविदित है। वास्तु की दृष्टि से भी इस वनस्पति की उपयोगिता अत्यधिक है। कवियों ने अपनी काव्यकला को प्रस्फुटित करने के लिए भी शमी का आश्रय लिया है।

## सङ्केताक्षरसूची

| | | | |
|---|---|---|---|
| 1. | अ.पु.- अग्निपुराण | 15. | का.वा.वै.- कादम्बरी का वानस्पतिक वैभव |
| 2. | अ.चि.वि.- अथर्व-चिकित्सा-विज्ञान | 16. | का.कृ.सू.- काश्यपीयकृषिसूक्ति |
| 3. | अ.वे.- अथर्ववेद | 17. | कि.- किरातार्जुनीयम् |
| 4. | अ.प.- अनुशासनपर्व | 18. | कै.नि.- कैयदेव निघण्टु |
| 5. | अ.शा.- अभिज्ञानशाकुन्तलम् | 19. | कौ.अ.- कौटिलीय अर्थशास्त्र |
| 6. | अ.हृ.- अष्टाङ्गहृदय | 20. | ग.पु.- गणेशपुराण |
| 7. | आ.व.- आम्रादिवर्ग | 21. | ग.पु.- गरुडपुराण |
| 8. | उ.त.- उत्तरतन्त्र | 22. | च.सं.- चरकसंहिता |
| 9. | उ.भा.- उत्तरभाग | 23. | चि. - चिकित्सास्थान |
| 10. | उ.स्था.- उत्तरस्थान | 24. | ज्यो.व.- ज्योतिष और वनस्पतियाँ |
| 11. | उ. - उत्तरार्ध | 25. | तै.ब्रा.- तैत्तिरीयब्राह्मण |
| 12. | ऋ.वे.- ऋग्वेद | 26. | द्र.गु.वि.- द्रव्यगुणविज्ञान |
| 13. | ओ.व.- ओषधिवर्ग | 27. | ध.नि.- धन्वन्तरिनिघण्टु |
| 14. | क्रीं.ख.- क्रीडाखण्ड | 28. | ना.पु.- नारद पुराण |

[94] वही 16/37-38
[95] वही 16/43
[96] वही 30/16

29. नि.क.पू.प्र.- नित्यकर्म-पूजाप्रकाश
30. नि.सि. - निर्णयसिन्धु
31. नै.च.- नैषधीयचरितम्
32. प्रि.नि.- प्रियनिघण्टु
33. बृ.सं.- बृहत्संहिता
34. बृ.दै.र.- बृहद्दैवज्ञरञ्जन
35. ब्रा.प. - ब्राह्मपर्व
36. भा.नि.- भावप्रकाश निघण्टु
37. भ.पु.- भविष्यपुराण
38. म.पु.- मत्स्यपुराण
39. म.न.- मदनपाल निघण्टु
40. म.स्मृ.- मनुस्मृति
41. म.भा.- महाभारत
42. य.वे. - यजुर्वेद
43. य.मी.- यज्ञमीमांसा
44. या.स्मृ.- याज्ञवल्क्यस्मृति
45. र.वं.- रघुवंश
46. रा.नि. - राजनिघण्टु
47. रु.सं. - रुद्रसंहिता
48. लिं.पु.- लिंगपुराण
49. वट.व.- वटादिवर्ग
50. व.व.- वनौषधिवर्ग
51. वा.पु. - वामनपुराण
52. वा.सा.सं. - वास्तुसारसङ्ग्रह
53. वि.प.- विराटपर्व
54. वि.व. - विश्ववल्लभ
55. वृ. - वृक्षायुर्वेद
56. व्र.प. - व्रतपरिचय
57. श.ब्रा.- शतपथब्राह्मण
58. श.प. - शल्यपर्व
59. शा.व.- शालमल्यादिवर्ग
60. भा.म.पु. - श्रीमद्भागवतमहापुराण
61. वा.रा. - श्रीमद्वाल्मीकि रामायण
62. शि.पु. - श्रीशिवपुराण
63. स.ना.पु. - संक्षिप्त नारदपुराण
64. सि.स्था. - सिद्धिस्थान
65. सु.सं.- सुश्रुतसंहिता
66. सू. - सूत्रस्थान
67. ह.व. - हरीतक्यादिवर्ग

## सन्दर्भग्रन्थसूची


1. अग्निपुराण, गीताप्रेस, गोरखपुर, वि.स. 2059
2. अथर्ववेद, आचार्य पं. श्रीराम शर्मा एवं भगवती देवी शर्मा (सम्पा.), ब्रह्मवर्चस्, शान्तिकुञ्ज, हरिद्वार, 2002
3. अग्निपुराणम्, आचार्य श्रीबलदेव उपाध्याय (सम्पा.), चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस, वाराणसी, 1966
4. अथर्व-चिकित्सा-विज्ञान, डॉ. हीरालाल विश्वकर्मा, चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 1984
5. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, डॉ. सुधाकर मालवीय (सम्पा. एवं व्या.), चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 2008
6. अष्टाङ्गहृदयम्, डॉ. ब्रह्मानन्द त्रिपाठी (व्या.), चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 2009
7. ऋग्वेद संहिता, श्रीराम शर्मा (टीका.), ब्रह्मवर्चस, हरिद्वार, वि.सं. 2052
8. कल्याण श्रीगणेशपुराणाङ्क, गीताप्रेस, गोरखपुर, 2021
9. कादम्बरी का वानस्पतिक वैभव, डॉ. माया त्रिपाठी, राका प्रकाशन, इलाहाबाद, वि.सं. 2045
10. कालिदास ग्रन्थावली, आचार्य पं. सीताराम चतुर्वेदी, उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ, वि.सं. 2063

11. किरातार्जुनीययम्, आचार्य शेषराज शर्मा रेग्मी (व्या.), चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी, 2007
12. कैयदेवनिघण्टुः, आचार्य प्रियव्रत शर्मा (सम्पा. एवं व्या.), चौखम्बा ओरियन्टालिया, वाराणसी, 2006
13. कौटिलीय-अर्थशास्त्रम्, वाचस्पति गैरोला (व्या.), चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1977
14. गरुडपुराणम्, पण्डित रामतेज पाण्डेय (सम्पा.), चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 2005
15. चरकसंहिता, डॉ. ब्रह्मानन्द त्रिपाठी (व्या.), चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 2010
16. ज्योतिष और वनस्पतियाँ, सत्य प्रकाश द्विवेदी, उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ, 2016
17. द्रव्यगुण-विज्ञान (द्वितीय भाग), आचार्य प्रियव्रत शर्मा, चौखम्भा भारती अकादमी, वाराणसी, वि.सं. 2048
18. धन्वन्तरिनिघण्टुः, पं. हरिहरप्रसाद त्रिपाठी (सम्पा. एवं व्या.), चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 2008
19. नित्यकर्मपूजा-प्रकाश, परमाचार्य पं. श्रीरामभवनजी मिश्र एवं श्री लालबिहारीजी मिश्र, गीताप्रेस, गोरखपुर, वि.सं. 2069
20. निर्णयसिन्धुः, महामहोपाध्याय श्रीव्रजरत्न भट्टाचार्य (अनु.), चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 2009
21. नैषधीयचरितम्, डॉ. देवर्षि सनाढ्य शास्त्री (व्या.), कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 2002
22. बृहत्संहिता, पण्डित श्री अच्युतानन्द झा (व्या.), चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 2009
23. बृहद्दैवज्ञरञ्जनम्, डॉ. मुरलीधर चतुर्वेदी (व्या.), मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 2015
24. भविष्य महापुराण, पण्डित बाबूराम उपाध्याय (अनु.), हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, इलाहाबाद, 2006
25. भावप्रकाशनिघण्टुः, डा. गंगासहाय पाण्डेय (सम्पा.), चौखम्बा भारती अकादमी, वाराणसी, 1999
26. मत्स्यमहापुराण, गीताप्रेस, गोरखपुर, वि.सं. 2061
27. मदनपाल निघण्टु, पं. हरिहरप्रसाद त्रिपाठी (सम्पा. एवं भाष्य.), चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 2009
28. मनुस्मृति, डॉ. प्रवीण प्रलयङ्कर (अनु. एवं व्या.), न्यू भारतीय बुक कार्पोरेशन, दिल्ली, 2004
29. महाभारत, पं. रामनारायणदत्त शास्त्री पाण्डेय (अनु.), गीताप्रेस, गोरखपुर, वि.सं. 2065
30. यजुर्वेद संहिता, श्रीराम शर्मा (टीका.), ब्रह्मवर्चस, हरिद्वार, वि.सं. 2050
31. याज्ञवल्क्यस्मृति, डॉ. गङ्गासागर राय (सम्पा. एवं व्या.), चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 2007
32. राजनिघण्टुः, डॉ. इन्द्रदेव त्रिपाठी (व्या.), चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 2006

33. लिंगमहापुराणम्, पं. द्वारकाप्रसाद मिश्र शास्त्री (सम्पा. एवं अनु.), चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस, वाराणसी, 2008
34. वास्तुसारसङ्ग्रहः, आचार्यश्रीकमलाकान्तशुक्ल (सम्पा.), सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 2002
35. वृक्षायुर्वेदः, डॉ. श्रीकृष्ण जुगनू (सम्पा. एवं व्या.), चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस, वाराणसी, 2010
36. व्रतपरिचय, पं० हनूमान शर्मा, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० 2063
37. शतपथ-ब्राह्मणम्, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली, 2002
38. श्रीमद्भागवतमहापुराणम्, गीताप्रेस, गोरखपुर, वि.स. 2027
39. श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण, गीताप्रेस, गोरखपुर, वि.सं. 2067
40. श्रीवामनपुराण, गीताप्रेस, गोरखपुर, वि.सं. 2059
41. श्रीशिवपुराण, गीताप्रेस, गोरखपुर, वि.सं. 2078
42. संक्षिप्त गरुडपुराण, गीताप्रेस, गोरखपुर, वि.सं. 2067
43. संक्षिप्त नारदपुराण, गीताप्रेस, गोरखपुर, वि.सं. 2066
44. सुश्रुतसंहिता, श्री शम्भूनाथ पाण्डेय शास्त्री (टीका.), कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 1985
45. Kashyapiyakrishisukti (A Treatise on Agriculture by Kashyapa), S. M. Ayachit (Trans.), Asian Agri-History Foundation, Secunderabad, 2002
46. Vishvavallabha (Dear to the World: The Science of Plant Life), Nalini Sadhale (Trans.), Asian Agri-History Foundation, Secunderabad, 2004

❀❀❀

# कातन्त्रव्याकरणम्

शुभङ्करदासः

सारांश

पृथिव्यां यावत्यः भाषाः सन्ति, तासु संस्कृतभाषा अन्यतमा, अत्युत्कृष्टा चेति वाक्यं सर्वैः समाद्रियते। अस्य कारणं तावदेतद् भवति काले काले भाषायाः संरक्षणाय संवर्धनाय च अस्याः उपरि नैके व्याकरणग्रन्थाः ग्रथिताः प्राचीनार्वाचीनैः महर्षिभिः। व्याकरणशब्दस्य व्युत्पत्तिं पश्यामश्चेत् स्पष्टं भवति। व्याक्रियन्ते अर्थात् व्युत्पाद्यन्ते, संस्क्रियन्ते शब्दाः, वर्णाः अक्षराणि, अथवा शुद्धीक्रियन्ते वागिन्द्रियाणि चानेनेति व्याकरणम्। अस्य महत्त्वप्रतिपादनाय वेदकल्पपुरुषस्य मुखत्वेन व्याकरणम् इति प्रोच्यते। विना व्याकरणं कापि भाषा न प्रशस्यते। संस्कृतभाषायाः संस्कृतत्वम् अस्य व्याकरणस्य कारणादेव सञ्जायते। पुरा नव व्याकरणानि आसन् इति श्रूयते, श्रीतत्त्वनिधिनामके प्राचीनवैष्णवग्रन्थे अयमुल्लेखः प्राप्यते –

ऐन्द्रं चान्द्रं काशकृत्स्नं कौमारं शाकटायनम्।
सारस्वतं चापिशलं शाकलं पाणिनीयकम्॥[1] इति

एवमेतेषां नवानां व्याकरणानां नाम प्राप्यते, तत्र ऐन्द्रव्याकरणस्य विषये "तामिन्द्रो मध्यत अपक्रम्य व्याकरोत्। तस्मादिदं व्याकृता वाग् उद्यते इति।"[2] इति वाक्यं प्रवर्तते तस्यास्तित्वस्य प्रमाणाय। तथैव चान्द्रव्याकरणं "चान्द्रास्तु आत्मोदरकुक्षिष्विति पेठुः" इति प्रतीतवचनेन अस्माभिरूहितुं शक्यते। काशकृत्स्नव्याकरणविषये तु "शताच्च ठन्यतावशते"[3] इति सूत्रभाष्ये पतञ्जलिमुनिः नाम्ना निर्देशं करोति तदेव प्रमाणं भवति तस्यास्तित्वे। अग्निपुराणे कौमारव्याकरणस्योल्लेखः प्राप्यते। किञ्च शाकटायनव्याकरणं सारस्वतव्याकरणम् इदानीन्तनकालेऽपि मुद्रापिततया लभ्यते एव। शाकटायनाचार्यस्य नाम तु पाणिनीयसूत्रेषु बहुत्र दृश्यते, यथा - "लङः शाकटायनस्य"[4], "त्रिप्रभृतिषु शाकटायनस्य"[5], "व्योर्लघुप्रयत्नतरः शाकटायनस्य"[6] इति। "लोपः शाकल्यस्य"[7], "सर्वत्र शाकल्यस्य"[8], "सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे"[9] इत्यादिपाणिनीयसूत्रेषु शाकल्यमुनेरुल्लेखस्तु प्राप्यते एव। एवञ्च आपिशलर्षेः उल्लेखोपि पाणिनिविरचितायाम् अष्टाध्याय्यां लभ्यते। एतानि विहाय अपि जैनेन्द्राशुबोधमुग्धवोधकातन्त्राख्यानि प्राचीनव्याकरणानि अस्मिन्काले समुपलभ्यन्ते। यद्यपि एतेषु व्याकरणेषु पाणिनीयं व्याकरणं श्रेष्ठतमं सर्वजनविदितं च वर्तते तथापि कातन्त्रादिव्याकरणमपि सुप्रथितं वर्तते एव।

(कूटशब्दाः – व्याकरणम्, अष्टाध्यायी, कातन्त्रव्याकरणम्, सूत्रम्)

.....

## कातन्त्रव्याकरणस्य रचनाविषये प्रसिद्धा कथा

कातन्त्रव्याकरणस्य रचनाविषये काचित् कथा श्रूयते कथासरित्सागराख्ये ग्रन्थे, पुरा कश्चन उज्जयिनीपतिः सातवाहनाख्यः[10] राजा बभूव। स संस्कृतज्ञः नासीत्, एकदा राजा तस्य महिष्याः सह जलक्रीडायां मग्नः आसन्, तदा काचित् विदुषी महिषी नृपतिम् अवोचत् "मोदकं देहि, देव"[11] इति श्रुत्वा राजा अज्ञानवशात् मोदकम् अर्थात् मिष्टान्नविशेषं आनयितुं निरदिशत्। राज्ञः एतत् मौर्ख्यं कार्यं

---

1 तत्वनिधिरित्याख्यः वैष्णवग्रन्थः

2 तैत्ति.सं., ६/४/७

3 अष्टा.- 5.1.21

4 वही 3.4.111

5 वही 8.4.50

6 वही 8.3.18

7 वही 8.3.19

8 वही 8.4.51

9 वही 1.1.16

10 शिष्यहितन्यासाख्यपुस्तके तु आन्ध्रप्रदेशीयः कश्चन राजा शर्ववर्माख्यः आसीदिति व्याख्यातम्

11 "मोदकैर्देव परिताडय इति उग्रभूतेः शिष्यहितन्यासग्रन्थस्य भूमिकाभागे"

दृष्ट्वा महिष्या उक्तं मोदकं नात्र विवक्षितं मा उदकम् अर्थात् जलं न प्रक्षिप्यताम् इति मया विवक्षितम्। तदा स क्षुण्णः राजा स्वमन्त्रिणं शर्ववर्माख्यं प्रति वृत्तान्तं वदति स्म। शर्ववर्मा च गतरात्रौ दृष्टं स्वप्नं राज्ञे अश्रावयत् यत् सः कश्चन शिष्यं प्रति व्याकरणं पाठयति स्म तदा स्वर्गात् कमलपुष्पं पतति तत्कमलं केनचित् कुमारेण प्रस्फुटितं ततश्च पुष्पात् काचित् देवी बहिरागता शिष्यस्य मुखे प्रविष्टा च। सा देवी एव माता सरस्वती सर्ववाङ्मयीभूता, स कुमारश्च शिवसुतः कार्तिकेयः। किञ्च स शिष्यः राजा सातवाहन एव आसीत्। तच्छ्रुत्वा राजा प्रफुल्लितः सन् पृच्छति स्म शर्ववर्मणं प्रति कथं व्याकरणं शिक्षै। तदा शर्ववर्मा राजानं वदति यद् षण्मासेभ्यः सहजतया स तं व्याकरणम् अध्यापयति। तदर्थं शर्ववर्मा कार्तिकेयं प्रार्थयन् तपस्यां कुरुते स्म। कार्तिकेयः प्रसन्नः सन् आविर्भूय वरं प्रादात् उच्चारयामास च सिद्धो वर्णसमाम्नायः इति सूत्रम्, तच्छ्रुत्वा शर्ववर्मणा अपि उच्चार्यते तत्र चतुर्दशादौ स्वराः इति सूत्रम्। तदा कार्तिकेयः क्रुद्धः सन् अकथयत् भवता सूत्रमुच्चार्य मम कार्ये विघ्न उत्पादितः नोचेत् मन्मुखात् निर्गतं व्याकरणमिदं पाणिनीयादीतरव्याकरणेभ्योऽपि प्रसिद्धः बृहत्तमः स्यात्। ततश्च अश्रावयत् एतेनैव तव इष्टसिद्धिः भवेत्, स्वल्पकायं चेदं व्याकरणं पाणिनीयव्याकरणात् परं द्वितीयं स्थानं प्राप्नुयात्। किञ्च लघुकायत्वात् व्याकरणमिदं कातन्त्रव्याकरणनाम्ना, कार्तिकेयप्रसादात् लब्धमतः तद्वाहनमयूरस्य पुच्छनाम्ना अर्थात् कालापकनाम्ना अपि प्रसिद्ध्यते इत्येवं लोककथा प्रचलति कथासरित्सागरे च उपन्यस्ता –

अथासौ भगवान् साक्षात् षड्भिराननपङ्कजैः।
सिद्धो वर्णसमाम्नाय इति सूत्रमुदैरयत्॥
तच्छ्रुत्वैव मनुष्यत्वसुलभाच्चापलाद्वत।
उत्तरं सूत्रमप्यूह्य स्वयमेव मयोदितम्॥
अथाब्रवीत् स मां देवो नावदिष्यः स्वयं यदि।
अभविष्यदिदं शास्त्रं पाणिनीयोपमर्दकम्॥
अधुना स्वल्पतन्त्रत्वात् कातन्त्राख्यं भविष्यति।
मद्वाहनकलापस्य नाम्ना कालापकं तथा॥[12]

## कातन्त्रव्याकरणस्य अपरनामानि

कातन्त्रव्याकरणं अनेकैः स्रोतोभिः उपलब्धं तस्मात् तस्य अनेकनामानि प्राप्यन्ते। तदत्र आलोचयामः –

1. **कातन्त्रम्**
   पुराकाले व्याकरणस्य कश्चित् दीर्घकायः ग्रन्थः आसीद् तदनु शर्ववर्मणा एषः लघुकायग्रन्थः विरचितः अत एव कातन्त्रम् इति नाम जातमस्य। तन्त्र्यन्ते शब्दाः अनेन इत्यर्थे तन्त्रम् इति शब्दो निष्पन्नः, कु अर्थाद् ईषद् तन्त्रम् इति कातन्त्रम्, अत्र "का त्वीषदर्थेऽक्ष"[13] इति सूत्रेण कुशब्दस्य कादेशो भवति। तस्मात् कातन्त्रं नाम संक्षिप्तम् इति। अथवा पाणिनीयव्याकरणापेक्षया अस्मिन् व्याकरणे सूत्राणां न्यूनत्वात् तदपेक्षया संक्षिप्तमिति हेतोः कातन्त्रम् इति नाम यथार्थं भाति। सुकुमारमतीनां सहजतया व्याकरणज्ञानं यथा स्यात् तदर्थं विरचितमिदं कातन्त्रव्याकरणम् इति केषाञ्चिन्मतम्।
2. **कालापकम्**
   कातन्त्रव्याकरणस्य अधुनातनकाले तु कालापकम् अथवा कलापकम् इत्यपि नाम श्रूयते। अस्य प्रधानं कारणं तावत् वङ्गलिप्यां लिखितं दुर्गादिवृत्तिसहितकातन्त्रव्याकरणं कालापकनाम्ना क्वचिच्च कलापकनाम्ना प्राप्तं तस्य च अष्टादशशकाब्दात् प्रागेव अष्टौ संस्करणानि

[12] कथा.- श्लोकाः 10-13

[13] का.सू.- 2.5.25

प्रकाशितानि। ततः अस्य कलापकं कालापकम् नाम जातम्। अत्र कथासरित्सागरानुसारेण कार्तिकेयप्रसादलब्धत्वात् तस्य वाहनमयूरपुच्छस्य अर्थात् कलापस्य इदं व्याकरणम् इति श्रूयमानत्वादस्य कलापकम् नाम जातम् इत्यपि उच्यते कैश्चित् विद्वद्भिः।

भगवद्दत्तस्य[14] मते तु काशकृत्स्नव्याकरणस्य अपरं नाम शब्दकलापम्, तस्य संक्षेपरूपतया अस्य कातन्त्रव्याकरणस्य कलापकव्याकरणं नाम जातम्।

"सूत्राच्च कोपधात्"[15] इति सूत्रभाष्ये भाष्यकारेणापि कालापकशब्दस्योल्लेखः कृतः, परन्तु तत्र संशयोऽस्ति कालापकशब्दः वैदिकवाङ्मयस्य विषये उत व्याकरणविषये चर्चितम् इति। तस्मिन्नेव सूत्रस्य भाष्यव्याख्यानावसरे उद्योतकारेण भणितं कलापिना प्रोक्तमधीते इति कलापाः तेषामाम्नायः कालापकम् इति। तेन अस्य व्याकरणस्य कलापिप्रोक्तत्वं सूच्यते। जैनमते कलापी नाम मयूरः तस्मात् कथासरित्सागरानुसारेण तत् संगतं भवति। दक्षिणभारतस्य कस्यचित् विदुषः मतं वर्तते यत् कलापी नाम शिवः तेन शिवप्रसादात् लब्धं व्याकरणमिदमित्यपि सूच्यते।

3. **कौमारम्**

कातन्त्रव्याकरणस्य वाङ्मये कातन्त्रव्याकरणस्य स्थाने कौमारव्याकरणम् इत्यपि प्रयोगः दृश्यते। अस्य कौमारव्याकरणम् इति नाम तु शिवपुत्रस्य कुमारकार्तिकेयस्य अनुकम्पया लब्धत्वात् जातम् इत्यत्र न कस्यापि संशयः।

केषाञ्चन मतमस्ति कुमाराणाम् अर्थात् बालकानां कृते व्याकरणमिदम् इत्यतः अस्य व्याकरणस्य कौमारव्याकरणं नाम अभूत्।

आङ् मर्यादाभिविध्योः, आङ् मर्यादावचने इति पाणिनीयसूत्रयोः व्याख्यानावसरे काशिकायां महाभाष्ये च आकुमारं यशः पाणिनेः इत्युदाहरणम् उपस्थापितम्, तेन ज्ञायते यत् पुरा कुमाराख्यः कश्चन महान् वैयाकरणः प्रसिद्धः आसीत् तस्यैव कृतिरूपेण व्याकरणमिदं लभ्यते इति कैश्चित् विद्वद्भिः उद्घोष्यते।

किञ्च कुमार्याः ब्राह्म्याः सरस्वत्याः आगतं कौमारम् इति व्युत्पत्तिं स्वीकृत्य अस्य कौमारव्याकरणं नाम जातम् इत्यपि मतं प्रचलितं वर्तते अस्मिन् विषये।

जैनानां मतानुसारेण कुमारः नाम ऋषभदेवः, तेन विरचितं व्याकरणं कौमारव्याकरणम् इति। परन्तु मतमिदं कैश्चित् खण्डितं किञ्च विचारणीयं वर्तते।

मध्येशियायां कस्मिंश्चित् स्थले कातन्त्रव्याकरणस्य जीर्णा काचन प्रतिलिपिः प्राप्ता, तस्यां पुष्पिकाद्वये कुमारलातस्य नाम प्राप्यते, अत एव कुमारलातेन विरचितमिदं व्याकरणं कौमारनाम्ना प्रसिद्धम् इत्यपि मतं श्रूयते।

एतद्विहाय अपि कातन्त्रव्याकरणस्य काशकृत्स्नव्याकरणम्, ऐन्द्रव्याकरणम् इत्यपि नाम अस्ति इति केचन मन्यन्ते।

## कातन्त्रव्याकरणस्य वैशिष्ट्यम्

कातन्त्रव्याकरणस्य प्रधानवैशिष्ट्यं भवति पाणिनीयादिव्याकरणापेक्षया लघुत्वम्। चतुःसहस्रसूत्रात्मकं पाणिनिकृतं व्याकरणं सूत्रभाष्यवार्तिकद्वारा निबद्धम् अस्ति। तत् मन्दमतीनां कृते किञ्चित् क्लेशकरं भवति। तस्मात् सुकुमारमतीनां स्वल्पायासेन संस्कृत-भाषाज्ञानार्थं कृतमिदं

14 व्याकरणशास्त्रेतिहासः, वैदिकयन्त्रालयः, अजमेरप्रकाशनम्

15 अष्टा.- 4.2.65

कातन्त्रव्याकरणम्। शर्ववर्मणा कृतेऽस्मिन् व्याकरणे सन्धिनामाख्याताभिधं प्रकरणत्रयम् आसीत् परं केनचित् कृदाख्यं प्रकरणं संयोजितम्। अस्मिन् प्रकरणचतुष्टये पादव्यवस्था समाना नास्ति यथा अष्टाध्याय्यां दृश्यते। सन्ध्याख्ये प्रथमे प्रकरणे पञ्च पादाः, नामाख्ये द्वितीये प्रकरणे षट् पादाः, आख्यातप्रकरणे अष्टौ पादाः, कृदाख्येऽन्तिमे प्रकरणे षट् पादाः सन्ति[16]। एवं पाणिनीयव्याकरणमेव संक्षिप्य स्वल्पमतीनां राजपुत्रादीनां संस्कृतभाषाज्ञानप्रदानाय शर्ववर्मणा सुग्रथितं कातन्त्राख्यं व्याकरणम्।

## कातन्त्रव्याकरणस्य प्रणेता रचनाकालश्च

अस्य कातन्त्राख्यव्याकरणस्य प्रणेतृरूपेण आचार्यशर्ववर्मणः नाम प्राप्यते। कथा-सरित्सागरोक्तश्लोकानुसारेण अयं विद्वान् आन्ध्रप्रदेशीयस्य सातवाहनाख्यस्य राज्ञः मन्त्री गुणाढ्य-समकालिकश्च आसीत् इति ज्ञायते। भावसेनात्रैविद्याख्यः कश्चन पण्डितः स्वकीये कातन्त्ररुपमाला-नामके ग्रन्थे लिखति श्रीमच्छर्ववर्मजैनाचार्यप्रणीतं कातन्त्रव्याकरणम्[17] इति तेन असौ जैनधर्मीयः कश्चन वैयाकरणः आसीदिति ज्ञायते।

संस्कृतसाहित्ये कातन्त्रव्याकरणस्य रचनाकालविषये तथा प्रत्यक्षप्रमाणं न प्रदत्तं कैश्चिदपि। तथापि केचन विद्वांसः प्रयासं विहितवन्तः। यथा पूर्वं कथितम् आन्ध्रप्रदेशीयस्य राज्ञः सातवाहनस्य संस्कृतज्ञानप्रदानाय शर्ववर्मणा विरचितं, तत्र पाश्चात्त्यपण्डितस्य ए. स्मिथमहोदयस्य मते राज्ञः सातवाहनस्य कालः ईशवीयप्रथमशतकम् आसीत्। तस्मात् शर्ववर्मणः अपि स एव कालः इति वदन्ति केचन विद्वांसः।

भगवद्दत्तस्तु शूद्रकविरचिते प्राभृतकभाणाख्ये पद्ये कातन्त्रशब्दः उल्लिखितः[18], तेन शूद्र-कसमकालिकः सातवाहनः इति कृत्वा कातन्त्रव्याकरणस्य रचना विक्रमात् पञ्चशतकात् पूर्वं जातेति वदति।

महाभाष्ये कलापशब्दः उदाहृतः इत्यतः महाभाष्यात् पूर्वमेव कातन्त्रव्याकरणस्य आवि-र्भावः जातः इति पण्डितयुधिष्ठिरमीमांसकाः वदन्ति, तन्मते कातन्त्रव्याकरणस्य रचनाकालः विक्र-मात् 1500 वर्षः प्रागेव इति।

अद्यावधि प्राप्तासु कातन्त्रव्याकरणस्य वृत्तिषु दुर्गासिंहवृत्तिरेव प्राचीना इति सिद्धान्तितं, तस्मात् तदाधारीकृत्य कातन्त्रव्याकरणस्य रचनाकालः ईशा प्रथमशतकमेव ग्रहणयोग्यं भाति सर्वेषाम्।

## कातन्त्रव्याकरणस्य संस्करणद्वयम्

प्राचीनकाले भारते तिब्बतलङ्काप्रभृतिस्थलेषु यद्यपि कातन्त्रव्याकरणस्य न्यूनाधिक्येन प्रचलनम् आसीत् तथापि भारतस्य स्थलद्वये अस्य विशेषेण समृद्धिः जाता। प्रथमतः बङ्गप्रदेशे अस्य विस्तारः सम्यग्रूपेण जातः, किञ्च काश्मीरप्रदेशे अस्य विकासः परिलक्षितः तस्मात् अधुना अस्य व्याकरणस्य बङ्गप्रदेशीयं, काश्मीरप्रदेशीयमिति संस्करणद्वयम् उपलभ्यते। तयोः संक्षेपेण आलोचनं अधः क्रियते -

---

16 दुर्गासिंहकृतवर्गीकरणम्

17 भावसेनत्रैविद्यविरचिते कातन्त्ररूपमालाग्रन्थे

18 एषोऽस्मि बलिभुग्भिरिव संघातवलिभिः कातन्त्रिकैरिवावस्कन्दित इति।
हन्तप्रवृत्तं काकोलूकम्, सखे दिष्ट्या त्वामलूनपक्षं पश्यामि।
किं ब्रवीषि का चेदानीं मम वैयाकरण-पारशवेषु कातन्त्रिकेष्वास्था॥ इति शुद्रकविरचिते प्राभृतकभाणे

## क. बङ्गप्रदेशीयसंस्करणम्

बङ्गदेशे अस्य व्याकरणस्य प्रसारः कदा आरब्धः इति प्रश्नस्य उत्तरं तु इदमित्थं प्रकारेण न निर्णीतम् अधुनापि। परन्तु इदं वक्तुं शक्यते यत् बहुप्राचीनकालादेव बङ्गे कातन्त्रव्याकरणस्य प्रसारः जातः। अस्य प्रमाणं तावत् प्राप्यते कातन्त्रव्याकरणस्य विभिन्नेषु व्याख्यानग्रन्थेषु एव। अष्टादशशतकस्योत्तरार्धे डॉ० जुलियास-इंग्लिगमहोदयेन, किञ्च एशियाटिकसोसाईटि आफ बेङ्गल इति संस्थया बङ्गदेशे कातन्त्रव्याकरणस्य सर्वप्रथमं देवनागरीलिप्यां प्रकाशनं जातम्। तदनु बङ्गलिप्याम् अनेकटीकासहितं कातन्त्रव्याकरणं गुरुनाथविद्यानिधिभट्टाचार्येण कलापव्याकरणनाम्ना प्रकाशितम्। एवम्प्रकारेण बङ्गप्रदेशे अष्टादशशतके एव कातन्त्रव्याकरणस्य दुर्गवृत्त्याद्यनेकटीकासहितस्य बङ्गलिप्याम् अष्टौ संस्करणानि प्रकाशितानि, एतेनैव ज्ञायते बङ्गप्रदेशे अस्य कियान् प्रसारः आसीत्। कविराजः, गोपीनाथतर्काचार्यः, श्रीपतिः, त्रिलोचनः इत्यादयः बङ्गदेशीयाः कातन्त्रव्याकरणस्योपासकाः प्राप्यन्ते।

## ख. काश्मीरप्रदेशीयसंस्करणम्

प्राचीनकालादेव भारतीयसंस्कृतेः शिक्षणस्य प्रमुखकेन्द्ररूपेण काश्मीरप्रदेशः अग्रगण्यः अस्ति। तस्मादेव इह पाणिनीयव्याकरणेन सह कातन्त्रव्याकरणस्यापि प्रसारः सम्यक् जातः। अत्र कातन्त्रव्याकरणस्य अस्तित्वे सर्वप्रथमं प्रमाणं प्राप्यते अल्बेरूनेः अल्बेरूनीज इण्डिया इत्याख्ये ग्रन्थे। अस्मिन् ग्रन्थे उग्रभूतिभट्टविरचितशिष्यहितवृत्तेः पाठाभ्यासः उल्लिखितः। उग्रभूतेः अपरः कश्चन ग्रन्थः शिष्यलोकन्यासाख्यः काश्मीरसंस्करणे गण्यते। तद्विहाय जगद्धरभट्टस्य बालबोधिनीवृत्तिः, तदुपरि न्यासग्रन्थः, छुछुकभट्टविरचितः वृत्तिग्रन्थश्च अस्मिन् संस्करणे बाहुल्येन कातन्त्रव्याकरणस्य प्रचारे सहायकाः जाताः। उग्रभूतेः कालानुसारेण वक्तुं शक्यते प्रायः दशमशतके काश्मीरप्रदेशे कातन्त्रव्याकरणस्य प्रसारः जातः इति।

## पाणिनीयकातन्त्रव्याकरणयोः भेदस्थलानि

पाणिनीयव्याकरणं कातन्त्रव्याकरणं च विचार्यते चेत् अनयोः परस्परभेदः प्राप्यते, तस्य स्वरूपगतेन तथ्यगतेन च विभागः कर्तुं शक्यते। तदधः पश्यामः –

**अ. स्वरूपगतभेदाः**

1. पाणिनिकृतव्याकरणे प्रायः चतुःसहस्रसंख्यकानि सूत्राणि सन्ति, शर्ववर्मकृतकातन्त्रव्याकरणे तु चतुर्दशशतसंख्यकानि सूत्राणि प्राप्यन्ते।
2. पाणिनीयकृतः अष्टाध्यायीग्रन्थः अध्यायचतुष्टयेन विभक्तः, तत्रापि प्रत्येकम् अध्याये चत्वारः पादाः सन्ति। कातन्त्रव्याकरणे सन्धिनामाख्यातकृदाख्यानि चत्वारि प्रकरणानि सन्ति, तत्र प्रत्येकं प्रकरणे पादसंख्या न समाना।
3. पाणिनीयव्याकरणस्य आधारभूतः अष्टाध्यायीग्रन्थः एकेनैव लेखकेन लिखितः, परन्तु कातन्त्रव्याकरणस्य सन्धिनामाख्यातानि इत्येतानि त्रीणि प्रकरणानि शर्ववर्मणा प्रणीतानि, अन्तिमं कृदाख्यप्रकरणं तु वररुचिना अथवा केनचित् अन्येन परं योजितम् इति श्रूयते।
4. पाणिनीयव्याकरणं तु शिवप्रसादात् पाणिनिना प्राप्तम्[19] इति श्रूयते। परन्तु कातन्त्रव्याकरणं शिवपुत्रेण कार्तिकेयेन शर्ववर्मणे प्रदत्तम् इति श्रुयते।

---

19 नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नव पञ्चवारं।
उद्धर्तुकामः सनकादिशिष्यान् एतद्विमर्शे शिवसूत्रजालम्॥ इति नन्दीश्वरकृतवृत्तौ

**आ. तथ्यगतभेदाः**

पाणिनीयव्याकरणकातन्त्रव्याकरणयोः प्रयोजनात्मकभेदः दृश्यते। पाणिनीयव्याकरणं तु रक्षोहागमलघ्वसंदेहाः प्रयोजनम्[20] इत्यादिना वेदानां रक्षार्थमेव विरचितमत एवात्र वैदिकलौकिकोभयविधशब्दानाम् अन्वाख्यानं विहितम्। परन्तु कातन्त्रव्याकरणस्य रचनायां मुख्यमुद्देश्यमासीत् राज्ञः सातवाहनस्य सहजतया लौकिकसंस्कृतभाषायाः ज्ञानप्रदानमेव अथवा इदं वक्तुं शक्यते सामान्यजनानां संस्कृतभाषाशिक्षणमेव अस्य व्याकरणस्य मुख्यं प्रयोजनम्। तस्मादेव अत्र वैदिकशब्दानां ज्ञानं नासीत् परम् इष्ट्यादिरूपेण कैश्चित् योजितम्। अथ च केचन बिन्दवः अधः उल्लिख्यन्ते -

1. पाणिनीयव्याकरणे वर्णलाघवाय प्रत्याहारशैली यथा दृश्यते अस्मिन् कातन्त्रव्याकरणे तथा न परिलक्ष्यते परन्तु तत्तत्स्थाने वर्णाः एव उल्लिखिताः दृश्यन्ते।
2. पाणिनीयव्याकरणे यथा - अ + इ = ए, अ + उ = ओ, अ + ऋ = अर्, अ + लृ = अल् इत्यादिसन्धिकरणाय "आद् गुणः"[21], "उरण रपरः"[22] इत्यादिव्यवस्था कृता, परन्तु कातन्त्रव्याकरणे "अवर्ण इवर्णे ए"[23], "उवर्णे ओ"[24], "ऋवर्णे अर्"[25], "लृवर्णे अल्"[26] इत्यादिसूत्रेण व्यवस्था कृता वर्तते।
3. तथैव पाणिनीयव्याकरणे अयादिसन्धिविधानाय एचोऽयवायावः[27] इति सूत्रं कृतं, परन्तु कातन्त्रव्याकरणे तु ए अय्[28], ओ अव्[29], ऐ आय्[30], औ आव्[31] इति पृथक्तया चत्वारि सूत्राणि कृतानि।
4. एतदतिरिच्य अपि अनयोः व्याकरणयोः प्रयुक्तसंज्ञानां धातूनां च भेदाः दृश्यन्ते। पाणिनीये यथा प्रातिपदिकसंज्ञा वर्तते, तथा अत्र कातन्त्रे लिङ्गसंज्ञा कृता। पाणिनीये यथा भ्वाद्यदादिदशगणाः प्रोक्ताः अत्र तु अवान्तरगणाः उद्भाविताः।

एवमनयोः पाणिनीयकातन्त्रव्याकरणयोः भेदाः समालोचिताः।

## कातन्त्रव्याकरणस्य कतिपयग्रन्थाः

विंशतिशतकस्य पूर्वभागपर्यन्तं भारतवर्षे कातन्त्रव्याकरणस्य पठनं बाहुल्येन आसीत्, तत्रापि विशेषतः बङ्गप्रदेशे, काश्मीरप्रदेशे च। अत एव अस्य काश्मीरशाखा, बङ्गशाखा च भेदः जातः। बङ्गशाखायां कातन्त्रव्याकरणस्य बङ्गलिप्यां देवनागर्यां वा ग्रन्थाः प्राप्ताः अतः तेषां वर्तमानकाले प्रकाशनं जातं परन्तु काश्मीरशाखायाः केचन गन्थाः शारदालिप्यां प्राप्ताः तस्मात् तेषां सर्वेषां प्रकाशनं तथा न जातं, तदुपरि च कार्यम् अधुना प्रचल्यमानं वर्तते इति श्रूयते। भारतस्य दक्षिणप्रान्ते मध्यभागे च अस्य व्याकरणस्य पाठः आसीत् ततः अपि ग्रन्थाः प्राप्यन्ते। कातन्त्रव्याकरणस्य प्रसिद्धाः ग्रन्थाः अधः उल्लिख्यन्ते -

---

20 पतञ्जलिविरचिते महाभाष्ये

21 अष्टा.- 6.1.87

22 वही 1.1.51

23 का.सू.- 1.2.2

24 वही 1.2.3

25 वही 1.2.4

26 वही 1.2.5

27 अष्टा.- 6.1.78

28 का.सू.- 1.2.12

29 वही 1.2.13

30 वही 1.2.14

31 वही 1.2.15

**काश्मीरशाखायां प्राप्तग्रन्थाः** - काश्मीरसंस्करणे ये ग्रन्थाः प्राप्यन्ते अथवा श्रूयन्ते इदानीन्तनकाले च न लभ्यन्ते ते अधः प्रस्तूयन्ते -

**शिष्यहितवृत्तिः** - अस्य ग्रन्थस्य लेखकः उग्रभूतिभट्टः। अयं ग्रन्थः अप्रकाशितरूपेण वर्तते, भण्डारकरशोधसंस्थानपूनानगरे च मातृकारूपेण अस्ति।

**शिष्यहितान्यासः** - अस्यापि ग्रन्थस्य लेखकः उग्रभूतिः, प्रकाशितोऽयं ग्रन्थः भण्डारकरशोधसंस्थानपूनानगरे च प्राप्तः।

**बालबोधिनीवृत्तिः** - जगद्धरभट्टेन विरचितः ग्रन्थोऽयं रणवीरसंस्कृतानुसन्धानपुस्तकालयजम्मुनगरे, राजकीयानुसन्धानपुस्तकालयश्रीनगरे च प्राप्तः।

**बालबोधिनीन्यासः** - शितिकण्ठविरचितः अयं ग्रन्थः रणवीरसंस्कृतानुसन्धानपुस्तकालयजम्मुनगरे, राजकीयानुसन्धानपुस्तकालयश्रीनगरे च प्राप्तः।

**कातन्त्रलघुवृत्तिः** - अयं ग्रन्थः छुछ्छुकभट्टेन प्रणीतः, रणवीरसंस्कृतानुसन्धानपुस्तकालयजम्मुनगरे, राजकीयानुसन्धानपुस्तकालयश्रीनगरे च प्राप्तः।

**कातन्त्रकौमुदी** - कृपालुकोकिलाचार्येण ग्रथितः ग्रन्थोऽयं रणवीरसंस्कृतानुसन्धानपुस्तकालयजम्मुनगरे, राजकीयानुसन्धानपुस्तकालयश्रीनगरे च प्राप्तः।

**लघुलालितवृत्तिः** - अयं ग्रन्थः जगद्धरभट्टभागैः विरचितः, प्राच्यविद्याप्रतिष्ठानजोधपुरे च प्राप्तः।

**कातन्त्रपरिभाषासूत्रवृत्तिः** - अयं ग्रन्थः भावमिश्राख्येन केनचन पण्डितेन विरचितः, अस्य जीवनवृत्तान्तविषये न किमपि प्राप्यते, परन्तु अस्मिन् ग्रन्थे कातन्त्रपरिभाषाणां संग्रहः कृतः संक्षेपेण च वृत्तिः योजिता। ग्रन्थोऽयं भण्डारकरशोधसंस्थानपूनानगरे च प्राप्तः।

**बङ्गशाखायां प्राप्तग्रन्थाः** - बङ्गप्रदेशे तु कातन्त्रव्याकरणम् अत्यन्तं प्रसिद्धम् आसीत्, तस्मात् अत्र बहवः ग्रन्थाः प्राप्यन्ते, ते च अधः उल्लिख्यन्ते संक्षिप्तविवरणद्वारा -

**कातन्त्रम्** - दुर्गवृत्तिसहितकातन्त्राख्यः ग्रन्थोऽयं जूलियस-इग्लिंगमहोदयेन सम्पादितः एशियाटिक-सोसायटी-अफ-बेङ्गलद्वारा प्रकाशितः। अयं च ग्रन्थः देवनागरीलिप्यां प्रकाशितः आसीत्।

**कालापव्याकरणम्** - अस्य ग्रन्थस्य सम्पादकः श्रीगुरुनाथविद्यानिधिभट्टाचार्यः। अस्मिन् ग्रन्थे दुर्गसिंहवृत्त्याद्यनेकटीकाः संयोजिताः। कोलकातानगरस्थजानकीनाथकाव्यतीर्थ-एण्ड-ब्रदर्सछात्रपुस्तकालयद्वारा प्रकाशितः अयं ग्रन्थः।

**कृतवृत्तिः** - अस्यापि ग्रन्थस्य सम्पादकः श्रीगुरुनाथविद्यानिधिमहाशयः। कोलकातायां स्थितजानकीनाथकाव्यतीर्थ-एण्ड-ब्रदर्सछात्रपुस्तकालयेन च प्रकाशितः अयं ग्रन्थः।

**बृहत्कातन्त्रमाला** - अयं ग्रन्थः गुरुनाथविद्यानिधिमहोदयेन सम्पादितः, कोलकातानगर्यां च प्रकाशितः। अयं महोदयः कातन्त्रपरिशिष्टाख्यग्रन्थं, कलापव्याकरणनामकग्रन्थं च सम्पादितवान्।

**कातन्त्रविस्तरः** - अस्य लेखकः वर्द्धमानाख्यः कश्चन बङ्गीयपण्डितः, वाराणस्यां सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालये च प्राप्तः।

एतद्विहाय अपि श्रीभावसेनत्रैविद्यस्य कातन्त्ररूपमालानामकः ग्रन्थः मुम्बईनगरीतः प्रकाशितः। एवञ्च आर.एस.सैनीमहोदयस्य कातन्त्रव्याकरणम् इत्याख्यः ग्रन्थः भारतीयविद्याप्रकाशनद्वारा दिल्लीनगर्यां प्रकाशितः।

## उपसंहारः

सामान्यजनानां कृते संस्कृतभाषायाः शिक्षणाय कातन्त्रव्याकरणं महदुपयोगिग्रन्थरूपेण विराजते इति केषाञ्चन विदुषाम् अभिप्रायः। यद्यपि कातन्त्रव्याकरणं पाणिनीयव्याकरणमिव सुव्यवस्थापितं नास्ति तथापि वर्तमानस्थितौ अष्टाध्याय्याः जटिलप्रणालीतः भीतानां जनानां कृते इदं व्याकरणम् अत्यन्तं समुपयोगि अस्ति इत्यत्र नास्ति संदेहः। अस्य नियमोपनियमसूत्रोदाहरणानि व्यावहारिकजीवनसम्बद्धानि, अतः सरलतया संस्कृतभाषाज्ञानाय कातन्त्रव्याकरणं महत्त्वपूर्णं स्थानं भजते। भारतस्य तामिलभाषायाः व्याकरणं कातन्त्रव्याकरणेन प्रभावितम् अस्ति। अन्ते इदं वक्तुं शक्यते पाणिनीयव्याकरणं गम्भीरशास्त्राणां कृते उपयोगि, सामान्यस्तरे तु इदं कातन्त्रव्याकरणं सामान्यजनोपयोगि अस्त्येव इति शिवम्।

## सङ्केताक्षरसूची

1. अष्टा. – अष्टाध्यायी
2. कथा. - कथासरित्सागरः
3. का.सू. - कातन्त्रसूत्रम्

## सन्दर्भग्रन्थसूची


1. अष्टाध्यायी - पाणिनिविरचिता, परिष्कर्ता - श्रीगोपालदत्तशास्त्री, श्रीगोपालदत्तपाण्डेयः (सम्पा.), चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन ग्रन्थमाला – 19, 2017.
2. कलापव्याकरणम् - सटीकानुवादं, पूर्वार्धं, श्रीमद्गुरुनाथविद्यानिधिभट्टाचार्यः (सम्पा.), अष्टमसंस्करणम्, निवेदितालेनस्थित-संस्कृत-विश्वविद्यालयः, कोलकाता, 1847.
3. कातन्त्रम् - दुर्गसिंहकृतवृत्तिसहितम्, जुलियास एग्लिंग (सम्पा.), एशियाटिक-सोसाइटि-अफ-बेङ्गल, कोलकाता, 1939.
4. कातन्त्ररूपमाला - भावसेनत्रैविद्यविरचिता, (हिन्दी-अनु.) श्रीमती ज्ञानमती माताजी, दिगम्बर-जैन-त्रिलोक-शोध-संस्थान, हस्तिनापुर (मेरठ), उत्तरप्रदेशः, 1992.
5. वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी - श्रीभट्टोजिदीक्षितविरचिता - बालमनोरमातत्त्वबोधिनीटीकासहिता, प्रथमो भागः, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, 2014.
6. शिष्यहितान्यासः - उग्रभूतिभट्टविरचितः, श्रीरामसागरमिश्रः (सम्पा.), श्रीमती प्रभावती देवी, दिल्ली, 1991.


❀❀❀

# The Economical Picture Reflected In The Drama Mṛcchakaṭikam

Paromita Biswas

Abstract

*The Economic condition is the base of a society and in describing the society of that time, Śūdraka naturally drew a clear picture of the economy prevailing in the society of that age. Unequal state was used to be there in the society between rich and poor sections. Rich people used to live an easy life of fun enjoying in every sphere of life. As there was practice of worshiping the god of love at various temples it is reflected that the crude enjoyments were in practice in Indian society. Due to inequality between rich and poor, the society used to suffer a lot. On one side rich people became unruly due to unlimited enjoyment, on the other hand jobless penniless unsocial elements in the society suffered from the decaying of their energy. At that time jobless people were addicted to vices like dice-playing etc and different types of crime were practised then. Śarbilaka a Brāhmin studied the scripture on stealing. From this we can imagine how far crimes used to spread in the society. In fact, economic inequality in a society creates attachment towards crime. Śūdraka has shown this in his drama very clearly.*

*(Keywords: Mṛcchakaṭikam, Dṛśyakāvya, Poverty, Capitalism, Corruption, Gambling, Economy.)*

## Introduction

There are many works in Sanskrit Literature belonging to the *Prakaraṇa* type of *Rūpakas*, and the *Mṛcchakaṭikam* written by the great dramatist Śūdraka, was an earlier one. Generally, a writer does not start writing with a view to describe his society, it is not his prime duty or aim. But Śūdraka was an exception. He himself told that he composed the *Prakaraṇa* for the purpose of describing the subject matters like crooked nature, flaws in behaviour preaching of morals, destiny etc prevailing in the society at that time. Śūdraka's *Mṛcchakaṭikam* is an unparalleled, practical and social drama. The Hero of the story is not a fun loving king, but a poor *Brāhmin*. The dramatist did not hesitate to have a prostitute to be the heroine of the same. Though the heroine in the drama is a prostitute by profession, yet the main sentiment of the drama is not the eternal sentiment of love. Physical attraction which only brings disaster in the long run is not the source of love between Cārudatta and Vasantasenā. On the other hand, their mutual sentimental feeling is shown to arise from their broadmindedness. Here in lies the healthy human relationship. There is no false dreaming, but a true realization of the reality of life. Śūdraka has described in his drama the normal style of living of ordinary people and in doing so he shows himself to be an exceptional worker. The Economic condition is the base of a society and

in describing the society of that time, Śūdraka naturally drew a clear picture of the economy prevailing in the society of that age. Unequal state was used to be there in the society between rich and poor sections. Rich people used to live an easy life of fun enjoying in every sphere of life. As there was practice of worshiping the god of love at various temples it is reflected that the crude enjoyments were in practice in Indian society. Due to inequality between rich and poor, the society used to suffer a lot. On one side rich people became unruly due to unlimited enjoyment, on the other hand jobless penniless unsocial elements in the society suffered from the decaying of their energy. At that time jobless people were addicted to vices like dice-playing etc and different types of crime were practised then. Śarbilaka a *Brāhmin* studied the scripture on stealing. From this we can imagine how far crimes used to spread in the society. In fact, economic inequality in a society creates attachment towards crime. Śūdraka has shown this in his drama very clearly.

## *Mṛcchakaṭikam* as *Dṛśyakāvya*:

Haridās Siddhāntabāgīśa in his commentary on the book, the *'Sāhitya Darpaṇa'* has defined *Prakaraṇa* thus, – **'कवि कल्पितलौकिकवृत्तान्तमूलत्वे सति क्षयिष्णुधर्मकामार्थपरायण-धीरप्रशान्तलक्षण विप्रामात्यवणिगण्यतम-नायकवच्छृङ्गारप्रधान-दृश्यकाव्यत्वं प्रकरणत्वमिति'**.[1]

Śūdraka followed rules and regulations introduced by *Śāstras* but not thoroughly. Following the definition of *Prakaraṇa*, he took the theme of his work from events which were found in the society. The characters of the hero and the heroine are also depicted in accordance with the definition. Cārudatta was respectable, balanced in adverse situation, and a *Brāhmin* by caste. Between two heroines, Dhūtā was a pious, loyal wife of Cārudatta and Vasantasenā was a prostitute who was attracted to Cārudatta. Though the dominating sentiment in this *Prakaraṇa* is *Sṛṅgāra* (love-sentiment), yet other sentiments like *Karuṇa*, *Hāsya*, *Bibhatsa* etc were also mixed with the main sentiment. The subject-matter is set in ten acts. Somewhere, such as, in the second act, where the gamblers are seen fighting face to face, or in the eighth act where the event of killing Vasantasenā is placed on the stage and so on, the definition of the *Prakaraṇa* is violated. The characteristic feature of *Prakaraṇa* is not mentioned in its name also. As there are so many characters of lower category, such as thief, gambler, maid-servant etc, the work *Mṛcchakaṭikam* is considered to be a *Prakaraṇa* of lower type.

## Poverty Versus Capitalism:

Due to economic inequality and instability existing in the society, Cāru-

[1] Sā.Da.- 6th Chapter

datta, a *Brāhmin* of noble character and appreciator of fine arts also was compelled to accept poverty. In the verse no. 10 of the first chapter of the drama –

सुखं हि दुःखान्तनुभूय शोभते
घनान्धकारेष्विव दीपदर्शनम्।
सुखात्तु यो याति नरो। दरिद्रतां
घृतः शरीरेण मृतः स जीवति॥ [2]

The factual grief of the poor class is reflected in the revealing of poverty. A child of a neighbour played with a toy car made of gold. While Rohasena, the son of Cārudatta had to be satisfied with a car made of clay. Dhūtā the wife of Cārudatta had no ornaments to wear, while Vasantasenā was excessively ornamented. Stylish persons used valuable wrapper, perfumes etc, while poor men had no such luxurious things to use. In the society of rich class in the drama, a characterless lecherous person like Śakāra possessed great power. Power of one class possessed huge wealth and as such they pretended to dominate the society. On the other hand, the condition of the poor class was very deplorable. The picture of poverty is painted in the *'Mṛcchakaṭikam'* so minutely that a critic commented thus – "Now here in the entire range of Sanskrit literature, has a description of poverty been introduced so effectively, because mostly the plays and poems are composed by the protege of Kings".

## Corruption arising out of poverty

Another person like Cārudatta was also poverty-stricken. Śarvilaka suffered immensely due to poverty. He loved Madayantikā but as he was poor, he could not aspire to get her. For this reason, his good nature was spoilt. He was *Brāhmaṇa* by caste, yet he had to accept the profession of stealing, due to adverse situation. There lied a gulf of difference between his motive and profession. It caused a great pain for him. His failure was fully due to inequality in social and economic standard of the society of that time. There is no doubt about it.

## Gambling:

In ancient India dice playing was considered to be a part of social life and the economic condition of the society existing then, was also reflected in the game. Mental agony in Saṁvāhaka's life was due to his poor economic status. In the gambling when he was defeated, he asked for ten golden coins in broad day light in the high way and for that he had to face insult. As a result, being pricked by conscience, he denounced social life and became a Buddhist monk.

[2] Mṛcch.- 1/10

## Use of Currency

In ancient India, it was an usual practice of trade to exchange goods for goods. But later on, coins were also used for purchasing things. In the drama *Mṛcchakaṭikam* a variety of coins is mentioned, such as *Suvarṇa, Nāṇaka, Vodic, Kārṣāpaṇa* etc. In the second act of the drama Samvāhaka has said – 'आर्य्याः क्रीणीध्वं माम् अस्य सभिकस्य हस्तात् दशभिः सुवर्णैः'[3]

The word *'Suvarṇa'* here is mentioned to denote golden coin. Besides, in the eighth act of the drama a coin named *Kārṣāpaṇa* is also mentioned.

To explain the meaning of the term, commentators say – 'कर्षस्यायं कार्षः कार्षस्य कार्षेण वा आपणः कार्षापणः'[4]

According to the *'Manusaṁhitā'*, *Kārṣāpaṇa* is a kind of coin made of coppers – 'कार्षापणस्तु विज्ञेयस्ताम्रिकः कार्षिकः पणः'[5]

## Economy Reflected in the Description of the Building of that time

The work of Śūdraka is an example of the best kind for revealing the economic inequality existing in the society through the description of houses. In this *Prakaraṇa*, we do not find detailed description of houses of ordinary people in general but beautiful picture of rich people's house is drawn there. Cārudatta the wise, the appreciator of art, music was once a rich man. As such, doors of his house were of a big size. The building was constructed of bricks and there were different apartments in his house but later on when he became poor, he used to live in an ordinary old house with his son and wife. The house of Vasantasenā, a rich courtesan, on the other hand, was a big seven storied building. The house of Śakāra, the brother-in-law of the king was situated by the side of the high way and constituted of floors more than one. So, their houses were beautiful, and seeing the aesthetic beauty of decorations in different apartments, the Vidūṣaka thought that - 'सत्यं जानामि एकस्थमिव त्रिविष्टपं दृष्टम्। प्रशंसितुं नास्ति मे वाग्विभवः। किं तावत् गणिकागृहम् अथवा कुवेरभवनपरिच्छेद इति।'[6]

## Conclusion

From the *'Mṛcchakaṭikam' Prakaraṇa*, we can get a clear idea about social peoples, their social life reflected in different spheres. At the same time, it is to be noted that the writer with a view to describe real life, has never made it a mere statement or a dry history. Reality is the place where idealism finds

3 *Ibid.* 2nd Act
4 *Ibid.* 2nd Act
5 Manu.- 8/136
6 Mṛcch.- 4th Act

its justification. There is no clash between idealism and reality if people perceived. In this *Prakaraṇa*, we can see that people belonging to different classes are characterized and their economic status is also different according to their social status. So, while narrating social condition of people, the poet throws light on economic condition prevailing in the society. Both are interrelated.

How economic depression leads one to disaster, how economic supremacy brings power and at the same time vice and corruption – all these things are vividly drawn in his work. A clear picture of economy existing in the society of that time is reflected here. The economic condition of the society is an exceptional attempt in the history of Sanskrit dramas. It shows resemblance with western drāmās.

## Abbreviations

1. Manu. - Manusamhitā
2. Mṛcch. - Mṛcchakaṭikam
3. Sā.Da. - Sāhitya Daṛpaṇa

## References


1. *Manusaṁhitā* (Seventh Chapter), Annadasankar Pahari, Sanskrita Book Dipo, 1st edition, Kolkata 2004.
2. *Mṛcchakaṭikam*, Udaychandra Bandopadhyaya, Sanskrita Book Dipo, 1st edition, Kolkata 2007.
3. *Prakaraṇa : Sanskrita Sāhitye Sāmājik Nāṭaka*, Priti Mukhopadhay, Praiti Prakasan, 1st edition, Kolkata 1998.
4. *Samskṛta O Prākṛta Sāhitya : Samāj-Cetanā O Mūlyāyan* (History and Evalution of Sanskrit and Prakrit Literatures against the background of Social Conciousness), Rameswar Shaw, Anup Kumar Mahindar Pustak Bipani, 2nd edition, Kolkata 2005.
5. *Samskrita Sāhityer Itihāsa* [History of Sanskrit Literature], Dhirendranath Bandyopadhyaya, Pascimbanga Rajya Pustaka Parsad, 2nd edition, Kolkata 2000.
6. *Sanskrita Sāhitya Samālocanā Samgraha* (Second Part), Satyaranjan Bandopadhyaya, Sanskrita Pustak Bhandar, 1st edition, Kolkata 1998.
7. *Sāhitya Darpaṇa* (Sixth Chapter), Udaychandra Bandopadhyaya, Sanskrit Book Depo, Kolkata 2011 (Reprint), Kolkata 2007.


❀❀❀

# वैदिक साहित्य में राष्ट्रिय चेतना

गोविन्द सरकार

सारांश

राष्ट्रिय भावना सदा ही जनता के धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक सभी दृष्टिकोणों को प्रभावित करती है। इसी कारण साहित्य जगत् में यह चर्चा का विषय रही है तथा देश की लगभग सभी भाषाओं के साहित्य में परिलक्षित भी है। अधिक दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। संस्कृत साहित्य में ही वेदों से निस्सृत राष्ट्रिय चिन्तन की मन्दाकिनी अनेक कवि और काव्य रूपी उपवनों की सींचती हुइ आज भी अप्रतिहत गति से निरन्तर प्रवाहित हो रही है। प्रस्तुत शोध पत्र में वैदिक साहित्यमें राष्ट्रिय चेतना पर प्रकाश डाला गया है।

(कुञ्जी शब्द - राष्ट्र, राष्ट्रियता, संस्कृति, साहित्य।)

.....

'सनातनधर्म' एवं 'भारतीय संस्कृति' का मूल आधारस्तम्भ विश्व का अति प्राचीन और सर्वप्रथम वाङ्मय 'वेद' माना गया है। वेद सम्पूर्ण मानव जाति की अमूल्य सम्पत्ति है। हमारे साहित्य में वेद का जो स्थान है, वह अन्य किसी ग्रन्थ का नहीं है। मानवजाति के लौकिक (सांसारिक) तथा पारमार्थिक अभ्युदय हेतु प्राकट्य होने से वेद को अनादि एवं नित्य कहा गया है। महर्षि मनु की दृष्टि में वेद सनातन चक्षु है। अति प्राचीनकालीन महातपा, पुण्यपुञ्ज ऋषियों के पवित्रतम अन्तःकरण में वेद के दर्शन हुए थे, अतः उसका 'वेद' नाम प्राप्त हुआ।

वैदिक साहित्य में मुख्यतः चार वेद हैं - ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। ऋग्वेद में १०५५२ मन्त्र हैं, इनका लक्ष्य मनुष्य को ज्ञान देना ही है। यजुर्वेद में १९७५ मन्त्र हैं, जो उत्तम कर्मों की ओर प्रेरित करते हैं। सामवेद में १८७५ मन्त्र हैं, जिन में ईश्वर-स्मरण और साधन का वर्णन है। अथर्ववेद का विषय योग एवं अन्यान्य है। अथर्व शब्द का शाब्दिक अर्थ (अ-थर्व) एकाग्रता से है। इस वेद के ५९७७ मन्त्रों में राष्ट्रधर्म, समाजव्यवस्था, गृहस्थधर्म, अध्यात्मवाद, प्रकृतिवर्णन आदि का विस्तृत एवं व्यावहारिक ज्ञान समाहित है।

वेद-वाक्य राष्ट्रप्रेम, देशसेवा और उत्सर्ग के प्रेरक हैं, इसलिये वेद आर्यों के सर्वप्रधान तथा सर्वमान्य धार्मिक ग्रन्थ हैं। इसी कारण वेदों का आज भी राष्ट्रव्यापी प्रचार है। हमारे देवालयों एवं तीर्थस्थानों में आज भी उनका प्रभाव अक्षुण्ण है। वेदों में अपने गौरवशाली अतीत की झाँकी देखकर आज भी हम अपना मस्तक गर्वोन्नत कर सकते हैं।

'राज्' धातु में 'ष्ट्रन्' प्रत्यय लगाकर व्युत्पन्न 'राष्ट्र' का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है 'जो सुशोभित होता है, अवभासित होता है।' यद्यपि शब्दकोषों में इसके जनपद, जिला, विषय, प्रजा, प्रजाति, जाति, देश इत्यादि अनेक अर्थ दिए गए हैं, तथापि एक साधारण व्यक्ति की भाषा में बहुत से व्यक्तियों के समूह जो जन्म, जाति, प्रजाति की दृष्टि से एकता रखते हैं, राष्ट्र है। व्यष्टि रूप में जो बालक, बालिका, नर-नारी है, समष्टि रूप में वही राष्ट्र है। जो कुछ भी राष्ट्र से सम्बन्धित है 'राष्ट्रिय' है। राष्ट्र से सम्बन्धित भावना, चेतना, चिन्तन इत्यादि राष्ट्रियता है।

वेदों में राष्ट्रियता की उदात्त भावना का भरपूर समावेश है। ऋग्वेद में जगदीश्वर से प्रार्थना की गयी है -

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजनाना उपासते॥[1]

---

[1] ऋग्.- १०.१९१.२, पृ.६६२

अर्थात् 'हे जगदीश्वर ! आप हमें ऐसी बुद्धि दें कि हम सब परस्पर मिल कर एक साथ चलें, एक समान मीठी वाणी बोलें और एक-समान हृदयवाले होकर स्वराष्ट्र में उत्पन्न धन-धान्य और सम्पत्ति को परस्पर समानरूप से बाँटकर भोगें। हमारी हर प्रवृत्ति राग-द्वेषरहित परस्पर प्रीति बढ़ानेवाली हो।'

राष्ट्र की रक्षा एवं सुरक्षा के लिए वैदिक ऋषियों ने पारस्परिक एकता तथा संगठन का महत्त्व बहुधा प्रतिपादित किया। यह तभी सम्भव है जब सबके मनन, संगठन, मन, चिन्तन, सङ्कल्प, हृदय आदि समान हों -

समानो मन्त्रः समितिः समानी
समानं मनः सह चित्तमेषाम्।[2]

तथा

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥[3]

परिवार राष्ट्र की मूल है। अतः अथर्ववेद में परिवार में सदस्यों के पारस्परिक स्नेहपूर्ण व्यवहार पर प्रभूत बल दिया गया है। पति पत्नी परिवार रूपी गाड़ी के दो पहिए हैं, आधारस्तम्भ हैं। उनका सम्बन्ध मधुर, प्रिय और सौहार्दपूर्ण होना चाहिए। इसके अतिरिक्त घर का कलहपूर्ण वैमनस्ययुक्त वातावरण बाह्य वातावरण को अनायास ही प्रभावित करता है अतः पत्नी को पति से सदैव मधुर और शान्तिमयी वाणी बोलनी चाहिए - "जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम्।"[4]

बच्चे परिवार रूपी इमारत के नींव हैं। इसी कारण उनमें भी स्नेह, सामञ्जस्य और समन्वय होना परमावश्यक है -

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रताः भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥[5]

ऋग्वेद के इन्द्रसूक्त में जगदीश्वर से स्वराष्ट्र के लिए धन-धान्यवान् पुत्रों से समृद्ध होने की कामना की गयी है -

स्वायुधं स्ववसं सुनीथं चतुःसमुद्रं धरुणं रयीणाम्।
चर्कृत्यं शंस्यं भूरिवारमस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः॥[6]

तात्पर्य यह कि 'हे परमैश्वर्यवान् परमात्मन्! आप हमें धन-धान्य से सम्पन्न ऐसी संतान प्रदान कीजिये, जो उत्तम एवं अमोघ शस्त्रधारी हो, अपनी और अपने राष्ट्र की रक्षा करने में समर्थ हो तथा न्याय, दया-दाक्षिण्य और सदाचार के साथ जन-समूह का नेतृत्व करने वाली हो, साथ ही नाना प्रकार के धनों को धारण कर परोपकार में रत एवं प्रशंसनीय हो तथा लोकप्रिय एवं अद्भुत गुणों से सम्पन्न होकर जन-समाजपर कल्याणकारी गुणों की वर्षा करने वाली हो।'

---

2 ऋग्.- १०.१९१.३, पृ.६६२
3 वही., मन्त्र ४
4 अथर्व.- ३.३०.२
5 ऋग्.- १०.४७.२, पृ.५०४
6 ऋग्.- १०.४७.२, पृ.५०४

राष्ट्र की रक्षा करना राजा का परम कर्तव्य माना गया है। राजा से प्रार्थना की गई है कि वह मातृभूमि की रक्षा करे, देशद्रोहियों को पनपने न दे, अपने अस्त्र शस्त्रों की धार पैनी रखे, अपने बाहुबल को बढ़ाता रहे, अपनी सेना में वीर सैनिकों की नियुक्ति करे इत्यादि इत्यादि।

'मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे'[7], 'वसुधैव कुटुम्बकम्'[8] इत्यादि उदात्त भावनाओं से परिपूरित होने पर भी वैदिक ऋषि **'शठे शाठ्यं समाचरेत्'**[9] का भी यथास्थान औचित्य स्वीकारता है। राष्ट्रहित के लिए शत्रु का समूल नाश होना ही चाहिए। पर्यावरण को भी राष्ट्रिय भावना का अभिन्न अङ्ग मानने वाले वैदिक ऋषि भूमि, जल, वायु, वृक्ष, ध्वनि सम्बन्धी सभी प्रदूषणों से सुपरिचित थे एवं संरक्षण, संवर्धन और संपोषण के प्रति सतत जागरूक भी थे। ऋग्वेद में भूमि को देवी के समान पूजा गया है - 'इला सरस्वती मही तिस्रो देवीर्मया भूवः।'[10]

राष्ट्र की रक्षा में और उसकी महत्ता में एसी ही अनेक ऋचाएँ पर्यवसित हैं, जिनमें से यहाँ कुछ का उल्लेख किया जा रहा है, जैसे - "उप सर्प मातरं भूमिम्।"[11] अर्थात् 'मातृभूमि की सेवा करो।'

निम्न मन्त्र से मातृभूमि को नमन करते हुए कहा गया है - "नमो मात्रे पृथिव्यै नमो मात्रे पृथिव्या।"[12] अर्थात् 'मातृभूमि को नमस्कार है, मातृभूमि को नमस्कार है।' यहाँ 'पृथ्वी' का अर्थ मातृभूमि या स्वदेश ही उपयुक्त है।

राष्ट्रभक्ति से ओत प्रोत अथर्ववेद के 'भूमिसूक्त' में ईश्वर ने यह उपदेश दिया है कि अपनी मातृभूमि के प्रति मनुष्यों को किस प्रकार के भाव रखने चाहिए। वहाँ अपने देश को माता समझने और उसके प्रति नमस्कार करने का स्पष्ट शब्दों में उल्लेख किया गया है - "माता भुमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः।"[13]

अर्थात् 'भूमि (मातृभूमि) मेरी माता है और मैं उसका पुत्र हुँ।' विश्वम्भरा, वसुन्धरा, वसुधानी, हिरण्यवक्षा, जगतो निवेशनी इत्यादि विशेषणों का प्रयोग कर इसका यशोगान किया गया है। अगाध राष्ट्रप्रेम से प्रेरित वैदिक ऋषि द्वारा भूमि से हमारे तेज और बल को उत्तम राष्ट्र में स्थापित करने की प्रार्थना की गई है - "सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे।"[14]

अतएव हमें चाहिये कि अपनी मातृभूमि की रक्षाहेतु आत्मबलिदान करने के लिए हम सदा तत्पर रहें -

उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्मा अस्मभ्यं सन्तु पृथिवि प्रसूताः।
दीर्घं न आयुः प्रतिबुध्यमाना वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम॥[15]

अर्थात् 'हे मातृभूमि ! तेरी सेवा करनेवाले हम नीरोग और आरोग्यपूर्ण हों। तुमसे उत्पन्न

7 शुक्ल.- ३६.१८, पृ.२४६
8 महा.उ.- ६.७२, पृ.१९३
9 महा., विदुरनीति
10 ऋग्.- १.१३.९, पृ.९३
11 ऋग्.- १०.१८.१०, पृ.४६२
12 शुक्ल.- ९.२२, पृ.६५
13 अथर्व.- १२.१.१२, पृ.३०८
14 वही- १२.१.८
15 वही. १२.१.६२, पृ.३०९

हुए समस्त भोग हमें प्राप्त हों, हम ज्ञानी बनकर दीर्घायु हों तथा तेरी सुरक्षा हेतु अपना आत्मोत्सर्ग करने के लिये भी सदा संन्नद्ध रहें।'

इस प्रकार वेद ज्ञान के महासागर हैं तथा समग्र विश्ववाङ्मय की अमूल्यनिधि एवं भारतीय सनातन आर्यसंस्कृति के मूल आधार हैं। उनमें राष्ट्रियता की उदात्त भावना का भरपूर समावेश है। अतः हम सभी राष्ट्रवासियों को चाहिये कि हम राष्ट्ररक्षा में समर्थ हो सकें, इसके लिए वेद की शिक्षाओं को समग्ररूप से ग्रहण करें।

## सङ्केताक्षरसूची

1. अथर्व. - अथर्ववेद संहिता
2. ऋग्. - ऋग्वेद संहिता
3. महा.उ. - महा उपनिषद्
4. महा. - महाभारत
5. शुक्ल. - शुक्लयजुर्वेद संहिता

## सन्दर्भग्रन्थसूची

1. १०८ उपनिषद् (साधना खण्ड), आचार्य, श्रीरामशर्मा, युग निर्माण योजना, मथुरा, २००५
2. अथर्ववेद संहिता, रमेशचन्द्र दत्त (सम्पा.), हरफ प्रकाशनी, कलकाता, २०१६
3. ऋग्वेद संहिता (प्रथम तथा द्वितीय खण्ड), रमेशचन्द्र दत्त (सम्पा.), हरफ प्रकाशनी, कलकाता, २०१६
4. यजुर्वेद संहिता (शुक्ल तथा कृष्ण), रमेशचन्द्र दत्त (सम्पा.), हरफ प्रकाशनी, कलकाता, २०१६

❀❀❀

# Analysis of Critical Claims against Sāmānya Padārtha by Buddhist Schools

Pooja

Abstract

*The theory of sāmānya is at the epicentre of the metaphysics of Nyāya-Vaiśeṣika syncretic school. Sāmānya is understood as the real objective entity which is eternal and forms the backbone of Indian Realism along with samavāya. But various problems and inconsistencies surfaced in latter's exact postulation of nature of sāmānya. One question naturally arises that if universal is construed as omnipresent yet situated only in the particulars, what will be the tenable explanation for the status of existence if sāmānya is to be situated apart from the member individuals it subsists in? Does sāmānya inheres in its constitutive particulars in its entirety or its parts? In this paper, we have sought to delve into the criticism levelled against sāmānya by the Buddhist scholars Dignāga and Dharmakīrti. Is it possible to annihilate the entire narrative of universals as Buddhist philosophers have sought to do? What makes the very concept of sāmānya relevant in the face of employment of Occam's razor in providing answers to metaphysical questions and explication of relation between class and its members?*

*(Keywords: sāmānya, realism, apoha, genus, objective reality, nominalism)*

.....

## Formulation of *sāmānya padārtha*

The theory of *Sāmānya-viśeṣa* acts as a pivotal point in *Nyāya-Vaiśeṣikā* syncretic school of philosophy for number of reasons, one of which is that it ensures existence of non-fluid reality with some fixed stature (maintaining against the Buddhist thinkers). Mainly called by aforesaid name, *sāmānya* was also mentioned in a modified variation as *ākṛti* by the grammarians and Mīmāṁsākā-s. Later on, the *Nyāya-Vaiśeṣika* syncretic used *jāti* and *sāmānya* interchangeably. *Sāmānya*, projected both in the sense of genus and universal or generality is defined by the author of *Tarkasaṁgraha* as *nityam* (eternal), *ekam* (one or in unity), *anekānugatam* (subsiding in many particulars). It is mentioned and characterized by *Kaṇāda*, the author of *Vaiśeṣika Sūtra* by the term *"budhyapekśa"* that some writers like Narain have wrongly taken to be an implementation of conceptualist position. But, in fact there is yet no clearcut evidential clarification and consensus for the exact import of *budhyapekśa* (relative to thought) with respect to *sāmānya* and *viśeṣa* as well at the present time. Radhakrishnan interprets both *sāmānya* and *viśeṣa* as the products of intellectual discrimination. *Sāmānya* is not to be equated with commonness, emphasised the *Nyāya-Vaiśeṣika* textual tradition, neither it should be understood as mere the identity or similarly. It is to

be noted that not every commonality is a universal. *Praśastapāda* tried to posit *sāmānya* as replication of pattern and cause of identical conception of thing[1] whereas *Gautamācārya* defines *jāti* (*sāmānya* in the sense of universal) as something that is in possession of a nature to generate common conception.[2]

## *Sāmānya*: a mental construct or an objective entity

The theory of *sāmānya* is at the epicentre of the metaphysics of *NV* syncretic and has direct implications for the realist thesis of this school. With respect to the topic of universal and particular, both Indian and Western metaphysicians, since ancient times have preoccupied themselves with the question of how universals exist over and above the particulars, yet existing in latter's realm. The realist schools of *Nyāya, Vaiśeṣika* and *Mīmāṃsā* maintain the status of objectivity of the *Sāmānya* instantiated in the particulars. The *sāmānya* of *Nyāya-Vaiśeṣika* calls for some ubiquitous homogeneous pattern in reality with some degree of differentiation also (through *vyāvartakatva* of *viśeṣa*). While the nominalists like those of *Buddhist*s would attack the very notion of *sāmānya* as having any objective-being with the sole aim to bring about the debacle of the realist thesis of reality. *NV* syncretic are pluralist not only in the sense that reality constitutes multiple entities but also that these units of reality are woven together in a particular fashion defying any discreteness.

It is the belief in the existence of non-fluid reality which has some fixed stature (as against the Buddhist). This outer reality is to be apprehended as having its Being in itself regardless of the perceiving subject. While the nominalists like those of Buddhists would attack the very notion of *sāmānya* as having any objective being with the sole aim to bring about the debacle of the realist and pluralistic thesis of reality. The *Vaiśeṣikā*-s are pluralist not only in the sense that reality constitutes multiple entities but also that these units of reality come categorization.

The *sāmānya* of *Nyāya-Vaiśeṣika* calls for some ubiquitous homogeneous pattern in reality with some degree of differentiation also (through *vyāvartakatva* of *viśeṣa*). It thus seems to be overall better than the overtly discrete postulation of reality by Buddhists. But it is to be kept in mind that the Buddhist like *Vijñānavādi*, *Śūnyavādi*-ns and neo-*Vijñānavādi*-ns have no purpose to maintain seemingly objective reality to be either objective, real or subjective per se respectively. For them, the reality is just an assembling of discrete pack-

[1] *Svaviṣayasarvagatam abhinnātmakam anekavṛtti ekadvibahuṣu ātmasvarūpānugamapratyayakāri svarupābhedena ādhāreṣu prabandhena vartamānam anuvṛttipratyayakardnam*, (Praśastapāda Bhaṣya, NS 2.2.70)

[2] *samānaprasavātmikā jātiḥ.* (NS 2.2.71).

ets and is constitutive of unique particulars. They supplement such theory with two level theory of *"apoha"*. Well, as a matter of fact it is only the project of those Realist schools of Philosophy, particularly of *Nyāya* and *Vaiśeṣika* to uphold the narrative of universals. Dharmakīrti declared the concept of universal to be just an outcome of man's idiosyncratic disposition to occasion the illusion of ontological identity of *sāmānya*.[3] Harsh Narain has pinned down the exact Buddhist contention -

"The undue ontological importance assigned to the possessive case, the 'of,' is at the root of most of the cases of hypostatization of abstractions like universals and their alienation, objective in appearance but subjective in fact, from individuals which alone are real."[4]

## Criticism of relation of *samavāya*: a relational link of *sāmānya-viśeṣa* to individual

The *Vaiśeṣika* hold the existence of *sāmānya* as having relational affinity with its constitutive particulars, yet it remains over and above it. Same holds for *viśeṣa padārtha* which gives the unit of substance its particularity and yet exists independently. *Nyāya-Vaiśeṣika* scholars thus have made use of the fact of acquisition of commonality by the cognitive mind as a premise for the real and objective existence of *sāmānya*.

Critiques of sāmānya and *viśeṣa* have also targeted the relation of *samavāya* as a status of *padārtha* in the classical Indian Philosophy tradition. The criticism centres around the *sāmānya* and *viśeṣa padārtha* because of the relation it holds to the particulars. Both *Naiyāyikā*-s and *Vaiśeṣika*-s contend that it is through the relation of *samavāya* that the subsistence of *sāmānya* is possible in the particulars. The relation of samavāya exists between *guṇa* and *guṇī, avayava* and *avayavī, kriyā* and *kriyāvān, viśeṣa* and *nitya dravya*. If we take the example of *avayavī*, it exists above and over the individuals it constitutes. It has its own being and eternal which makes it different from *saṁyoga*. For example, vast number of trees would become forest. The entity of forest i.e. *avayavī* is not separate from trees yet it is distinct and independent of it.

In the case of *sāmānya* it is the whole which exists above the particulars it inheres in. The *sāmānya* for instance potness *(ghaṭatva)* exits over and above its substantial individual that is pot. It is through the relation of *samavāya* only that the *padārtha viśeṣa* also resides in the ultimate particulars. The attack on *samavāya* would render the objective claim for *sāmānya* weak. D. N. Shas-

---

3 *Tasyām rūpābhāso'yam tattvenārthasya vā graha*
*Bhrāntiḥ sānādikālīnadarśanabhyāśanirmitā*, (Pramāṇasamuccaya 2.29)

4 Narain's Evolution Of The *Nyāya Vaiśeṣika* Categeriology Vol. I, pp. 202

tri rightly puts that "if the first five categories, substance, quality, etc., are the bricks of the *Nyāya-Vaiśeṣika* structure, the mortar to unite them is provided by the sixth category, *samavāya*".[5]

Now the question is put up against the relation of *samavāya* akin to Aristotle's reservations against the Plato's theory of ideas. By what relation does *samavāya* holds with the terms it relates to. The relation of *samavāya* seems to require another relation to make this relation possible. This falls into the fallacy of regressus ad infintum, also called as the fallacy of third man in this case.

## Buddhist criticism against the *Nyāya-Vaiśeṣika* theory of universals

It is necessary to understand that the Buddhist theory of cognition make heavy influences on their metaphysical thesis of reality. They have taken two mutually exclusive categories of *pramāṇa*-s. Dignāga is the forerunner of this system of epistemology followed by Dharmakīrti and others.

The Buddhist epistemology categorizes instrument of *jñāna* in two-first is the faculty of perception or *pratyakṣa* and the second is inference or *anumāna*. Regarding perception, they have strictly adhered to the perceptual knowledge as cognition of raw sense data only. Perception, in the strict sense means perception of an unconstructed reality, a reality as it is. The reality according to Buddhist philosophy is just discrete and simple. The reality is constitutive of mere individuals and this in fact corresponds to the perceptual data. The qualification of this indeterminate data supplied by perception is the secondary stage of cognition. The instrument of mind plays the role of qualification of the perceived data accompanied with constructive universal attached to it. This postulation of epistemological process somewhat resembles closely to Kantian tenet. The purpose to derail the consistency of realist position of *Nyāya-Vaiśeṣika* is now crystal clear. To attain the metaphysical nominalism and epistemological conceptualism, it becomes necessary for Buddhist philosophers to target the theory of *sāmānya* (in the sense of universal specifically rather than of genus). Buddhist scholars and *Naiyāyikā*-s have long been engaged in the debate for centuries leading to one of the best phases of Indian Dārśanic system. The problem of universals had also been the centre of debate and huge clash.

Buddhist carried out the criticism of *sāmānya* by positing their own theory in twofold ways –

- First, by actually presenting with an alternative model of metaphysics

[5] *Ibid.*, pg. 375

of reality i.e. reality ought to be apprehended as *"svalakṣaṇa"* (unique particulars). No necessity for the second degree of qualified reality to get accommodated with it. It goes parallel to the *Svatantra-Vijñānavāda* interests of the Buddhist scholars like Dignāga and Dharmakīrti.

- Second, situating perception knowledge of *svalakṣaṇa* through *apohavāda.* Dignāga carries out the meaning of pramāṇa in meeting with the classification of knowledge into perception and inference.

Buddhist scholars make use of linguistic instrument by threading a paradox whether universals subsist in the particulars in entirety or in part? Universals cannot subsist entirely in a particular individual because it will get exhausted for the other members, neither it can subsist partly as it's characteristics of unity *(ekam)* would succumb. This constructive dilemma raised by the them was not much substantially answered by the *Naiyāyikā*-s. They replied that the word "entire applies to such members or elements when all of them are taken together without a remainder. Cowness is neither an aggregate nor a substantial whole; hence the words 'entire' and 'partial' are not applicable to it."[6] Moreover, one question is always predisposed to be raised against holding universals as omnipresent in the sense of spatial pervasiveness i.e. being *vibhu pariṇāma.* The questions thus pertain to the status of spatial presence of a *sāmānya* apart from the particulars it inheres in. Do universals reside everywhere, including the individuals which are *vyatireka* (non-class members) or just resides in certain particulars only, risking the omnipresence status of *sāmānya.* As a matter of fact, the *NV* have not able been able to come up with very plausible scheme to counter against this criticism. The position of *Praśastapāda* in this regard is interpreted by D.N Shastri to be that universals do subsist pervasively but are not manifested in the absence of particulars. Jayanta Bhaṭṭa elucidates more in his *Nyāyamañjari* by making universals subsist but make matter more consistent by explicating that particular "when enters into existence, it comes to be related to the universal. Though the universal is eternal, its relation to a particular individual comes into existence only at the moment when the individual comes into being."[7]

## Conclusion

*Sāmānya* cannot be just a pure construct, for it to be only a mental construct, it nevertheless must be supplied with some corresponding pattern in the outer world. It is certainly not possible to conceive the cognition of the com-

[6] Chakrabarti's 'The *Nyāya-Vaiśeṣika* Theory of Universals' in Journal of Indian Philosophy pg. 375

[7] Radhakrishnan's *Indian Philosophy*, Vol II, pg. 217-218

monness or the universal, or categorization done by certain forms of alignment in the world. The impression of universal in our mind must run over with some simulation in the outside world. In other words, even if the existence of universal is taken as fiction, the existence of class cannot be.

Uddyotakāra follows this line of argument that "whatever causes a common notion, must be a common thing residing in all the objects concerned".[8] The critiques of Universals whether in Indian or in western philosophy have not been quite able to counter the above argument without addressing a straw man. This diction can also be captured in Praśastapādā'-s commentary in which he states universals display the replication pattern of different particulars: *sāmānyam anuvṛttipratyayakāraṇam*'.[9]

## References


1. *Categories, Creation and Cognition in Vaiśeṣika Philosophy*, Shashi Prabha Kumar, Springer Nature, Singapore Pte Ltd, Singapore, 2019.
2. *Critique of Indian Realism.* N. Shastri, Agra University Press, Agra, 1964.
3. *Distinguishing Universals from Particulars.* D. Ehring, Analysis, Vol. 64(4), pg. 326-332, 2004
4. *Evolution of The Nyāya Vaiśeṣika Categeriology.* Harsh Narain, Vol. I, Bharati Prakashan. Varanasi, 1976.
5. *History of Indian Philosophy*, Erich Frauwallner, Eng. Trans. by V.M. Bedekar, Vol. 2, Motilal Banarsidass Publishers, Delhi, 1973.
6. *Indian Philosophy. Radhakrishnan.* Vol. 2, ed. 2, Imp. 9th edited by H. D Lewis, London: George Allen & Unwin LTD, Humanities Press, New York, 1971.
7. *On Being and What There is.* Whilhelm Halbfass, State University of New York Press, Albani, 1992.
8. *One and many: The early Naiyāyikas and the problem of Universals.* Journal of Indian philosophy, Heeraman Tiwari, Vol. 22, 137-170, 1994.
9. *Padārthadharmasaṅgraha of Praśastapāda: With the Nyāyakandalī of Śrīdhara.* No. 4. Chaukhambha Orientalia, 1982.
10. *Realisms Interlinked: Objects, Subjects, and Other Subjects.* Arindam Chakrabarti, Bloomsbury Academic, India, 2019.


[8] D.N Shatri's Critique of Indian Realism, pg. 331

[9] Praśastapāda Bhāṣya

11. *Tarka-Saṁgraha of Annaṃbhaṭṭa*, Boḍasa, Athalye ed. with critical and explanatory notes by the late Yashwant Vasudev Athalye, together with introduction and English translation of the text by the late Mahadev Rajaram Bodas. Bombay Sanskrit and Prakrit series, 2003.

12. *The Nyāya-Vaiśeṣika Theory of Universals*. Kishor Chakrabarti, Journal of Indian Philosophy and Religion, Vol. 21, pp. 72-102, 2016.

13. *The Problems of Universals in Indian Philosophy*. Raja Ram Dravid, Varanasi: Motilal Banarsidass Publishers, 2001.

14. *Universals*, F. P Ramsey Universals. Mind, Vol. 34(136), pp. 401-417, 1925.

15. *Universals*, J.P Moreland, Routledge, New York, 2014.

❀❀❀

# श्रीगङ्गानन्दकवीन्द्र के काव्यदोष लक्षण की समीक्षा

ब्रजेश कश्यप

सारांश

आचार्य श्री गङ्गानन्द कवीन्द्र मैथिल काव्यशास्त्री हैं। यद्यपि मिथिला प्रमुख रूप से न्याय जैसे दर्शन शास्त्र की भूमि के रूप में प्रसिद्ध है तथापि वहाँ काव्यशास्त्र के आचार्यों की भी परम्परा रही है। आचार्य गङ्गानन्दकवीन्द्र भी जिनमें से एक प्रमुख आचार्य हैं। इन्होंने काव्यदोष के प्रतिपादन के लिए एक स्वतन्त्र ग्रन्थ का प्रणयन किया। यद्यपि प्रमेय प्रतिपादन में ये आचार्य मम्मट से प्रभावित दिखते हैं तथापि इनकी प्रतिपादन शैली की भिन्नता इनकी प्रमुख विशेषता है। ये न केवल प्रतिपादनशैली में पृथक् हैं, अपितु कतिपय नवीन परिष्कार भी प्रस्तुत करते हैं। प्रस्तुत लेख में इन के द्वारा प्रतिपादित दोष लक्षण से सम्बद्ध तथ्यों की समीक्षा की गई है।

(कूटशब्द – श्रीगङ्गानन्द कवीन्द्र, काव्यदोष, परिष्कार, दोषलक्षण, काव्यडाकिनी, कविशिक्षा)

.....

## परिचय

यद्यपि विद्वज्जनों में मिथिला की प्रसिद्धि समृद्ध दार्शनिक उद्भावनाओं को लेकर अधिक है तथापि काव्यशास्त्रीय चिन्तन के क्षेत्र में भी यहाँ केशव मिश्र, गोविन्द ठक्कुर, भानुदत्त तथा गङ्गानन्दकवीन्द्र जैसे कई उच्च कोटि के चिन्तक हुए हैं। इनमें गङ्गानन्द कवीन्द्र ने कविशिक्षा[1] के अङ्गभूत दोषतत्त्व को लेकर एक स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना की तथा उसमें समग्र दोषों का साङ्गोपाङ्ग विवेचन प्रस्तुत किया है।

## कविशिक्षा में दोष प्रतिपादन की अनिवार्यता

काव्य प्रयोजन के चिन्तन के क्रम में कतिपय काव्यशास्त्रीय आचार्यों ने काव्य को त्रिविध तथा चतुर्विध पुरुषार्थ प्रदान करने वाला बताया है। तथा यश को भी काव्य के प्रयोजन के रूप में परिगणित किया है[2]। किन्तु यत्किञ्चित् काव्य ही यश प्रदान करने में सक्षम नहीं होता अपितु सत्काव्य ही। अतः सत्काव्य की ही रचना करनी चाहिए, कुकाव्य की नहीं। सत्काव्य सत्कवित्व का प्रयोजक होता है तथा कुकाव्य कुकवित्व का प्रयोजक। विद्वानों ने कुकवित्व को साक्षात् मृत्यु स्वरूप माना है। चूँकि कविता न करने से कोई पाप नहीं लगता, कोई अधर्म नहीं हो जाता है, कोई आधि व्याधि नहीं आ टपकती है, और न ही कविता न रचने को लोक में कोई अपराध माना जाता है अथवा ना ही इस कारण से कोई दण्डित करने आता है, कि तुम कोई कविता क्यों नहीं रचते[3]? किन्तु कुकविता से अपयश का कलङ्क अवश्य प्राप्त होता है। और प्राचीन भारतीय धारणाओं के अनुसार अपयश से नरकलोक की प्राप्ति होती है[4]। अथवा वर्तमान परिप्रेक्ष्य में देखें तो अपयश जीवन को नर्क बना देता है। किसी भी देश काल में एक असम्मानित व्यक्ति की मनोव्यथा का आकलन एक सुबुद्ध व्यक्ति कर सकता है कि सामाजिक तौर पर उसका जीवन जीना कितना कठिन होता है।

---

1 यहाँ कविशिक्षा पद का प्रयोग पारिभाषिक कविशिक्षा नहीं अपितु काव्यशास्त्रीय उपदेश रूप शिक्षा के अर्थ में किया गया है।

2 काव्यं सद्दृष्टादृष्टार्थम्। प्रीति-कीर्ति-हेतुत्वात्॥ (काव्या.सू., पृ.२)
काव्यं यशसे॥ कालिदासादीनामिव यशः॥ (काव्यप्र., पृ.५)
जाग्रद्भासुरपद्मकेसरयशःशीतांशुरस्माद्बुधाः॥ (चन्द्रा., पृ.४)॥

3 नाकवित्वमधर्माय व्याधये दण्डनाय वा। कुकवित्वं पुनः साक्षान्मृतिमाहुर्मनीषिणः॥ (काव्या., पृ.६)

4 प्रतिष्ठां काव्यबन्धस्य यशसः सरणिं विदुः। अकीर्तिवर्तिनीं त्वेवं कुकवित्वविडम्बनाम्॥
कीर्तिं स्वर्गफलामाहुरासंसारं विपश्चितः। अकीर्तिं तु निरालोकनरकोद्देशदूतिकाम्॥ (काव्या.सू., पृ.२)

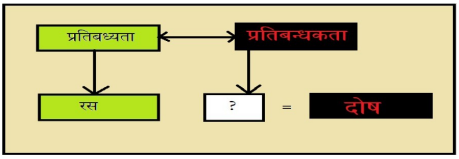


Figure 6.1 : दोषलक्षण

अतः दोषविवेचन कविशिक्षा का अनिवार्य विषय है यह सिद्ध है।

## आचार्य गङ्गानन्द के अनुसार काव्यदोष का सामान्य लक्षण तथा उसकी विशेषता

चूँकि यह सिद्ध है कि दोषविवेचन कविशिक्षा का अनिवार्य विषय है तो अब प्रश्न यह है कि दोष कहते किसे हैं ? इसके उत्तर में आचार्य गङ्गानन्द कवीन्द्र का मत यह है कि जो रस की प्रतीति में अवरोध उत्पन्न करे उसे दोष कहते हैं। यहाँ अवरोध का तात्पर्य है विघात अथवा प्रतिबन्ध। अतः इस प्रकार रस के विघातक अथवा प्रतिबन्धक तत्त्व को दोष कहते हैं लक्षण का यह पर्यवसित अर्थ सिद्ध हुआ[5]।

आपाततः यह अंश पूर्वाचार्य प्रतिपादित दोषस्वरूप का पिष्टपेषण सा प्रतीत होता है किन्तु ऐसा है नहीं। चूँकि कतिपय अंशों में आचार्य गङ्गानन्दकवीन्द्र का चिन्तन अपूर्व है। जिन अंशों में नवीनता है वे अंश इस प्रकार हैं -

- प्रथम - विवक्षित रसविघातकता का विवेचन।
- द्वितीय - रसविघातकता की स्थिति का विवेचन।
- तृतीय - प्रतिपादन शैलीगत विशेषता।

## प्रथम विशेषता

आचार्य गङ्गानन्द कवीन्द्र द्वारा प्रतिपादित दोषलक्षण के उपर्युक्त तीनों विशेषताओं में प्रथम अंश यह है कि इन्होंने रसविघातकता के विवक्षित स्थल का भी चिन्तन प्रस्तुत किया है। जिसको इस प्रकार समझा जा सकता है –

**घटना १** - कल्पना करें कि आप शाकुन्तल पढ़ रहे हैं, आपके चित्त में शाकुन्तल विषयिणी भावना उद्बुद्ध हो रही है तथा आप उस भावना के पुनः पुनः अनुसन्धान से उस अविच्छिन्न भावनाधारा को उपलब्ध हो रहे हैं तथा तत्तत् रसास्वाद की चर्वणा कर रहे हैं। इसी बीच आपका मित्र उछलता कूदता आता है, तथा परिहास में आपको झकझोरता है, अथवा आपको कुछ अन्य बातों में व्यापृत करना चाहता है, अथवा अन्य कुछ अनीप्सित करता है।

**घटना २** - अथवा आप मेघदूत का पाठ करते हुए उपर्युक्त रीति से साधारणीकृत होने के कारण यक्ष तथा यक्षिणी के वियोगभाव की चर्वणा कर रहे हैं इसी बीच कुछ कुत्ते भौंकते हुए वहीं लड़ने लगते हैं।

---

[5] मुख्यावरोधकृद्दोषः ॥ मुख्यो रसः। अवरोधकृत् प्रतिबन्धकः। (काव्यडा., पृ.२)

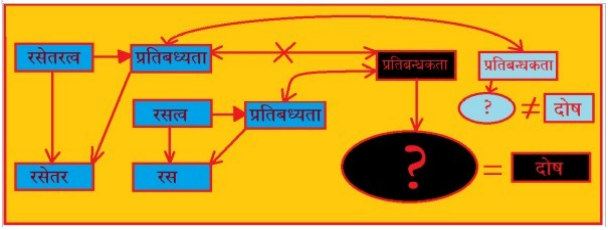


Figure 6.2 : रसमात्र प्रतिबन्धकता का स्वरूप।

**प्रभाव** - क्या आप की रसचर्वणा विछिन्न हुई या नहीं ? निश्चय ही आपका उत्तर हाँ में होगा।

**प्रश्न** - क्या आप उपर्युक्त घटनाओं के परिणामस्वरूप घटित रसचर्वणा के भङ्ग को काव्य का दोष कहेंगे ? कदापि नहीं कह सकते।

तो इस प्रकार रस विघातकता तो यत्किञ्चिन्निष्ठा हो सकती है जिसकी इयत्ता नहीं है, और न ही की जा सकती है। इसी तथ्य को आचार्य गङ्गानन्दकवीन्द्र ने एक उदाहरण से समझाया है –

जिस समय आप रसचर्वणा कर रहे हैं उस समय यदि कोई आप को थप्पड़ मार दे अथवा इस प्रकार की अन्य कोई घटना आप के साथ या आप के आस पास घटित हो जाए तो आपकी रसचर्वणा का विघात होगा या नहीं? अवश्य ही आपकी काव्यार्थभावना विच्छिन्न होगी जिससे रसचर्वणा भी अवरुद्ध हो जाएगी। तो इस प्रकार सिद्ध हुआ कि रसावरोध तो बहुत से कारणों से उत्पन्न हो सकता है। अतः रस विघातकता/प्रतिबन्धकता नियतधर्मिनिष्ठ धर्म नहीं है। अपितु इसके अनेक आश्रय हैं। किन्तु यहाँ प्रकृत में काव्यदोष के रूप में कौन सा रस विघातक/प्रतिबन्धक धर्मी अभिप्रेत है ? इस पर कहते हैं कि श्रोत्रकटुत्व आदिनिष्ठ रसविघातकता ही यहाँ विवक्षित है।

**निष्कर्ष** - अतः उपर्युक्त विवक्षित रसविघातकता का आश्रयभूत श्रोत्रकटुत्व आदि ही काव्यदोष के रूप में इष्ट हैं, न कि चपेटापातनादि। और इस प्रकार उन्हीं श्रोत्रकटुत्वादि को प्रकृत में दोष कहेंगे।[6] इस प्रकार रस का पर्यवसित लक्षण होता है 'रसमात्रप्रतिबन्धकतावच्छेदकरूपवत्त्व'। अर्थात् जो रसेतरनिष्ठ प्रतिबध्यता से निरूपित प्रतिबन्धकता का अवच्छेदक न होता हुआ रसनिष्ठ प्रतिबध्यता से निरूपित प्रतिबन्धकता का अवच्छेदक हो उसे दोष कहते हैं।[7] इसको इस प्रकार समझा जा सकता है –

## द्वितीय विशेषता

आचार्य गङ्गानन्द कवीन्द्र के दोषचिन्तन की विशेषता का द्वितीय बिन्दु यह है कि रस के विघातक की स्थिति किस प्रकार की होती है इस का भी चिन्तन प्रस्तुत किया है आचार्य ने। जो इस प्रकार है – रस के विघातक अथवा प्रतिबन्धक की दो प्रकार की स्थितियाँ होती हैं।[8]

---

6 तत्तु रूपं श्रोत्रकटुत्वादेरेव, न चपेटापातनादेः ॥ (काव्यडा., पृ.१)

7 रसमात्रप्रतिबन्धकतावच्छेदकरूपवानित्यर्थः। (काव्यडा., पृ.१)

8 प्रतिबन्धकता तु क्वचित्साक्षात् क्वचित्परम्परया चेत्यालोचनीयम्। (काव्यडा., पृ.१)

- अव्यवहित स्थिति अर्थात् साक्षात् रसप्रतिबन्धकता।
- व्यवहित स्थिति अर्थात् परम्परया रसप्रतिबन्धकता।

## तृतीय विशेषता

आचार्य गङ्गानन्दकवीन्द्र के दोषप्रतिपादन के वैशिष्ट्य का तृतीय और प्रमुख बिन्दु है प्रतिपादन शैलीगत विशेषता। इनकी प्रतिपादन शैली नव्यन्याय की भाषा से अनुप्राणित है। इसको दृष्टान्त द्वारा इस प्रकार समझा जा सकता है – दोष लक्षण कारिका में दोषसामान्य का लक्षण करते हुए आचार्य कहते हैं कि - "मुख्यावरोधकृद्दोषः"[9]। यहाँ अवरोध पद का अर्थ है प्रतिबन्ध इस प्रकार अवरोधकृत् का अर्थ हुआ प्रतिबन्धकृत् = प्रतिबन्धक = प्रतिबन्ध करने वाला। यह प्रतिबन्धक अपने आप में दो अंशों से युक्त है सापेक्ष परिभाषा होने के कारण। प्रथम अंश है प्रतिबध्य दूसरा प्रतिबन्धक। नव्यन्याय की पद्धति के अनुसार इन दोनों के मध्य निरूप्यनिरूपकभाव स्वीकृत है। यहाँ प्रतिबध्यता रसनिष्ठा विवक्षित है। तथा रसनिष्ठा जो प्रतिबध्यता उससे निरूपिता जो जो प्रतिबन्धकता वह यन्निष्ठा हो उसे दोष कहते हैं ऐसा अर्थ पर्यवसित होता है।

इतने से तो सामान्यतः लक्षण प्रस्तावित हुआ है अभी इसकी परीक्षा व परिष्कार बाकी है। परिष्कार का बीज तो विवक्षित रसविघातकता के विवेचन में सूचित कर दिया गया है। उसी का विस्तार से विश्लेषण वृत्ति में किया गया है। यद्यपि श्रोत्रकटुत्वादि में शृङ्गारादिसंवित्प्रतिबन्धकता है तथापि रौद्रादिसंवित्प्रतिबन्धकता तो नहीं है। अतः यत्किञ्चित् रस से निरूपित प्रतिबन्धकता होने पर भी रसान्तर से निरूपित प्रतिबन्धकता के अभाव होने से श्रोत्रकटुत्वादि रसनिष्ठप्रतिबध्यता से निरूपित प्रतिबन्धकता के अनाश्रय भी हैं अतः इन्हें कैसे दोष मान सकते हैं ? इस अव्याप्ति से शङ्कित रसमात्रप्रतिबन्धकतावच्छेदकरूपवत्त्व लक्षण में परिष्कार करते हैं रसमात्रप्रतिबन्धकता के स्थान पर रसत्वव्याप्यधर्मावच्छिन्नप्रतिबध्यतानिरूपितप्रतिबन्धकता का निवेश करके। इस प्रकार रसत्व का जो व्याप्य धर्म शृङ्गारत्वादि उससे जो अवच्छिन्न शृङ्गारादि तद्विषयिणी जो उपस्थिति तन्निष्ठा जो प्रतिबध्यता उससे निरूपित प्रतिबन्धकता दोष का स्वरूप सिद्ध हुआ। जिसमें उक्त प्रदर्शित अव्याप्ति नहीं है।[10] इसको निम्नरूपेण दो खण्डों में विभक्त कर समझा जा सकता है -

1. शृङ्गारत्वादि तथा रसत्व का परस्पर व्याप्य-व्यापक भाव।
2. रसत्व व्याप्य शृङ्गारत्वादि व्याप्यधर्मावच्छिन्न प्रतिबध्यतानिरूपितप्रतिबन्धकता।

प्रथम अंश को चित्र द्वारा इस प्रकार समझा जा सकता है -

इस प्रकार रसत्व जो है वह शृङ्गारत्व आदि की अपेक्षया व्यापक धर्म है तथा शृङ्गारत्व आदि रसत्व की अपेक्षा व्याप्य धर्म हैं। रसत्व के व्याप्य धर्म शृङ्गारत्वादि से अवच्छिन्न जो शृङ्गारादि तद्विषयिणी जो उपस्थिति = ज्ञान = (शृङ्गारादि) संवित्, तन्निष्ठा जो प्रतिबध्यता तन्निरूपिता प्रतिबन्धकता (प्रकृत में श्रोत्रकटुत्वादिनिष्ठा प्रतिबन्धकता) उसका जो अवच्छेदक (प्रकृत में श्रोत्रकटुत्वादि) तद्रूपवत्त्व (अर्थात् प्रकृत में श्रोत्रकटुत्वादिरूपवत्त्व = श्रोत्रकटुत्वादिरूप = श्रोत्रकटुत्वादि) ही दोषत्व है। यह द्वितीय अंश का तात्पर्य है। जिसको इस प्रकार समझा जा सकता है -

इस परिष्कृत लक्षण से दो लाभ होते हैं –

---

9 काव्यडा., पृ.१

10 ननु श्रोत्रकटुत्वादेः रौद्रादिरसबुद्ध्यनवरोधकत्वात्तत्राऽव्याप्तिरित्यत आह – यस्य ज्ञाने सति क्वापि प्रतिबन्धोऽस्ति तत्र सः। अत एवाऽस्य दोषस्य प्रोक्ता धीरैरनित्यता॥ स दोषः। अस्य श्रोत्रकटुत्वादेः। तथा च रसत्वव्याप्यधर्मावच्छिन्नोपस्थितिप्रतिबध्यतानिरूपितप्रतिबन्धकतावच्छेदकरूपवत्त्वं तत्त्वम्। व्याप्यता तु भेदाऽभेदसाधारणी। तेन सकलरसप्रतिबन्धकेऽसाधुत्वादौ नाऽव्याप्तिः। (काव्यडा., पृ.१-२)

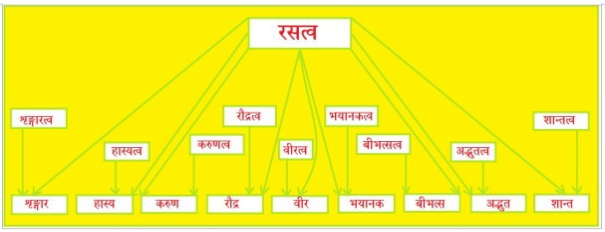


Figure 6.3 : शृङ्गारत्वादि तथा रसत्व के मध्य व्याप्य-व्यापक भाव प्रदर्शन।

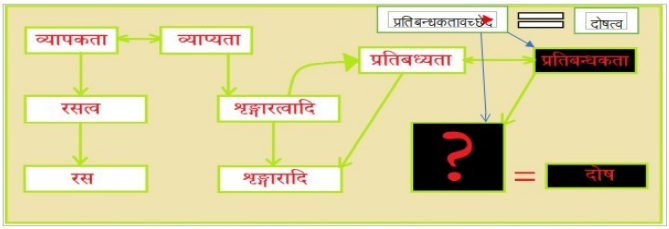


Figure 6.4 : आचार्य गङ्गानन्दकवीन्द्र के निष्कृष्ट परिष्कृत दोषलक्षण का चित्रीय निरूपण।

- रसत्व के व्याप्य शृङ्गारत्वादि अन्यतम निष्ठ प्रतिबध्यतानिरूपित प्रतिबन्धकताश्रय श्रुतिकटुत्वादि भी दोष की कोटि में परिगणित हो जाते हैं।
- सकल रस प्रतिबन्धक असाधुत्व आदि भी दोष की कोटि में परिगणित हो जाते हैं।

**निष्कर्ष** - इस प्रकार आचार्य श्रीगङ्गानन्दकवीन्द्र के दोष विवेचन में नव्यन्याय की प्रतिपादनशैली स्पष्ट रूप से परिलक्षित की जा सकती है।

## शोधनिष्कर्ष

- काव्यप्रकाश में 'मुख्यार्थ' पद से रस विवक्षित है तथा 'हति' पद से प्रतिबन्धक इस प्रकार मुख्यार्थहति अर्थात् रस के प्रतिबन्धक तत्त्व को दोष कहते हैं ऐसा अर्थ पर्यवसित होता है। काव्यडाकिनी में मुख्यार्थ पद से नहीं अपितु 'मुख्य' पद मात्र से रस विविक्षित है तथा 'अवरोधकृत्' पद से प्रतिबन्धक इस प्रकार यहाँ भी मुख्यावरोधकृत् अर्थात् रस प्रतिबन्धक तत्त्व को दोष कहते हैं ऐसा ही तात्पर्य विवक्षित होता है। इस प्रकार रसनिष्ठा जो प्रतिबध्यता उससे निरूपित जो प्रतिबन्धकता उसका जो आश्रय उसे दोष कहते हैं ऐसा उभयत्र समान ही तात्पर्य फलित होता है। अतः हम कह सकते हैं कि दोष के सामान्य लक्षण निरूपण में मम्मट तथा गङ्गानन्दकवीन्द्र के प्रतिपादनशैली में भेद प्रतीत होने पर भी तात्पर्य में एकरूपता है। किन्तु परिष्कार की पराकोटि का निदर्शन आचार्य गङ्गानन्द के निरूपण में ही होता है।

- आचार्य गङ्गानन्दकवीन्द्र के अनुसार "रसनिष्ठप्रतिबध्यतानिरूपितप्रतिबन्धकताश्रयत्व" दोष का सामान्य का लक्षण है।
- उक्त "रस-निष्ठ-प्रतिबध्यता-निरूपित-प्रतिबन्धकताश्रयत्व" लक्षण में अव्याप्ति की सम्भावना करते हुए आचार्य ने "रसत्वव्याप्यधर्मावच्छिन्नोपस्थितिप्रतिबध्यतानिरूपितप्रतिबन्धकतावच्छेदकरूपवत्त्वं दोषत्वम्" यह निष्कृष्ट परिष्कृत लक्षण किया।
- उक्त प्रदर्शित रीति से यह स्पष्ट है कि आचार्य गङ्गानन्दकवीन्द्र के दोषप्रतिपादन में पूर्वाचार्य के मतों के सङ्ग्रहपूर्वक नव्यन्याय की प्रविधि, परिष्कार व भाषा शैली का अनुप्रयोग करते हुए दोषों का परिष्कारपूर्वक नवीनतया सम्यक् प्रतिपादन किया गया है।

## सङ्केताक्षरसूची

1. काव्यडा. - काव्यडाकिनी
2. काव्यप्र. - काव्यप्रकाश
3. काव्या. - काव्यालङ्कार
4. काव्या.सू. - काव्यालङ्कारसूत्राणि
5. चन्द्रा. - चन्द्रालोक

## सन्दर्भग्रन्थसूची


1. कवीन्द्र गङ्गानन्दविरचित काव्यडाकिनी, गोपीनाथ कविराज (सम्पा.), विद्या विलास प्रेस, वाराणसी, १९२४ ई.
2. जयदेवकृत चन्द्रालोक, महादेवशर्मा (सम्पा.), द्वितीय संस्करण, गुजराती प्रिण्टिंग प्रेस, मुम्बई, ९२३ ई.
3. दण्डीकृत काव्यादर्श, रङ्गाचार्य रेड्डी (सम्पा.), BORI, पूना, १९३८ ई.
4. भामहकृत काव्यलङ्कार, देवेन्द्रनाथ शर्मा (भाष्य.), द्वितीय संस्करण, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९८५ ई.
5. मम्मटविरचित काव्यप्रकाश, वासुदेवशास्त्री अभ्यंकर (सम्पा.), द्वितीय संस्करण, चौखम्बा, वाराणसी, १९९४ ई.
6. वामनकृत काव्यालङ्कारसूत्राणि, पं. दुर्गाप्रसाद (सम्पा.), काशीनाथशर्मा, वासुदेवशर्मा, निर्णय सागर प्रेस, मुम्बई, १९२६ ई.
7. *A Primer of Navya Nyaya Language and Methodology* (NNBP), Nyāyatīrtha M.M. Maheshchandra, (Trans.) Ujjwala Jha, Kolkata, The Asiatic Society, Dec – 2004 C.E.


❀❀❀

# Sociolinguistic importance of Kāśikā Vṛtti : A study

Dharmendra Das

Abstract

*Although both the old and the new scholars of Sanskrit Grammar have contributed immensely to the field of Linguistics, it is Pāṇini who in his Aṣṭādhyāyī, first set a linguistic model for the description of language in 5th Century B.C. Kāśikā-Vṛtti of Jayāditya and Vāmana is a well-coded gloss on Pāṇini's Aṣṭādhyāyī. The present study discusses the sociolinguistic expression found in Kāśikā in the form of examples and counter examples which are supplied by its authors to illustrate the working of the aphorisms of Aṣṭādhyāyī.*

*(Keywords: Kāśikā, Example, Sociolinguistic, Pāṇini, Language, Sanskrit, Grammar)*

.....

## Introduction

Throughout the world, the scholars have shown great interest in the field of language-analysis and in this respect ancient Indian Linguists have contributed immensely by studying language-behavior of human beings. Like any other ancient language of any part of the globe, Sanskrit has been the successful means of carrying reflections of the ancient Indian cultural heritage. Sanskrit grammarians too have not lagged behind in this mission. As objective recorders of facts, Indian grammarians have tried to reveal various aspects of social vehaviour through their supply of examples and counter-examples. Sociolinguistic is a study of language in relation to social factor. This is the descriptive study of the effect of any and all aspects of society, including cultural norms, expectations, and context, on the way language is used, and society's effect on language. It differs from sociology of language, which focuses on the effect of language on society.[1] In the present context, scientific study of Sanskrit language and ancient society is a call. Knowledge of Pāṇini's grammar is essential for Sanskrit language. The name of *Aṣṭādhyāyī* comes before us by saying the grammar of Pāṇini. *Aṣṭādhyāyī* is a composition of aphorisms. It is very difficult to explain the meaning of aphorisms without the help of commentary text. The enormous commentaries are available on this. They deal with different perspectives of research and study. *Kāśikā* or *Kāśikā-Vṛtti* is a 'gloss' whose purpose is to precisely explain *sūtra*s (aphorisms) without leaving any doubt in the minds of the readers. To illustrate the working of aphorisms of Pāṇini's

[1] https://en.wikipedia.org/wiki/Sociolinguistics

*Aṣṭādhyāyī*, the author of *Kāśikā* supply sociolinguistic data in the form of examples and counter examples.

## Scope and Relevance of the Present study

Examples of Sanskrit grammatical text constitute a lively norms of language-use which may be considered as one of its primary aspects. The description of this aspect of language-use in society in relation to various facts of social life tends to be interesting and the legitimate goal of sociolinguistic investigation. It is taken for granted that the *trimuni vyākaraṇa* samples and records facts of society from the source of natural speech, though the degree of natural character of speech is observed diminishing successively among the three due to declining of social attitude towards Sanskrit language. Coming unto the time of Jayāditya and Vāmana, the natural speech might be progressing rapidly towards a theoretical possibility. Still the historical recording mainly of diachronic nature noticed in the *Kāśikā Vṛtti (KV)* makes it appropriate a text of sociolinguistic investigation. It will not be out of place to prepare below a brief but relevant outline of the nature and necessity of sociolinguistic investigation when Pāṇini is claimed to be a sociolinguist having the critical attitude of accurate recording of facts of the society in his *Aṣṭādhyāyī*.

## Role of Examples for illustration of Pāṇinian aphorisms

Pāṇini did not amplify this aphorism with any explanations or illustrations. Illustration is called that which makes the meaning of the aphorisms heart-wrenching. Phrase, substance statement, compound, sentence plan; prepositional solution and providing suitable examples are the fundamental characteristics of the commentary.[2] According to Patañjali, it is not possible to explain the Pāṇinian aphorisms without examples and counter examples.[3] In this connection, *KV* as a commentary text supply sufficient examples and counter examples for the fulfillment of the goal of Sanskrit grammar. For the purpose of example, collecting the words prevalent in the society is an important contribution of *KV* to the field of research in Sanskrit.

---

2 *padachedaḥ padārthoktirvigraho vaakyayojanā*
*Pūrvapakṣasamādhānaṁ vyākhyānaṁ pañca lakṣaṇam..*
(Puruṣottamadevakṛta-Bhāṣāvṛttiḥ) (Introduction Section)

3 *na kevalaṁ carcāpadāni vyākhyānam – vṛddhiḥ āt aij iti. kiṁ tarhi? 'udāharaṇam, pratyudāharaṇam, vākyādhyāhāraḥ' ityet samuditaṁ vyākhyānaṁ bhavati.* (Paspaśānhikam of Mahābhāṣyam)

## Examples on agricultural practices in the society

Some words which are noticed in *KV* give idea about the harvesting period of agriculture. These kinds of words are naturally used in the society. The author of *KV* might have keen observation on that and have placed them as example for the illustration of Pāṇinian rules.

### *Tiṣṭhadguprabhṛtīni ca*[4]

- *tiṣṭhadgu* - The time when the cows stand to be milked, i.e., milking time after the sunset.
- *vahadgu* - The time when the cows carry, or at the time when oxen are yoked to carry load, i.e. autumn season
- *āyatīgavam* - The time when cattle return, i.e. dusk
- *khaleyavam* - At the time when the barley is on the threshing floor, i.e., at barley-threshing time
- *khalebusam* - The time of obtaining the threshing field, i.e. at the threshing time)
- *lūnayavam* - After the barley has been cut or after barley harvest
- *lūyamānayavam* - When the barley is being harvested.
- *pūtayavam* - At the time of winnowing barley
- *pūyamānayavam* - At the time when barley is being winnowed
- *saṃhṛtayavam* - After the barley has been got in or collected. i.e., post-harvesting time of barley crop
- *saṁhriyamāṇayavam* - While the barley is being collected.
- *saṁhṛtabusam* - After the chaff has been got in or collected.
- *saṁhriyamāṇabusam* - While the chaff is being collected.

Determining the various periods in agricultural work, the mentioned grammar example illuminates the ancient agricultural tradition. Pāṇini era India can be experienced in the present perspective from the point of view of agricultural science. The placement of the popular words in the folk as a grammar example shows the social consciousness of the author. Agriculture was an integral tradition of the society, Pāṇini Śāstra also attests to this fact. The *Vaiśya* class of the society was skilled in agricultural work and in commerce. The introduction of a scientific method about the agricultural

[4] Kā.Vṛ.- 3.1.17

period can be obtained from the example given above. In social science, we can place this fact in such a way that it gives a sense of value to an agricultural life. This proves that Sanskrit grammatical example is important even for the modern social research world. Along with grammar knowledge, the basis of social knowledge is also an introduction to sociolinguistics through Pāṇini's grammatical example.

## Examples on Social Etiquette

Etiquette are those importance linguistic expressions observed to have been a set of norms in any linguistic community. Hence they are to be studied from sociolinguistic perspective. Some Etiquette may be defined as a system of conventional rules controlling social or professional behavior.[5] The following example can be given of how the *Brāhman* and *Śūdra* caste behave in one place in the society. While providing an introduction to the social system, the authors also fulfill the goal of grammar.

## *Karakārhāṇāṁ cākāratve saptamī vaktavyā*[6]

In the following example, Brāhman has been given more importance in the society than *Śūdra*.

Sans : *daridreṣvāsīneṣu ṛddhā bhuñjate.*
Eng : The poor sit and the rich eat
Sans : *bṛṣaleṣvāsīneṣu brāhmaṇāstaranti.*
Eng : *Śūdras* sit and *Brāhman*s cross

## *Tadviparyāse ca saptamī vaktavya*[7]

In the following example, *Śūdra* has been given more importance in the society than *Brāhman*.

Sans : *ṛddheṣvāsīneṣu daridrā bhuñjate.*
Eng : The rich sit and the poor eat.
Sans : *brāhmaṇeṣvāsīneṣu bṛṣalāstaranti*
Eng : *Brahman*s sit and *Śūdra*s cross.

In the social system, it was strictly forbidden for *Brahman*s and *Śūdra*s to bath and eat food together, and cross the river in a boat. The modern social system does not accept this tradition. The ancient social system appears to have changed in the modern period. But it cannot be a mistake to take the

5 See *Encyclopedia Britanica*, William Benton, London Chicago, Vol.8(1768) p.795.
6 Mahā.- Vārttika 4, Kā.Vṛ.- 2.3.36
7 Mahā.- Vārttika 5, Kā.Vṛ.- 2.3.36

above example from the point of view of grammar rule. The study of society, language and grammar is the call of modern language exploration.

## *Avyaya'yathābhipretākhyāne kṛñaḥ ktvāṇamulau*[8]

There was a system in the society to speak the praiseworthy thing in a high voice and the condemned news in the lower voice.

*brāhmaṇa! putraste jātaḥ, kiṁ tarhi brṣala! nīcaiḥ kṛtyācakṣe. uccairnāma priyamākhyeyam.*

O Brāhman! Your son is born, so oh low one! Why say it softly? Joyful thing should be said aloud.

*brāhmaṇa! kanyā te garbhiṇī, kiṁ tarhi brṣaloccaiḥ krtyācakṣe. nīcairnāmāpriyamākhyeyam.*

O Brāhman! Your daughter has become pregnant, so oh low one! Why is saying this in a loud voice, the unpleasant incident should be said slowly.

If such a statement appears as it is not favored. The use of such narrative in Sanskrit at the social level gives an introduction to the immediate social situation. Fulfilling the purpose of grammar, in this way, an example also gives that identity to an ancient social science.

## *Varṇānāmānupūrvyeṇa pūrvanipātaḥ – brāhmaṇakṣatriyaviṭsūdrāḥ*[9]

There is a pre-discipline from the order of birth, the meaning of the present grammar rule is. The same point is supported in Vedic literature also.

*mukhato brahmaṇamasrjadvāhubhyāṁ*
*rājanyamūrubhyāṁ vaiśyaṁ padbhyāṁ śūdram.*[10]

*Brahmā*, the creator gave birth to a *Brāhman* from his mouth, a *Kṣatriya* from his arms, a *Vaiśya* from his thigh and a *Śudra* from his feet. The *Kṣatriya* was the protector and hero of the nation for being born from the arms of the creator.[11] Sanskrit grammar rules have been adopted on the basis of the prevailing caste system in the society.

---

8 Kā.Vṛ.- 3.4.59

9 Mahā.- vārttika-6, Kā.Vṛ.- 2.3.34

10 Ṛg.-10.97

11 *kṣatriyo manuṣyāṇāṁ śūratamaḥ* (Kā.Vṛ.- 2.2.10)

## *Kanyayā śokaḥ*[12]

In the world, the person who is capable of means of fruit is called the cause. The example cited here "*kanyayā śokaḥ* (mourning by girl)" is a social example. This example further indicates that even at that time the birth of a girl was mournful. Most of the time, even in the progressive era, there is a similar perception. Dowry etc. has to be given in the marriage of a girl, while dowry is received in the marriage of a son. Apart from this, the lineage also runs from the son. That is why the happiness that is celebrated on the birth of a son is not on the birth of a girl. Somewhere the family becomes really sad due to having more girls. All these ideas are coming from the time when the place of woman was considered secondary than that of man. It was a curse for the women. Now slowly it is getting changed which was not so in the Vedic period. From the point of view of sociolinguistics, this example can be considered meaningful.

## Examples on social play and livelihood

The introduction of various sports and livelihoods prevalent in the society is given through the example of grammar.[13] The name of the famous livelihood and sports in the society has come into the language practice and has been placed in the grammar example.

## Social Plays

Sports were a part of the society. People used to participate in the above mentioned sports for fun. To get the prevailing sports relation fact in the society in the form of Sanskrit grammatical example may have the study of sociolinguistic.

| Social Plays | Description | KV |
|---|---|---|
| *uddālakapuṣpabhañjikā* | 'breaking Uddālaka flowers', a sort of game (played by people in the eastern districts), | *prācāṁ krīḍāyām* (6.2.74) |
| *vāraṇapuṣpapracāyikā* | breaking *vāraṇa* flowers', a sort of game (played by people in the eastern districts), | |
| *Śālabhañjikā* | an image or figure made of Śāl wood, a kind of game played in the east of India, | |
| *Tālabhañjikā* | gathering of the palm plant', a kind of game (Played by people in the eastern districts) . | |
| *Jīvaputrapracāyikā* | gathering of the Jīva-putra plant', a kind of game (played by people in the northern districts) | |

12 *hetau* - Kā.Vṛ.- 2.3.23

13 *nityaṁ krīḍājīvikayoḥ* (Kā.Vṛ.- 2.2.17)

## Livelihood

Some people still paint and write their names on hands, feet and arms etc. This is called the art of drawing on the body parts. Similar actions are also possible in the case of teeth and nails. Some people used to live in the society considering the art of painting on the body as their livelihood. In language practice, the name of that art and livelihood had come in the form of an example of grammar. Such kind of examples plays an important role in social studies as well as language study. From the point of view of sociolinguistics also the importance of the example remains the same.

| Livelihood | Description | KV |
|---|---|---|
| *dantalekhakaḥ* | Teeth Painter: A person who paint on the teeth *is* called *dantalekhakaḥ* in Sanskrit | *ake jīvikārthe* (6.2.73) |
| *nakhalekhakaḥ* | Nail Painter: A person who paint on the nail is called *nakhalekhakaḥ* in Sanskrit. | |
| *tantuvāyaḥ* | Weaver: A person who lives by weaving cloth is called *tantuvāyaḥ* in Sanskrit. | *Hvāvāmaśca* (3.2.2) |
| *ayaskāraḥ* | Blacksmith: A person whose job is to make and repair things made of iron is called *ayaskāraḥ* in Sanskrit. | *śilpini cākṛñaḥ* (6.2.76) |
| *kumbhakāraḥ* | Potter: A person who makes pot on a wheel is called *kumbhakāraḥ* in Sanskrit. The potter is a skilled craftsperson who manufactures and sells ceramics such as pots, cups, vases, and bowls. | *Karmṇyaṇ* (3.2.1), *śilpini cākṛñaḥ* (6.2.76) |
| *rathakāraḥ* | Chariot designer: A person who designs Chariot is called *rathakāraḥ* in Sanskrit. | *Saṁjñāyāñca* (6.2.77) |

## Examples on Social Condemnation

For those who do not follow the right path in the society, some words have become an example of grammar by coming into language practice.[14]

*adhītya snātvā ca gurubhirnujñātena khatvāroḍhavyā.*
*ya idānīmto'nyathā karoti sa ucyate – khatvarūḍho'yaṁ jālmaḥ..*[15]

[14] *khaṭvā kṣepe* (Kā.Vṛ.- 2.1.26)

[15] Mahā., 2.1.25

Its meaning is that after completing one's study of a celibate, after taking a part-bath of the convocation, one should enter the householder's *āśram* and then sleep on the *khaṭvā*. It is said in *Smṛti* (Law Book) etc. On the contrary, by doing this behavior, leaving *Bhūmiśayana* (sleeping on the ground) and doing *Khaṭvārohaṇa* (sleeping on the bed), for that it is used. It's like an idiom. Idiomatically, it means that a pupil who takes luxury of householder by sleeping on a cot. The *āśramadharma* or educational laws in ancient India permit the marriage of a person only when he is declared a *snātaka*, whose final bathing in the *samāvartana* (Convocation) ceremony has been duly performed and thereafter who has been allowed by his teacher to pursue *gārhasthya* (household) life.[16] This seems to be condemned. Even today, there is an example of migration from school education in the society, but there should not be a need for social condemnation for that. In ancient times, this type of language behavior of the education system is reflected through the examples of Sanskrit grammar. Some of the condemned words in the society were related to the Family, Caste system and Studentship the example of which are found in KV.[17] The awareness and commitment of the ancient Indian society appears to be yielding from these examples.

## *Jaṅghāvātsyaḥ*

In reverence etc., only the people of *Vatsa Gotra* are worshiped. One, who, despite not being a *Vatsagotriya*, claims to be *Vatsya* for the same purpose, has been condemned as *Jangavatsya*. Something due (gold money etc.) received by conduct is called *Janghadan*. The *Vatsya* which is created by giving it is condemned.

## *Kambalacārāyaṇīyāḥ, ghṛtarauḍhīyāḥ, kumārīdākṣāḥ, odanapāṇinīyāḥ*

The example "*bhikṣāmāṇavaḥ*" means "a pupil who is attracted to go to school only for the benifit of free boarding. The pupils who were joining the school of Chārāyaṇa having no intention of study but for obtaining blankets were designated as "*kambalacārāyaṇīyāḥ*". Similarly, *ghṛtarauḍhīyāḥ, kumārīdākṣāḥ, odanapāṇinīyāḥ* are terms used for the unworthy pupils who were joining the orders of Raudhi, Daksa and Pāṇini only for the worldly advantages of butter, girls and rice respectively. These actions are highly condemnable and are the instances of breach of educational thought. Thinking positively about these exmples, probably the Pāṇinian institutions had grown resourceful to the extent of providing subsistence and comfort to the pupils which was a source of attraction.

16 Dash, R.M., Idioms in Kāśikā, p.493

17 *gotrāntevāsimāṇavabrāhmaṇeṣu*, (Kā.Vṛ. 6.2.69)

## Examples on dialectal variations

Further, to justify Pāṇini's concern for dialectal variations, it must not be forgotten that Sanskrit was the means of communication in the ordinary usages during Pāṇini's time and naturally, therefore, Pāṇini has accepted his own contemporary Sanskrit as the basis of his grammar, which he calls *bhāṣā*, the colloquial form of his speech. He mentions regional variations too referring to northern dialect as *udicya* and the eastern dialect as *prācām*. Depending upon different social roles, the speaker consciously or unconsciously effects variations and these are closely observed by Pāṇini. The following table represents some examples collected in *KV* on dialect variant as collected from the then society.

| ***udicā bhāṣā*** (northern dialect) | ***pracyā bhāṣā*** (eastern dialect) | ***KV*** |
|---|---|---|
| *alaṃ rodanen* | *alaṁ kṛtvā, khalu kṛtvā, alaṃ bāle ruditvā* | 3.4.18 |
| *apamitya yācate, apamitya harati* | | 3.4.19 |
| *gārgī, vātsī* | *gārgyāyaṇi, vātsyāyanī* | 4.1.17 |
| *kāriṣeṇiḥ, hāriṣeṇiḥ, lakṣaṇiḥ, tāntuvāyiḥ, kaumbhakāriḥ* | | 4.1.153 |
| *glaucukiḥ* | *glucukāyaniḥ, āhacumbakāyaniḥ* | 4.1.160 |
| *śaivapuram, māṇḍavapuram* | *Māthuram* | 4.2.109 |
| *dātrāmitrīyaḥ* | *pāṭaliputrakāḥ, aikacakrakāḥ* | 4.2.123 |
| *kaṭanagarīyam, kaṭaghoṣīyam* | | 4.2.139 |
| *jivaputrapracāyikā* | *uddālakapuṣpabhañjikā, vīraṇapuṣpapracāyikā, sālabhañjikā, tālabhañjikā* | 6.2.74 |
| *mātarapitarau* | *mātāpitarau* | 6.3.32 |
| *mādranagaraḥ* | *sauhanāgaraḥ, pauṇḍranāgaraḥ* | 7.3.24 |
| *vartikā* | *vartakā* | 7.3.45 |
| *ibhyakā* | *ibhyikā* | 7.3.46 |
| *kṣatriyakā* | *kṣatriyikā* | 7.3.46 |
| *caṭakakā* | *caṭakikā* | 7.3.46 |
| *mūṣikakā* | *mūṣikika* | 7.3.46 |
| *bhastrakā* | *bhastrikā* | 7.3.47 |

| | | |
|---|---|---|
| *eṣakā* | *eṣikā* | 7.3.47 |
| *ajakā* | *ajikā* | 7.3.47 |
| *khaṭvakā* | *khaṭvikā* | 7.3.48 |

Only a Sanskrit speaker can understand the words oriental and northern from the above examples. Yet the language that illuminates the diversity well is no doubt. Pāṇini also takes into account various usages pertaining to different provinces like Gāndhāra, Bharata, Suvira, Vāhika, Uśinara, Kuru, Madra and Trigarta. This difference is reflected in linguistic behavior, it can be studied from the above examples of *KV*. The language used in northern and eastern zone of India has been analyzed in the Sanskrit grammar.

## Discussion

Sociolinguistics throws light on how language functions in society. The way we talk to different people in different situations is different. The way we use language in different social contexts provides a lot of information about both how language works and the social relationships in a community. It also throws light on the way people indicate their social identity through their language. Presenting the word prevalent in the society as a grammatical example shows the greatness of the author of *KV*. The examples that determine the ancient agricultural period also introduce the economic condition of the ancient society. Some Examples indicate social etiquette cited in *KV*, through light on language usage in various situations. Examples on prevailing caste system in the society may be a source of further sociolinguistic investigation. From the point of view of sociolinguistics, the example *'kanyā śokaḥ'* may not be justified for the present day society. This kind of examples may fulfill the goal of illustration of Pāṇini's particular aphorism. In the later period, the famous Sanskrit grammarian Bhaṭṭoji dīkṣita provided different example in his *Vṛtti* (gloss) *'Siddhāntakaumudī'* to avoid the gender discrimination in the society.[18] Examples on social play and livelihood can be considered a component of Sociolinguistics. Giving place to social behavior in grammar has been an important contribution of a grammarian towards linguistics. Social words with condemnation as Grammatical Example are really encouraging to study Sanskrit grammar. Examples on dialect variations are also a significant contribution of *KV* as grammatical literature to the field of sociolinguistic research. Knowledge about the behavior of Sanskrit language and the then social system remains important in today's era. Without the knowledge of Indian social culture, the progress of the nation is incomplete. Moreover,

[18] *daṇḍena ghaṭaḥ, pūṇyen dṛṣṭo hariḥ, adhyayanena vasati - hetau, Si.kau., - 569*

Sanskrit may be placed for the purpose of research as Modern Indian language (M.I.L.) at various academic levels.

## Concluding Remarks

A linguistic behavior of the then social stage is available in Sanskrit grammatical literature, which is an important topic of research. Awareness of Sanskrit grammar may be created through the knowledge of the then society. Knowledge of grammar may bring simplicity in Sanskrit language practice. Students may increase their interest in Sanskrit by knowing encouraging grammatical examples collected in *KV*. Sanskrit is the divine ancient language of Indian society; it is worth considering the number of speakers of Sanskrit language in the world. Foreign people are studying Sanskrit language, so why are we Indians so behind? The importance of Sanskrit language from the point of view of Indians, the western countries are experiencing more. As a resourceful language, Sanskrit may also help to learn other language, society and culture. As we know, all our major Indian Languages abound in vocabulary directly drawn or derived from Sanskrit. It is remarkable that we find many of them prevalent also in foreign languages. Although a meticulous study would be more informative, a brief discussion only is presented through this paper by way of illustration.

## Abbreviations

1. Kā.Vṛ. - Kāśikā Vṛtti.
2. Mahā. - Mahābhāṣya
3. Ṛg - Ṛgveda
4. Si.kau. - Siddhāntakaumudī

## References

1. A Synopsis by Amrutha MK (Research Associate, NIAS) on *"Sociolinguistics of Sanskrit"* Lecture given by Prof. Madhav Deshpande on 03 February 2021
2. *An Account of the Different Existing System of Sanskrit Grammar*, S.K. Belvalkar, 2nd Rev. Edn., Oriental Publishers, Amritsar, 1980
3. *Foreigners, Brāhmans, poets, or what? The sociolinguistics of the sanskrit renaissance*, Hans Heinrich Hock, Journal on Asian Linguistic Anthropology 3.2: 1-17, 2021
4. *Idioms in Kāśikā*, Radha Madhab Dash, Pratibha Prakashan, Delhi, 1995

5. *India as Known to Pāṇini*, V.S. Agrawala, University of Lucknow, Lucknow, 1953
6. *Pāṇini : His works and Its Traditions*, Volume - I, George Cardona, Motilal Banarasidass, Delhi, 1988
7. *Pāṇinīyavyākaraṇodāharaṇakośaḥ (Pāṇinian Grammar through its Example)*, Vol.I , Vol.II & Vol.III(2), F. Grimal (ed.), Venkataraja Sarma, V. (ed.) V. Srivatsankacharya (ed.), S. Lakshminarasimham (ed.), Rashtriya Sanskrit Vidyapeetha, Tirupati, 2007.
8. *Kannada versus Sanskrit: Hegemony, Power and Subjugation* , Meti Mallikarjun, Language in India 17.8, 2017
9. *Kāśikā*, Vāmanajayādityaviracitā, Jayaśaṁkaralāltripāṭhinā sudhākaramālaviyen ca sampāditā, Tarā Book Agency, Vāraṇāsī, 1984.
10. *Kāśikā of Jayāditya & Vāmana* (Vol.I-X), Jaysankarlal Tripathy, Sudhakar Malaviya (eds.), Tara Book Agency, Varanasi, 1984
11. *Language vs. grammatical tradition in Ancient India: How real was Pāṇinian Sanskrit?*, Leonid Kulikov, Folia Linguistica Historica 47. Historica-vol-34: 59-92.. 2013.
12. *Linguistic Analysis of Pāṇinian Grammar*, Shashibhusan Mishra (ed.), Banaras Mercantile Company, Kolkata, 2012
13. *Linguistic Paradox and Diglossia: the emergence of Sanskrit and Sanskritic language in Ancient India* , Jan EM. Houben, Open Linguistics 4.1: 1-18, 2018.
14. *Sanskrit-Hindi-English Dictionary*, Vaman Shivram Apte, Uma Prasad Pandey (ed.), Kamal Prakasan, New Delhi, 2003
15. *Sanskrit in the South Asian sociolinguistic context*, Madhav M. Deshpande, Language in South Asia : 177-88, 2008
16. *Sanskrit & Prakrit*, Madhav M. Deshpande and Madhav Deshpande., Sociolinguistic issues. No. 6. Motilal Banarsidass Publ., 1993.
17. *Siddhanta kaumudi: with Tattvabodhinī commentary of Jñānendra Sarasvatī and the Subodhinī commentary of Jayakṛṣṇa.* Vol. 1, Bhaṭṭojī Dīkṣita, Caukhambā Saṃskṛta Pratiṣṭhāna, 1985.
18. *Signification of Distribution of Languages in Sanskrit Drama: A Socio-Linguistics Approach*, K. Praseetha, Saraswatham Centre for Advanced Information Resources International Research Journal: 49, 2014.
19. *Research in Indian Languages*, Sweta Prajapati (ed.), New Bharatiya Book Corporation, Delhi, 2016.

20. *The Siddhanta Kaumudi [Siddhānta-kaumudī]*, Bhaṭṭoji Dīkṣita, Śriśa Chandra Vasu and Vāmana Dāsa Vasu (ed. and transl.) Pāṇini Office, 1905.

21. *The Vyākaraṇa Mahābhāṣya of Patanjali*, F. Kielhorn and Kashinath Yasudev Abhyankar (ed.), Third Edition, Pune, 1972.

22. Utkal University. PG Dept. of Sanskrit. *Vaṇījyotiḥ*. Vol. IX. PG Department of Sanskrit, Utkal University, 1994.

❀❀❀

# The Triad of Learning Strategy Based on Bhagavad Gītā: A Conceptual Framework

Mangesh Pandey and Balaram Pradhan

Abstract

*The article presents a learning strategy model based on the three principles of the Bhagavad Gītā (surrender, inquiry, and service). Further, describing the three-fold process comprising components of prerequisite skills, method of assessment, and instructions, and the three categories of learners (basic, intermediate, and advanced) following three levels of learning and outcomes (surface-level learning, deep-level learning, and internalization) based on skill, inquiry, reflection, and rigor of learning in a conducive and harmonious learning environment. The learning cycle is complete only after the internalization of the explicit knowledge. Further, the internalized knowledge should be applied and tested in different settings. The article comprises interpretations of the scholarly works of commentators from the eighth century to the present time. The model can either be tested in whole or parts based on the subject matter, pre-defined learning outcomes, and requirements of the current time. The article concludes with a summary of an all-inclusive and holistic learning method.*

*(Keywords : Learning strategy, Bhagavad Gītā, Learning, Knowledge, Stages of Learning)*

.....

## 1. Introduction

Knowledge is the outcome of a systematic process of knowing by incorporating three-fold conditions of truth, belief, and justification coupled with overcoming epistemic limitations and error elimination (Bolisani & Bratianu, 2018; Oeberst et al., 2016). Human knowledge in a state of flux continually grows and evolves with an implication of human beings possessing the ability to adapt, survive and evolve through efficient knowledge acquisition (de Arruda et al., 2017). Knowledge and its application direct the course of the individual and social systems, signifying the importance of developing methodologies elucidating the process of acquiring knowledge through various learning strategies (Kendal et al., 2018; Nook et al., 2017). The internal necessity to attain knowledge is created by the gaps identified in the cause and effect loops, fulfilled through thought experiments stimulating an inquiry, educational methods addressing various learning issues, and the application of technologies for collaborative learning (Chen et al., 2018; Green, 2017).

The spectrum of learning strategies developed and experimented with in the past century range from behaviorism to cognitive theories of learning with the inclusion of social and emotional learning and learning strategies for

the whole learner paving the way for the learner-centered approach and holistic learning (McCombs, 2017; Pritchard, 2017). Furthermore, learning strategies based on the skills such as metacognitive knowledge, motivational belief, resource management, and cognitive engagement strategies are experimented with and applied to the learning process and knowledge acquisition (Anthonysamy et al., 2020). The advent of various learning strategies in the past decades finds its origin in the observation and understanding of the educators that each individual learns and progresses in different ways based on the limitations and variations in the traits such as cognition, self-efficacy, physical and social requirements (Florian, 2017; Hatala et al., 2019; Hayat et al., 2020). Similarly, a review based on forty-three empirical studies identifies the drawbacks of traditional and inquiry-based learning that fail to meet the current educational expectations of developing the knowledge and skills of the learners (Khalaf & Zin, 2018). Consequently, completing the learning cycle for each learner would be cumbersome by applying a single learning strategy, and the demand for blended learning by educators and policymakers to enhance the learning outcomes and sustainable development in the present time is on the rise (Teo, 2019; Yáñez et al., 2019). Therefore, a universal and holistic learning strategy that develops the learner's overall personality for effective and comprehensive learning is the need of the time (Ehlers, 2017; Wals & Benavot, 2017).

The concept of holistic learning includes the development of the learner in every aspect to perform and progress in different life situations, where academic performance would be one such important factor in the formative years to acquire knowledge and skills for the betterment of future life courses (Lauricella & MacAskill, 2015). The solutions to offer new learning models or overcome the limitations in the existing learning framework are achieved by repeatedly experimenting with new inputs and drawing knowledge from multiple sources. One such important source of knowledge are the ancient scriptures, and many philosophers, thinkers, and scientists revisit the scriptures to seek answers and solutions for existing problems (Bhawuk, 2020; Sharma, 2017; Srivastava et al., 2021). The knowledge found in the scriptures, though understood, inferred, and discussed by the subject experts is yet to be fully explored to develop learning models and strategies and experimented with in different settings either to develop a new strategy or to overcome the limitations and fill in the gaps of existing frameworks.

The present article proposes the concept of a learning strategy from the Bhagavad Gītā, an ancient and sacred Indian text presented as the dialogue between Śrī Kṛṣṇa and Arjuna. The text indicates a methodology of knowledge acquisition based on the responses given to the inquirer. The questions arising in Arjuna's mind find their roots deep in the experience of ignorance, self-

doubt, and non-acceptance. The justifications offered by Śrī Kṛṣṇa deliver timeless wisdom and principles of universal significance (Dhiman, 2019a; Rampal et al., 2022b). The search of previous literature results in the studies based on the teachings and implications of Bhagavad Gītā in the field of leadership, business management, economics, coping strategies, learning environment, psychotherapy, and other relevant areas significant for various aspects of human development (Dabas & Singh, 2018; Kalra et al., 2018; Keshavan, 2020; Rampal et al., 2022; Simpson & e Cunha, 2021). Nonetheless, the principle indicating the method of knowledge acquisition and learning strategy mentioned in the Bhagavad Gītā integrated with personality traits and pre-requisite skills of the learner, processes of assessment, evaluation, learning, guided inquiry, source of knowledge, and learning outcomes remain unexplored. The article analyses the thirty-fourth verse (Śloka) of the fourth chapter known as Transcendental Knowledge (Jñāna Yoga) to formulate the conceptual framework of the learning strategy.

## 2. Methodology

To address the research question: Can a conceptual framework of a learning strategy based on the principle of the Bhagavad Gītā be formulated for it to be applicable for the learners in the present time? Commentaries and translations of Bhagavad Gītā written by 13 scholars (Ācāryas) from different periods referred to infer and understand the meaning of the Śloka (4.34).

tadviddhi praṇipātena paripraśnena sevayā
upadekṣyanti te jñānaṁ jñāninastattvadarśinaḥ..4.34..

Know that through prostration, inquiry and service. The wise ones who have realized the Truth will impart the Knowledge to you (Śaṅkarācārya, 2018, pg. 172). The verse indicates the core principle of learning and acquiring knowledge. The commentaries written in Sanskrit are considered the primary source of the Bhagavad Gītā. The secondary sources included translations of the original Sanskrit work in various Indian and English languages written by competent and contemporary scholars from the medieval period till recent times are included in the present study. The study is a literary review that followed the extraction of qualitative data from the inferences made by the scholars (Ācāryas). The qualitative data extracted from the commentaries were analyzed and compiled to synthesize the learning strategy and conceptual framework.

## 3. Conceptual Framework

The keywords mentioned in Śloka (4.34) are Surrender, Inquiry, and Service. The instruction given by Śrī Kṛṣṇa is about the process or method to attain transcendental knowledge (Parā Vidyā). The learning method begins with the

input of prerequisite skills and the quality of the inquiry. The intermediary process is the assessment of the learner followed by the instructions given by the teacher. Based on the evaluation done by the preceptor, learners are categorized depending upon the quality of the inquiries and the length of time taken by the learner to complete the learning cycle. The output is the completion of the learning cycle when knowledge transfer is followed by the internalization of the external knowledge, and creation of new knowledge to be applied in different settings. Based on the categories of the learner, the learning process varies from surface level learning for the basic learner, deep level learning for the intermediate learner, and internalization of the knowledge for the advanced learners (figure 8.1). Śrī Kṛṣṇa instructs Arjuna to attain knowledge through the three-fold process of Surrender, Inquiry, and Service. In the following section the primary keywords are discussed with respect to ancient and modern context. .

Śrī Kṛṣṇa instructs Arjuna to attain knowledge through the three-fold process of Surrender, Inquiry, and Service. In the following section the primary keywords are discussed with respect to ancient and modern context.

## 3.1 Surrender

Surrender is the process of personality integration through the ability to grow by giving up resistance to seek guidance, overcoming the limitations, and transcending the ego, and experiencing as a gesture, expression, attitude, and humility at physical, verbal, mental, and intellectual levels, respectively (Freimann & Mayseless, 2020). A quality required by a learner to identify one's potential to transform individual limitations into opportunities for natural progression to achieve personal and collective development (Moze, 2018). Humility is awareness of self-limitations, appreciation of others, openness to criticism, and knowing that something is greater than the self (Porter et al., 2021a). Furthermore, it promotes openness to opposing views and the right attitude to deal with others by reducing the ego for acceptable social behavior and positively influences the factors of learning and social behaviors (Krumrei-Mancuso et al., 2020).

## 3.2 Inquiry

The method of Inquiry is a time-proven procedure to acquire knowledge, and gaining knowledge through inquiry by error elimination was defined as the primary aim of education by the Greek philosopher Socrates (Kohan & Costa-Carvalho, 2019). Following the method of inquiry to know the truth and other profound inquiries are known through the voluminous works of the ancient Indian texts of Upaniṣads (Dura, 2018, p. 89-94). The ancient Indian knowledge system is categorized under Aparā-Vidyā, a knowledge system to understand the creation and different systems to achieve sustained growth and harmony

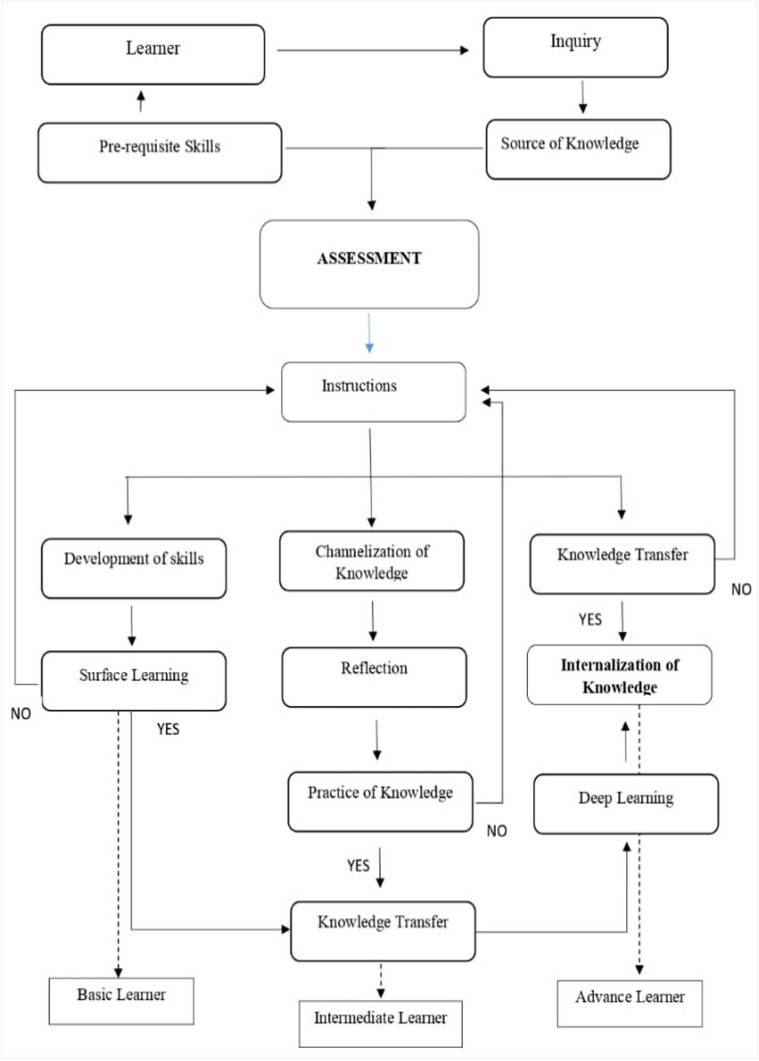


Figure 8.1: Harmonious Teaching-Learning Environment

in the multi-layered social systems (Scharfe, 2002, p. 52). The second is the knowledge of transcendence or Parā-Vidyā, it promotes the study of the body-mind complex and the source of all possible knowledge (Woiwode, 2020). In both categories, knowledge acquisition is through a process, a construct known as Inquiry (Śaṅkarācārya, 1960, p. 5). Inquiry, directed at the self, domain experts, or verifying the validated evidence, supports higher-order thinking creating ideas and solutions, and further creates an opportunity for exploring new knowledge (Darling-Hammond et al., 2020). Inquiry-based learning either open, or guided, or discussion based is a student-centric learning strategy that ensures skill development to be independent learners and owning the responsibility for the learning outcomes (Kang & Keinonen, 2018). Previous evidence shows inquiry-based learning in moderation is positively correlated with emotional intelligence (Riyanto & Betaubun, 2019), intellectual abilities (van Schijndel et al., 2018), satisfaction, and academic performance and further deepens the learning process and also enhances the effectiveness of instructions and evaluation (Teig et al., 2018).

### 3.3 Service

Service to the teacher implies a sense of duty towards learning. A learner should cultivate an attitude of service by practicing and consolidating knowledge and skills. Learning and knowledge acquisition as a sense of duty of the learner makes it paramount in the formation of a learning strategy, which motivates the learners to take responsibility for their learning, evaluating processes, and achievements (Ayish & Deveci, 2019; Besant & Das, 1905). A sense of duty deepens the responsibility and ownership of the delivered tasks, and the learner's responsibility toward society is to learn and acquire knowledge and influence the course of learning outcomes (Connolly et al., 2019). Supporting the learners to develop a sense of service toward learning enables them to decide on different phases of inquiry and become responsible for their decisions, which teaches them to be persistent in their pursuits for sustainable learning (Kazlauskienė et al., 2021). Subsequently, learners develop a sense of satisfaction and belonging with the learning environment, inspiration for innovation and entrepreneurship mediated with discrete decisions to overcome the limitations of lack of motivation in both the learner and the teacher (Zhang et al., 2020) (Sağlam & Kaplancı, 2018).

## 4. Prerequisite skills

### 4.1 Competence

The competence required by learners to adapt to a new learning environment, acquire superior knowledge, preparedness for optimum knowledge transfer, and refinement of instructional strategies and content are prior pro-

cedural knowledge, enables learners to apply knowledge in various conditions to solve the problem and such skills are of the higher-order cognitive skills (Ānandagiri, 1921; Chalkiadaki, 2018).

## 4.2 Physical and mental health

Physical health and mental abilities ensure the learner tirelessly works toward achieving knowledge and learning objectives (Śaṅkarācārya, 1977, p. 148-149). Regular physical activity improves cognition, self-esteem, brain structure, and functions responsible for task performance (McPherson et al., 2018). There is a significant positive relationship between physical activity and learning outcomes, and balanced physical and mental health is a pre-requisite to progress in learning (Watson et al., 2017).

## 4.3 Temperament

A learner's personality related attributes, especially temperament, are the behavior a learner interacts with the environment and is the significant predictor of learning (Rāmānujācārya, 2008, p. 163). It includes the behavioral style, reactivity, self-regulation, task orientation, and effortful control (Möller et al., 2020). Furthermore, the findings of a meta-analysis confirm a positive association between effortful control and learning performance and a converse association with negative affectivity (Nasvytienė & Lazdauskas, 2021).

## 4.4 Devotion

Devotion (Abhinavgupta, 1985, p. 80), is the psycho-spiritual experience, positively influencing the emotional regulation, creativity, and non-judgmental attitude of a person (Valle & Floyd, 2017) and thereby reinforcing the sense of duty and dedication toward the learning process (Nkhoma et al., 2017). Irrespective of the doctrines or beliefs, religious beliefs positively impact the predictors of learning by enhancing moral values, positive behavior, and protecting against delinquent behaviors (J. Kim, 2015).

## 4.5 Will and self-determination

The qualities of will and self-determination include decision-making, self-awareness, and goal-settings (Shogren et al., 2015). Self-assessment is introspection, understanding one's thought, actions, and consequences (Andrade, 2019). Thereby improving self-regulated learning and defining the future learning curve for deeper understanding (Duque Micán & Cuesta Medina, 2017; Wang, 2017). The will to attain knowledge ensures readiness of the learner and self-determination is the constant motivating factor to work toward the objective (Ānandagiri, 1921, p. 145-146; Jñāneśvar, 1994, p. 101).

## 4.6 Teaching-learning environment

Education integrated with the art of peaceful learning in a harmonious environment is a part of a global education agenda (Rappleye et al., 2020). Furthermore, it is a fundamental human goal with increasing demands in many countries, wherein human development and achieving a state of happiness through holistic learning (Marquez & Main, 2021). The concept of peace includes happiness, social harmony, freedom of expression, and opportunity for personal growth (Giản et al., 2021). The purpose of human development through holistic learning is possible in a harmonious teaching-learning environment (Cinmayānanda, 1976, p. 321-324). The responsibility of educators across the globe is to create a learning environment ensuring an experience of satisfaction, a sense of security, and belonging (Calp, 2020).

# 5. Instruments of learning

Senses play a role in channeling information, knowledge acquisition, and knowledge transfer (Abhinavgupta, 1985, p. 80). It is the mediating factor between body-mind and subject-object relations (Thyssen & Grosvenor, 2019). Multi-sensory learning is through the pathway of senses, and multi-sensory convergence zones in the brain are evident from previous studies (Spence, 2018). Learning and retention improve by using sensory stimulation applications such as auditory, audio-visual, and visual imaging inputs for learning concepts of mathematics, science, grammar, language, and understanding algorithms (Crittenden et al., 2019). Abilities to learn from prior knowledge and adapt to situations and environments integrated with cognitive functions, reasoning, problem-solving, and information processing is intelligence. The role and importance of intelligence in learning and knowledge processing include primary factors along with other prerequisites, based upon which the learners are of the superior, mediocre, and inferior quality types of learners (Cinmayānanda, 1976, p. 321-324; Rāmsukhdās, 1985, p. 338-340). Intellectual functions are structurally defined in a hierarchy and learning enables the metamorphosis of mental organization, representations, and expressions of knowledge, resulting in perpetual learning experiences (Sternberg, 2019).

# 6. Qualities of a teacher

Teachers are one of the primary sources of knowledge transmission in the traditional teaching-learning system apart from validated knowledge systems. The method of reasoning and distinction between true and false knowledge is key to knowledge acquisition (Abhinavgupta, 1985, p. 80; Bengali, 1950, p. 133-136; Madhusudana, 1936, p. 231). Responsibilities to complete the learning cycle, encouraging learners to think critically, develop curiosity, create a learning environment, and enable learning academic achievement are

integral to the qualities of a teacher (Kim et al., 2019). Furthermore, a teacher should know various teaching methodologies and take up challenges to fulfill the teaching responsibilities, and qualities like empathy, enthusiasm, helpfulness, and tolerance are important for delivering teaching and imparting knowledge (Ilaltdinova et al., 2018).

## 7. Assessment of the learner

Assessment of the learner is an essential criterion of the educational process. In the traditional method, the teacher assessed the learner based on intellectual maturity, preparedness, quality, and depth of inquiry. Post assessment, the teacher imparted direct instructions for further learning. The nature of inquiry and quality of the questions project the depth of prior knowledge and further unfold the learner's intellectual development. Based on these qualities, learners are tested and evaluated (Ānandagiri, 1921, p. 145-146; Cinmayānanda, 1976, p. 321-324). The present education system follows an evaluation process through self-assessment, peer assessment, and objective testing implemented for better education planning. Identifying the methods that may positively impact learning outcomes and implementing the correct method to assess performance outcomes based on prior knowledge (López-Pastor & Sicilia-Camacho, 2017; Rawlusyk, 2018).

## 8. Learning process

Internalization of the explicit knowledge to be applicable in different settings is attained through the learning process with an attitude of service (Abhinavgupta, 1985, p. 80). The process implies the transformation of the learner through knowledge transfer and instilling it as implicit knowledge (Deng, 2020). The internalization of knowledge after critical thinking, reflection, crystallization, and problem-solving creates new knowledge (Chang, 2019; Richards, 2014). Moreover, cognitive mechanisms such as knowledge structuring, mental representations, proficiency, automaticity, and meta-cognition practiced for a prolonged time enable the process of transforming explicit knowledge into implicit knowledge (Wipawayangkool & Teng, 2016). Furthermore, the process and learner are categorized based on the pre-requisite skills, pre-acquired knowledge, and the time taken to complete the learning cycle. It includes the sub-processes of developing learning skills to acquire knowledge for the inferior types of learners. The knowledge transfer after channelization of information, phases of reflection, and practice of inquiry for deep-level understanding are for the intermediate learners. The advanced learners gain direct and intuitive insights and internalization of knowledge for further application (Rāmsukhdās, 1985, p. 338-340).

## 9. Learning outcomes

Based on the inquiry, the learner is guided through the process in the right direction by the focused instructions imparted by the teacher and specified in the various validated knowledge systems with layered outcomes defined as basic understanding or surface level learning, correct perception of information followed by reflection on the knowledge acquired in stages, and practice of knowledge for in-depth understanding finally internalization of the explicit knowledge for application (Jñāneśvar, 1994, p. 101; Madhusudana, 1936, p. 231; Rāmsukhdās, 1985, p. 338-340). The learning cycle is complete with well-executed sub-processes and the fulfilment of the predefined learning objectives. It defines the quality of knowledge acquired by the learner and the ease with which the acquired knowledge is applicable in different settings. The decision on teaching-learning methods and evaluation process are dependent on the learning outcomes (Harris & Clayton, 2019). Similarly, the results of any learning process make the learner aware of the intermediate achievements, and the learner does not deviate from the targets of learning (Cinmayānanda, 1976, p. 321-324).

## 10. Summary

The learning strategy based on the principle of Bhagavad Gītā comprises the source and the recipient of the knowledge as integral participants. Prerequisite skills and pre-acquired knowledge are the primary criteria to enhance and deepen learning, and the method of inquiry is significant to the learning process. Instructions based on the assessment, categorization of the learners, and learning outcomes embedded in a harmonious teaching-learning environment are integral factors that structure the entire learning strategy. The source of knowledge could either be a qualified teacher with complete knowledge in both theoretical and practical aspects of the domain or a validated system and process with defined learning outcomes and the learner as the seeker of the knowledge possessing pre-acquired skills and pre-acquired knowledge in varying degrees. Further, based on the quality of the inquiry, assessment, and evaluation done by the teacher, learners are segregated into three defined categories of basic, intermediate, and advanced learners.

The learning process differs according to the type of learner. The instructions imparted to educate and time to transfer the knowledge varies. The basic learner with underdeveloped skills undergoes rigorous training to develop the necessary skills and keen perception to acquire knowledge. The basic learner should refer to already existing evidence to enhance the knowledge base. The time loop of the basic learner is much more than the other two types of learners. The learning outcome for the basic type learner is at the surface level implying

superficial understanding confined to recalling information stored in the memory. For the intermediate learner, the inquiry loop consists of sub-processes of perception of information using multi-sensory organs or instruments of learning, the phase where reflection or contemplation on the acquired knowledge happens at different stages. In this stage, the actual learning and understanding transpire. The final aspect is the practice and consolidation of the knowledge to gain in-depth insight. The crystallization of knowledge and knowledge transfer is possible after information processing and multiple phases of reflection and contemplation. Thus, consolidation of surface-level knowledge leads to a deeper understanding of the knowledge or plausible deep-level learning before being tested in a real-life situation. In this case, the inquiry and instruction loop takes less time when compared to the basic learners.

Among the three types of learners, the advanced learners, with developed skills and optimum knowledge acquire higher knowledge effortlessly by following the instructions. The process of knowledge transfer, consolidation of knowledge at a deeper level, and internalization of explicit knowledge happens in minimum loops of inquiry and instructions. The learning cycle is complete after the internalization, followed by knowledge application in different settings for it to be sustainable in the long term. Furthermore, the three distinct learning processes allow the learner to graduate from basic learner to intermediate and finally in the advanced category depending on the skills developed and knowledge acquired for further learning. Although the instruction imparted by Śrī Kṛṣṇa is to realize transcendental knowledge, the methodology should be applied and tested in varying age groups across demography for knowledge acquisition in various domains.

Conclusively, the learning strategy is holistic learning in a harmonious teaching-learning environment. The pre-requisite and foundational qualities of the learner are clearly defined and based on recent findings, and these fundamental qualities will enhance learning skills. Furthermore, inquiry-based learning ensures gradual internalization of knowledge, allowing the learner to progress in stages to become an adept learner and utilize the knowledge system for multiple applications. Nonetheless, the entire process with its constructs should be tested and empirically verified by developing a comprehensive model and incorporating it into the present education system for further testing and validation. Although the instruction imparted by Śrī Kṛṣṇa is to realize transcendental knowledge, the methodology and working principles should be tested in varying age groups across demography for knowledge acquisition in various domains. The conceptual framework developed, referring to the interpretations of important scholarly work, though limited in number compared to the volume of works interpreting the

essence and teachings of Bhagavad Gītā. The model can be enhanced and improved by including the process and functioning of the mental faculties like cognition, intelligence, information processing, the role of identifications, and the contribution toward new knowledge after the internalization of knowledge.

## References


1. *A Bhagavad Gītā-inspired Linked Leadership Model*, A. V, Simpson, & M. e Cunha, Journal of Leadership Studies, 15(3), 43–48, 2021
2. *A Critical Review of Research on Student Self-Assessment*, H. L. Andrade, Frontiers in Education, 4, 2019
3. *A Meta-Analysis of the Effects of Teacher Personality on Teacher Effectiveness and Burnout*, L. E. Kim, V. Jörg, & R. M. Klassen, Educational Psychology Review, 31(1), 163–195, 2019
4. *A Meta-Analysis of Relations Between Achievement and Self-Concept*, J. Möller, S. Zitzmann, F. Helm, N. Machts & F. Wolff, Review of Educational Research, 90(3), 376–419, 2020
5. *A Systematic Literature Review of 21st Century Skills and Competencies in Primary Education*, A. Chalkiadaki, International Journal of Instruction, 11(3), 1–16, 2018
6. *Assessment in Higher Education and Student Learning*, P. E. Rawlusyk, Journal of Instructional Pedagogies, 21, 1–34, 2018
7. *Assessing Tacit Knowledge and Sharing Intention: A Knowledge Internalization Perspective*, K. Wipawayangkool & J. T. C. Teng, Knowledge and Process Management, 23(3), 194–206, 2016
8. *A Theory of Adaptive Intelligence and Its Relation to General Intelligence*, R. J. Sternberg, Journal of Intelligence, 7(4), 2019
9. *'Better policies for better lives'?: constructive critique of the OECD's (mis)measure of student well-being*, J. Rappleye, H. Komatsu, Y. Uchida, K. Krys, & H. Markus, Journal of Education Policy, 35(2), 258–282, 2020
10. *Bhagavad Gītā teachings and positive psychology: Efficacy for semi-urban Indian students of NCR*, A. Dabas & A. Singh, Cogent Psychology, 5(1), 1467255, 2018
11. *Bhavartha Dipika - Jñāneśvari*, S. Jñāneśvar (comm.), S. Velury (ed.), 5th Edition. Samata Books, 1994
12. *Bhagavad-Gītā to Boost AI Technology*, A. C. Srivastava, J. Jain & , S. V. Govindaraju, 3rd International Conference on Advances in Computing, Communication Control and Networking (ICAC3N), 855–860, 2021
13. *Boosting vocabulary learning through self-assessment in an English language teaching context.* A. Duque Micán, & L. Cuesta Medina, Assessment & Evaluation in Higher Education, 42(3), 398–414, 2017

14. *Brahma Sūtra - Śaṅkara Bhāṣya - Śaṅkarācārya* , V. Apte (ed.), 1st Edition, Popular Book Depot, 1960
15. *Building resilience in the COVID-19 era: Three paths in the Bhagavad Gītā*, M.S. Keshavan, In Indian journal of psychiatry, Vol. 62, Issue 5, pp. 459–461, 2020
16. *Can Schools and Education Policy Make Children Happier? A Comparative Study in 33 Countries*, J. Marquez & G. Main, Child Indicators Research, 14(1), 283–339, 2021
17. *Can we meet the sustainability challenges? The role of education and lifelong Chinmaya Prakashan learning*, A.E.J. Wals, & A. Benavot, European Journal of Education, 52(4), 404–413, 2017
18. *Coping with illness: Insight from the Bhagavad Gītā*, B. Kalra, A. Joshi, S. Kalra, V. Shanbhag, J. Kunwar, Y. Balhara Singh, S. Chaudhary, D. Khandelwal, S. Aggarwal, G. Priya, K. Verma, M. Baruah, R. Sahay, S. Bajaj, N. Agrawal, S. Pathmanathan, I. Prasad, A. Chakraborty & N. Ram, Indian Journal of Endocrinology and Metabolism, 22(4), 560, 2018
19. *Critical thinking for an emergent, relevant, and productive "knowledge-building" approach to research inquiry and academic writing*, C. Richards, pp. 79–93, 2014
20. *"Defining the Indefinable": The Hermeneutics of the Upaniṣadic Negation neti, neti in Sankara's Apophatic Theology*, I. Dura, In Proceedings of the XXIII World Congress of Philosophy (Vol. 16, pp. 89–94). Philosophy Documentation Center, 2018
21. *Do individual differences in children's curiosity relate to their inquiry-based learning?*, T.J.P. van Schijndel, B.R.J. Jansen & M.E.J. Raijmakers, International Journal of Science Education, 40(9), 996–1015, 2018
22. *Education in Ancient India*, H. Scharfe, BRILL, 2002
23. *Effect of classroom-based physical activity interventions on academic and physical activity outcomes: a systematic review and meta-analysis*, A. Watson, A. Timperio, H. Brown, K. Best & K.D. Hesketh, International Journal of Behavioral Nutrition and Physical Activity, 14(1), 114, 2017
24. *Effect of Student Learning Model on Emotional Intelligence*, P. Riyanto & P. Betaubun, International Journal of Management, 10(6), 54–60, 2019
25. *Embracing Digītālization: Student Learning and New Technologies*, W. F. Crittenden, I. K. Biel, & A. Lovely William, Journal of Marketing Education, 41(1), 5–14, 2019
26. *Epilogue: Timeless Teachings of the Bhagavad Gītā*, S. Dhiman, In S. Dhiman & A. D. Amar (Eds.), Managing by the Bhagavad Gītā: Timeless Lessons for Today's Managers (pp. 299–323). Springer International Publishing, 2019

27. *Examining the Sense of Responsibility of the Primary School Students in Terms of School Satisfaction and School Attachment*, I.H. Sağlam & B. Kaplancı, Journal of Family, Counseling and Education, 3(1), 1–16, 2018
28. *Exploring the potential benefits of holistic education: A formative analysis*, S. Lauricella, & S. MacAskill, Other Education, 4, 54–78, 2015
29. *Finding Treasures: Is the Community of Philosophical Inquiry a Methodology?*, W.O. Kohan & M. Costa-Carvalho, Studies in Philosophy and Education, 38(3), 275–289, 2019
30. *Formative and shared assessment in higher education*, V. López-Pastor & A. Sicilia-Camacho, Lessons learned and challenges for the future. Assessment & Evaluation in Higher Education, 42(1), 77–97, 2017
31. *Happy Schools: Perspectives and Matters of Organization-Pedagogy in School's Building and Development*, P. M. Gian, , Đ. Q, Bảo, T. T. T. N. Tâm & P. V. Tặc, International Education Studies, 14(6), 92, 2021
32. *Historical Review of Learning Strategies Research: Strategies for the Whole Learner—A Tribute to Claire Ellen Weinstein and Early Researchers of This Topic*, B.L. McCombs, Frontiers in Education, 2, 2017
33. *Holy Gītā*, S. Cinmayānanda, Chinmaya Prakashan, 1976
34. *How well is each learner learning? Validity investigation of a learning curve-based assessment approach for ECG interpretation*, R. Hatala, J. Gutman, M. Lineberry, M. Triola & M. Pusic, Advances in Health Sciences Education, 24(1), 45–63, 2019
https://doi.org/10.1007/s10459-018-9846-x
35. *Implications for educational practice of the science of learning and development*, L. Darling-Hammond, L. Flook, C. Cook-Harvey, B. Barron & D. Osher, Applied Developmental Science, 24(2), 97–140, 2020
36. *Increasing verbal knowledge mediates development of multidimensional emotion representations*, E. C. Nook, S. F. Sasse, H. K. Lambert, K. A. McLaughlin & L. H. Somerville, Nature Human Behaviour, 1(12), 881–889, 2017
37. *Inner Transformation for 21st-Century Futures: The Missing Dimension in Higher Education*, C. Woiwode, Environment: Science and Policy for Sustainable Development, 62(4), 30–38, 2020
38. *Knowledge acquisition: A Complex networks approach*, H. F. de Arruda, F. N. Silva, L. da F. Costa & D.R. Amancio, Information Sciences, 421, 154–166, 2017
39. *Learning to make sense: interdisciplinary perspectives on sensory education and embodied enculturation*, G. Thyssen & I. Grosvenor, The Senses and Society, 14(2), 119–130, 2019
40. *Lifelong Learning: Holistic and Global Education*, U. Ehlers, 2017

41. *Links between intellectual humility and acquiring knowledge*, E.J. Krumrei-Mancuso, M.C. Haggard, J.P. LaBouff & W.C. Rowatt, The Journal of Positive Psychology, 15(2), 155–170, 2020
42. *More isn't always better: The curvilinear relationship between inquiry-based teaching and student achievement in science*, N. Teig, R. Scherer & T. Nilsen, Learning and Instruction, 56, 20–29, 2018
43. *Multisensory Perception.* C. Spence, In Stevens' Handbook of Experimental Psychology and Cognitive Neuroscience (pp. 1–56). John Wiley & Sons, Ltd., 2018
44. *Narrative Fiction as a Source of Knowledge*, M. Green, In P. Olmos (Ed.), Narration as Argument (pp. 47–61). Springer International Publishing, 2017
45. *Peaceful and Happy Schools: How to Build Positive Learning Environments*, S. Calp, International Electronic Journal of Elementary Education, 12(4), 311–320, 2020
46. *Physical activity, cognition and academic performance: an analysis of mediating and confounding relationships in primary school children*, A. McPherson, L. Mackay, J. Kunkel & S. Duncan, BMC Public Health, 18(1), 936, 2018
47. *Psychology of devotion and devotional experience: A developmental perspective*, R. Valle & N. Floyd, The Humanistic Psychologist, 45(2), 109–121, 2017
48. *Reflection in Learning*, B. Chang, Online Learning, 23(1), 95–110, 2019
49. *Relationships between academic self-efficacy, learning-related emotions, and metacognitive learning strategies with academic performance in medical students: a structural equation model*, A.A. Hayat, K. Shateri, M. Amini & N. Shokrpour, BMC Medical Education, 20(1), 76, 2020
50. *Relationships Between Self-Determination and Postschool Outcomes for Youth With Disabilities*, K.A. Shogren, M.L. Wehmeyer, S.B. Palmer, G.G. Rifenbark, & T.D. Little, The Journal of Special Education, 48(4), 256–267, 2015
51. Research on the Flipped College English Class Based on *"Knowledge Internalization."*, F. Deng, Journal of Language Teaching and Research, 11(3), 467, 2020
52. *Self-regulated learning strategies and non-academic outcomes in higher education blended learning environments: A one decade review*, L. Anthonysamy, A.C. Koo & S.H. Hew, Education and Information Technologies, 25(5), 3677–3704, 2020
53. *Shrimad Bhagavadgeeta: The Solution of Life-Problem*, R. Joshi (ed.), 2nd Edition, Akhand Bharat, 1950

54. *Social Learning Strategies: Bridge-Building between Fields*, R.L. Kendal, N.J. Boogert, L. Rendell, K.N. Laland, M. Webster & P. L. Jones, Trends in Cognitive Sciences, 22(7), 651–665, 2018

55. *Śraddhā: Construct Definition from the Bhagavad-Gītā*, D. P. S. Bhawuk, Psychology and Developing Societies, 32(1), 122–137, 2020

56. *Srimadbhagavad Gītā - Ānandagiri*, G. Srikrishadas (ed.), 4th Edition, Kalyan Press, 1921

57. *Śrīmadbhagavad Gītā: Śrī Rāmānjuācārya Bhāṣya - Rāmānujācārya*, H. Goenka (ed.), 2nd Edition, Gītā Press, Gorakhpur, 2008

58. *Śrīmadbhagavad Gītā Gudhārthadīpikā*, S. Madhusudana, Nirnaya Sagar Press, Mumbai, 1936.

59. *Śrīmad Bhagavad Gītā Sādhak Sañjīvani*, S. Rāmsukhdās, (90th Edition). Gītā Press, Gorakhpur, 1985

60. *Śrimadbhagavad Gītā with Gītārthasaṅgraha - Abhinavgupta*, S. Sankaranarayanan (ed.), 1st Edition, Oriental Research Institute, Tirupati, 1985

61. *Student Perceptions of Responsibility for Their Own Learning and for Supporting Peers' Learning in a Project-based Learning Environment*, N. Ayish & T. Deveci, International Journal of Teaching and Learning in Higher Education, 31(2), 224–237, 2019

62. *Surrender: An Alchemical Act in Personal Transformation*, M. B. G. Moze, Journal of Conscious Evolution, 3(3), 1–46, 2018

63. *Surrender to Another Person: The Case of a Spiritual Master*, A. Freimann & O. Mayseless, Journal of Humanistic Psychology, 0, 1–24, 2020

64. *Sustainable Development of Students' Assumed Responsibility for Their Own Learning during Participatory Action Research*, A. Kazlauskienė, R. Gaučaitė, D. Cañabate, J. Colomer & R. Bubnys, Sustainability, 13(18), 2021

65. *Teacher Education for the Changing Demographics of Schooling: Inclusive Education for Each and Every Learner.* L. Florian, In L. Florian & N. Pantić (Eds.), Teacher Education for the Changing Demographics of Schooling: Issues for Research and Practice (pp. 9–20). Springer International Publishing, 2017

66. *Teaching for the 21st century: A case for dialogic pedagogy*, P. Teo, Learning, Culture and Social Interaction, 21, 170–178, 2019

67. *Temperament and Academic Achievement in Children: A Meta-Analysis*, D. Nasvytienė & T. Lazdauskas, European Journal of Investigation in Health, Psychology and Education, 11(3), 736–757, 2021

68. *The Academic Advantage of Devotion: Measuring Variation in the Value of Weekly Worship in Late Adolescence on Educational Attainment Using Propensity Score Matching*, J. Kim, Journal for the Scientific Study of Religion, 54(3), 555–574, 2015
69. *The Bhagavad Gītā: The Lord's Song*, A. Besant & B. Das, Theosophical Publishing Society, 1905
70. *The Bhagavad Gītā: With the Commentary of Sri SankarĀcārya*, A. Śaṅkarācārya, M. Sastry (ed.), 7th Edition, Samata Books Madras, 1977
71. *The College Students' Sense of Responsibility for Innovation and Entrepreneurship*, Q. Zhang, C. Liu, Z. Wang & Z. Yang, Frontiers in Psychology, 11, 2020
72. *The current emphasis on learning outcomes*, R. Harris & B. Clayton, International Journal of Training Research, 17(2), 93–97, 2019
73. *The difference between educational management and educational leadership and the importance of educational responsibility*, M. Connolly, C. James & M. Fertig, Educational Management Administration & Leadership, 47(4), 504–519, 2019
74. *The Effect of Student-Centered Approaches on Students' Interest and Achievement in Science: Relevant Topic-Based, Open and Guided Inquiry-Based, and Discussion-Based Approaches*, J. Kang & T. Keinonen, Research in Science Education, 48(4), 865–885, 2018
75. *The Elusive Definition of Knowledge. In Knowledge Management and Organizational Learning*, E. Bolisani & C. Bratianu, (pp. 1–22), 2018
76. *The Role of Collaboration, Computer Use, Learning Environments, and Supporting Strategies in CSCL: A Meta-Analysis.* J. Chen, M. Wang, P. A. Kirschner & C.C. Tsai, Review of Educational Research, 88(6), 799–843, 2018
77. *The sustainability report as an essential tool for the holistic and strategic vision of higher education institutions*, S. Yáñez, A. Uruburu, A. Moreno, & J. Lumbreras, Journal of Cleaner Production, 207, 57–66, 2019
78. *Top Qualities of Great Teachers: National and Universal BT*, E. Y. Ilaltdinova, S. V. Frolova & I. V. Lebedeva, Linguistic and Cultural Studies: Traditions and Innovations (A. Filchenko & Z. Anikina (eds.); pp. 44–52). Springer International Publishing, 2018
79. *Traditional and inquiry-based learning pedagogy: A systematic critical review*, B. K. Khalaf & Z. B. M. Zin, International Journal of Instruction, 11(4), 545–564, 2018
80. *Traditional Ecological Knowledge-Based Practices and Bio-formulations: Key to Agricultural Sustainability*, S. B. Sharma, In V. Kumar, M. Kumar, S. Sharma, & R. Prasad (eds.), Probiotics in Agroecosystem (pp. 407–415). Springer Singapore, 2017

81. *Using case method to enrich students' learning outcomes*, M. Nkhoma, N. Sriratanaviriyakul & H. Le. Quang, Active Learning in Higher Education, 18(1), 37–50, 2017
82. *Using rubrics in student self-assessment: student perceptions in the English as a foreign language writing context*, W. Wang, Assessment & Evaluation in Higher Education, 42(8), 1280–1292, 2017
83. *Ways of Learning*, A. Pritchard, Routledge, Oxfordshire, 2017.
84. *What Is Knowledge? Who Creates It? Who Possesses It? The Need for Novel Answers to Old Questions*, A. Oeberst, J. Kimmerle & U. Cress, Mass Collaboration and Education (pp. 105–124). Springer International Publishing, 2016
85. *Wisdom in higher education: discussions with education academics utilising the Bhagavad Gītā*, S. Rampal, S.E. Smith & A. Soter, Qualitative Research Journal, ahead-of-p(ahead-of-print), 2022

❀❀❀

# "वाणीभूषण" ग्रंथ के आधार पर संस्कृत छन्दों का पाश्चात्त्य छन्दशास्त्र पर प्रभाव

गढ़वी आनंद महेशभाई

सारांश

इस शोध पत्र में दामोदरजी मिश्र द्वारा रचित "वाणी भूषण" नामक संस्कृत छन्दशास्त्र के लक्षण ग्रंथ के आधार पर पाश्चात्त्य छन्दशास्त्र पर संस्कृत छन्दों का प्रभाव स्पष्ट करने के उद्देश्य से सन्दर्भ सहित उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। इससे यह फलित होगा कि आंग्ल, लेटिन, फ्रेंच एवं स्पेनिश भाषा के छन्दशास्त्र के तात्त्विक छन्दशास्त्रीय सिद्धान्त हमारे संस्कृत छन्दशास्त्र से कितना साम्य रखते हैं एवं संस्कृत के छन्दशास्त्र का प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव अन्य पाश्चात्त्य भाषाओं पर कितना है। संस्कृत के छन्दशास्त्र के नियम और गुण, दोष पर कई विद्वानों ने अपने मत प्रकट किए हैं। इस शोध पत्र के माध्यम से हमारा सिद्ध छन्दशास्त्र कितना प्रभावी रहा है यह अनायास प्रकट होगा।

(कूटशब्द : छन्दशास्त्र, वाणी भूषण, बंधारण, पदभार, जोड़, पाश्चात्त्य छन्दशास्त्र)

.....

## प्रस्तावना

संस्कृत भाषा का छन्दशास्त्र सुदीर्घ, विवेचन योग्य, तथ्यपूर्ण, तार्किक एवं गाणितिक है। इसका अभ्यास करने से हमें मालूम होता है कि हमारे प्राचीन वैदिक साहित्य, पुराण एवं प्राचीन साहित्य कृतियों में छन्द का कितना प्रबल स्थान था। "सामवेद" मे मंत्र गान परम्परा से छन्द गान का प्रारम्भ हुआ। संस्कृत के गद्य में लिखी गई टीकाओं के अलावा अधिकांश साहित्य पद्य युक्त ही था। आयुर्वेद, ज्योतिष, कृषि विज्ञान, खगोलशास्त्र, राजनीति, कामशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र, तत्त्वज्ञान, साहित्य आदि विविध विद्या क्षेत्र की कृतियाँ पद्य में प्राप्त होती हैं। संस्कृत का पद्य छन्दों से पूर्ण रूप से निबद्ध पाया गया है। मेरी दृष्टि से छन्द शब्दों का विवेक है जो कल्पना के बहाव एवं अभिव्यक्ति पर योग्य नियंत्रण लाने में सक्षम है। मेरे इस विचार का अनुमोदन करता एक विधान प्रसिद्ध आंग्ल कवि विलियम वर्ड्सवर्थ ने कहा है -

"Meter controls emotions in poetry. The creative process encompasses four stages: observation, recollection, contemplation and imaginative excitement."[1]

इस तरह से काव्यनिर्माण से लेकर काव्यानन्द की भावक तक की यात्रा तक छन्द हमें भावावरण में सम्मिलित करते हैं।

## पाश्चात्त्य छन्दशास्त्र एवं संस्कृत का "वाणीभूषण"

अब हम पाश्चात्त्य छन्दशास्त्र का प्राथमिक परिचय प्राप्त कर के "वाणीभूषण" के कतिपय छन्दों के उदाहरण कि तुलनात्मक प्रविधि से विवेचना कर के छन्द-यात्रा का विश्व प्रवास करते हैं।

## English Prosody

- Made up of three prosodic systems -
  - Stress : operates at the level of the word
  - Rhythm

[1] Wordsworth, William - https://estudent-corner.com/Williamwords-worth

- Intonation : operates at the level of the phrase or whole utterance

- Stress : the relative prominence of a syllable.
- Rhythm : patterns of stress in time.
- Intonation : the pitch pattern of an utterance

पाश्चात्त्य भाषाओं में मुख्य रूप से आंग्ल भाषा का बहुत प्रयोग किया जाता है। पाश्चात्त्य देशों के सामान्य व्यवहार में भी यह भाषा प्रान्तीय भाषाओं के साथ-साथ स्वीकृत एवं अनिवार्य है। आंग्ल छन्दशास्त्र में मुख्य रूप से "पदभार" (syllable) का महत्त्व है। संस्कृत के छन्दशास्त्र में वर्णभार के माध्यम से लघु (ल) एवं गुरु (गा) का पता चलता है। आंग्ल भाषा पर लैटिन एवं रोमन लिपि के प्रभाव के कारण हमारे जैसे स्वर एवं व्यंजन है तो सही किन्तु संस्कृत से भिन्न स्वरूप के प्रतीत होते हैं। २६ वर्णयुक्त आंग्ल वर्णमाला हमें ज्ञात ही है किन्तु यह "पदभार" का सिद्धांत समझ लेने से हमें संस्कृत वर्ण छन्द एवं गण युक्त छन्द के साथ आंग्ल एवं अन्य पाश्चात्त्य भाषाओं के छन्दों का तुलनात्मक अध्ययन करने में सरलता रहेगी। आंग्ल भाषीय "पदभार" के मुख्य प्रकारों का विवरण table 9.1 में प्रदर्शित है।

| क्रम | आंग्ल भाषीय मुख्य पदभार | "पदभार" (syllable) कि जोड़ |
|---|---|---|
| ०१ | Monometer | ०१ जोड़ |
| ०२ | Diameter | ०२ जोड़ |
| ०३ | Trimeter | ०३ जोड़ |
| ०४ | Tetrameter | ०४ जोड़ |
| ०५ | Pentameter | ०५ जोड़ |
| ०६ | Hexameter | ०६ जोड़ |
| ०७ | Heptameter | ०७ जोड़ |
| ०८ | Octameter | ०८ जोड़ |

Table 9.1 : आंग्ल भाषीय "पदभार" के मुख्य प्रकार

इसको समझने से थोड़ी सी विभावना हमारे समक्ष प्रकट हुई है। संस्कृत में गण छन्दों में इसी तरह जोड़े बनती है और पूर्ण चरण हमें प्राप्त होता है - यह बात सिद्ध हुई है किन्तु संस्कृत छन्दों से सीधा संबन्ध या परोक्ष संबन्ध कैसे प्राप्त होगा इस विषय में थोड़ा गहन विचार करते हैं। आंग्ल पदभार के मुख्य रूप से दो प्रकार हैं - 1. stressed syllable, 2. unstressed syllable.

**Stressed syllable** वो होता है जिसमें अधिक पदभार हो, जिस पद का उच्चारण काल अधिक या दीर्घ हो। इसे हम संस्कृत के छन्दशास्त्र के परिप्रेक्ष्य में "गुरु" कि संज्ञा दे सकते हैं। इन दोनों के मध्य तात्त्विक भेद यह है कि आंग्ल छन्द "पदभार" युक्त है और संस्कृत छन्द "वर्णभार" के रास्ते पर है। जो भेद शब्द और अक्षर का है वही यहाँ पर दिखाई देता है।

**Unstressed syllable** वो होता है जिसमें कम या अल्प पदभार हो, जिस पद का उच्चारण काल थोड़ा या लघु हो। इसे हम संस्कृत के छन्दशास्त्र के परिप्रेक्ष्य में "लघु" कि संज्ञा दे सकते हैं। मजेदार बात यह है कि सर्वाधिक stressed syllable कि पहचान संज्ञा (s) है और हमारे यहाँ गुरु वर्ण को भी संस्कृत छन्दशास्त्र के तहत (s) कि संज्ञा दी जाती है। आंग्ल unstressed

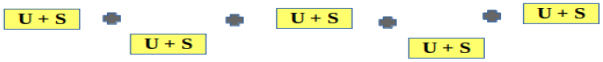


Figure 9.1 : iambic pentameter का आंग्ल बंधारण

syllable कि पहचान संज्ञा (U) है। संस्कृत छन्दों में लघु वर्ण को भी (U) संज्ञा से छन्दों के आकलन में पहचाना जाता है। मुख्य आंग्ल छन्दों के बंधारण की संस्कृत छन्दशास्त्र के साथ तुलना table 9.2 में प्रदर्शित है।

| क्रम | प्रमुख आंग्ल छन्द के नाम | छन्द बंधारण | संस्कृत छन्द स्वरूप | गणात्मक परिरूप |
|---|---|---|---|---|
| ०१ | Iambic | U[2]S[3] | ल गा | ---- |
| ०२ | Trochaic | SU | गा ल | ---- |
| ०३ | Anapestic | UUS | ल ल गा | स ल गा ("स" गण) |
| ०४ | Dactylic | SUU | गा ल ल | भा न स ("भ" गण) |

Table 9.2 : मुख्य आंग्ल छन्दों के बंधारण की संस्कृत छन्दशास्त्र के साथ तुलना

इस प्रकार से हम यह सुनिश्चित कर सकते हैं कि प्रमुख आंग्ल छन्दों पर हमारे संस्कृत छन्दशास्त्र के गण छन्दों कि विभावना का कितना स्पष्ट प्रभाव है। यही प्रमुख आंग्ल छन्दों के प्रथम तालिकानुसार पदभार के अनुसार प्रभेद विद्यमान है जिसमें उदाहरण के तौर पर हम "Iambic Pentameter" कि बात करें तो उसमें ल गा कि पाँच जोड़े होंगी। इसका एक आंग्ल उदाहरण विलियम शेक्सपियर के लिखे हुए १८ क्रम के सोनेट से देना चाहता हूँ, उसका परिरूप table 9.3 में प्रस्तुत किया गया है[4]। उसका आंग्ल बंधारण figure 9.1 में प्रस्तुत है।

| आंग्ल वर्ण | Shall | I | Com | Pare | Thee | To | A | Sum | mers | Day ? |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| बंधारण | U | S | U | S | U | S | U | S | U | S |
| संस्कृत रूप | ल | गा | ल | गा | ल | गा | ल | गा | ल | गा |
| आंग्ल पद-भार | da[5] | DUM[6] | da | DUM | da | DUM | da | DUM | da | DUM |

Table 9.3 : iambic pentameter

2 Unstressed Syllable

3 Stressed Syllable

4 What Is Iambic Pentameter? An Explanation & Examples, William Shakespeare, (nosweatshakespeare.com)

5 Unstressed Syllable

6 Stressed Syllable

Figure 9.2 : iambic pentameter से मिलता जुलता लगात्मक रूप

Iambic में पाँच "पदभार" का जोड़ है इस तरह से इसका छन्द बंधारण घटित होता है। दामोदर मिश्र विरचित "वाणीभूषण" में "नराच" छन्द का उदाहरण प्राप्त होता है।[7]

निशुम्भशुम्भचण्डमुण्डरक्तबिजघातिनी,
लुलायरूपदैत्यभूपघातपक्षपातिनी।
नवीनपीनबद्धजालकालमेघसन्निभा,
चिरं चरीकरीतु नः प्रियं पिनाकिवल्लभा॥

इसका लगात्मक रूप "iambic pentameter" से मिलता जुलता है। जिसका विवरण figure 9.2 में प्रस्तुत है।

आंग्ल छन्दों कि तुलना के पश्चात् हम लैटिन छन्दों के उदाहरण कि ओर जाते हैं। पाश्चात्त्य छन्दशास्त्रों पर लैटिन का ही प्रभाव है चाहे वो आंग्ल भाषा हो या फिर फ्रेंच हो। इसलिए लैटिन के छन्दशास्त्रीय सिद्धान्तों को आंग्ल से पृथक् नहीं समझना चाहिए। लैटिन भाषा का "Bacchic" नामक छन्द है जिसका उल्लेख पश्चिम के महान् दार्शनिक प्लेटो ने किया है[8]।

| लेटिन वर्ण | Si | Be | Ne | Te | No | Ui | Lon | Gum | Iam | la | ssa | libe |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| पदभार | U | S | S | U | S | S | U | S | S | U | S | S |
| लगात्मक रूप | ल | गा | गा | ल | गा | गा | ल | गा | गा | ल | गा | गा |

Table 9.4 :

लैटिन छन्द में स्पष्ट रूप से लगागा का चार बार पुनरावर्तन एक चरण में देख सकते हैं। इसमें १२ पद हैं और संस्कृत में १२ वर्ण से लगागा युक्त "य" गण का "शशी" छन्द बनता है उसको दामोदरजी मिश्र के "वाणीभूषण" में दिए गए उदाहरण कि तालिका के द्वारा समझते हैं।[9]

| संस्कृत छन्द वर्ण | जनानन्दकन्द : | श्रियेस्तान्मुकुन्द : |
|---|---|---|
| "य" गण का लगात्मक स्वरूप | ल गा गा ल गा गा | ल गा गा ल गा गा |

Table 9.5 :

अब हम फ्रेंच छन्दशास्त्र के उदाहरण कि ओर जाते हैं।

फ्रेंच छन्दशास्त्र भी अन्य पश्चिमी भाषाओं के छन्दशास्त्र का ही अवलंबन करता है। फ्रेंच भाषा में संयुक्ताक्षरों का प्रयोग अधिक होता है जिसे (') ऐसी संज्ञा से दर्शाया जाता है। यह संयुक्ताक्षर

7 Vā.bhū., p.43
8 Phaedo of Plato, Plato, 1894
9 Vā. bhū., p.22

स्वतः गुरु बन जाता है। फ्रेंच का "Decasyllable" छन्द है जो १० पदभारों को दर्शाता है। उसका एक उदाहरण देखते हैं[10]।

| फ्रेंच वर्ण | No us aur | Ons des lits | Ple ins d'odeurs | le'ge'res |
|---|---|---|---|---|
| छन्द स्वरूप | S U U | S U U | S U S | S |
| लगात्मक स्वरूप | गा ल ल | गा ल ल | गा ल गा | गा |
| गण प्रयोग | भा न स | भा न स | रा ज भा | गा |
| गण नाम | "भ" गण | "भ" गण | "र" गण | गुरु |

Table 9.6 :

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट होता है कि संस्कृत छन्दशास्त्र का छन्द विशेष तो नहीं किन्तु गण प्रयोग तो प्राप्त होता है। यहाँ पर "Decasyllable" छन्द में "भ" गण + "भ" गण + "र" गण + गुरु का पदभार १० पदों में दिखाई देता है। फ्रेंच उदाहरण में पहले ही कहा है कि ऐसे ही अंतिम पदभार को संयुक्ताक्षर "गुरु" समझना चाहिए।

स्पेनिश भाषा का छन्दशास्त्र भी अन्य पाश्चात्त्य भाषाओं के छन्दशास्त्रीय नियमों को स्वीकार करता है। स्पेनिश भाषा का एक छन्द है जिसका नाम "Tetradecasílabo Trocaico" है जिसका आंग्ल नाम "Trochaic Tetrasyllable" है। ए. रॉबर्ट का एक उदाहरण देखते हैं[11]।

| स्पेनिश वर्ण | So plo de | Los ma res | Men sa je | Ra del ve | Ra no |
|---|---|---|---|---|---|
| छन्द स्वरूप | S U S | U S U | S U S | U S U | S U |
| लगात्मक स्वरूप | गा ल गा | लगाल | गालगा | लगाल | गाल |
| गण प्रयोग | रा ज भा | ज भा न | रा ज भा | ज भा न | गा ल |
| गण नाम | "र" गण | "ज" गण | "र" गण | "ज" गण | गुरु + लघु |

Table 9.7 :

प्रस्तुत स्पेनिश छन्द में "र" गण + "ज" गण +'र' गण +"ज" गण +गुरु +लघु देखा जा सकता है। दामोदरजी मिश्र ने "वाणीभूषण" में "सारू" नामक वर्णवृत्त का उदाहरण दिया है जिसका बंधारण तुलनात्मक दृष्टि से उपरोक्त स्पेनिश छन्द से साम्य रखता है -[12]

| कृत्यवस्तु | सिद्धमस्तु |
|---|---|
| गा ल गा ल | गा ल गा ल |

Table 9.8 :

उक्त तालिका का लगात्मक अर्थघटन "गालगा + लगाल + गाल" भी होता है जो स्पेनिश तालिका से सम्मत है। कई विद्वान् इस तुलना से सहमत तो होंगे किन्तु और नजदीक का संस्कृत

10 Clive Scott & Christopher Prendergast, p.258

11 Lauer, A. Robert, p.13

12 Vā.bhū., p.21

का छन्द हो सकता है? या फिर स्पष्ट प्रतिरूप मिल सकता है। मेरा बस यही उत्तर है कि विभिन्न संस्कृति एवं भुखण्ड के छन्दशास्त्रों में पूर्णतः साम्य नहीं हो सकता है परन्तु तात्विक रूप से समानता हो सकती है जिसे मैंने उपरोक्त आकलन में उदाहरण के द्वारा प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया है फिर भी जिज्ञासा के लिए ही सही, स्पेनिश उदाहरण के साथ और भी एक संस्कृत छन्द है जो इससे भी अधिकतर साम्य रखता है। “वाणीभूषण" मे दामोदरजी मिश्र ने "धारि" नामक वर्णवृत्त का उदाहरण दिया है[13]। उसकी तालिका मैं निम्नोक्त प्रकार से प्रस्तुत करता हूँ।

| संस्कृत छन्द वर्ण | रा म रा | म रा म | रा म सा | र मे त | दे व ना | म |
|---|---|---|---|---|---|---|
| लगात्मक रूप | गालगा | लगाल | गालगा | लगाल | गालगा | ल |

Table 9.9 :

इस तालिका में स्पेनिश छन्दोदाहरण का अधिकांश विद्वज्जनों को दिखाई देगा। उक्त स्पेनिश छन्द में "Tetradecasílabo” शब्द पदभार कि ४ जोड़ यानि कि आठ पद का निर्देश करता है तो फिर यहाँ पर प्रस्तुत उदाहरण को भिन्न परिप्रेक्ष्य में देखेंगे तो वर्ण समूह कि आठ जोड़ देखी जाएगी, इस तरह से भी साम्य अच्छी तरह से निम्नोक्त तालिकानुसार प्रतिपादित होता है।

| संस्कृत छन्द वर्ण | राम | राम | राम | राम | सार | मेत | देव | नाम |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| लगात्मक रूप | गाल | गाल | गाल | गाल | गाल | गाल | गाल | गाल |

Table 9.10 :

इस प्रकार से एक ही छन्द कि द्विविध तालिका दर्शाने का हेतु केवल तुलनात्मक साम्य प्रस्तुत करना ही था जो निरीक्षण पर स्वतः स्पष्ट होता है।

## उपसंहार

इस प्रकार से यहाँ पर संस्कृत छन्दशास्त्रीय सिद्धांतों एवं संस्कृत "वाणीभूषण" ग्रंथ के छन्दों के माध्यम से पाश्चात्त्य आंग्ल, लैटिन, फ्रेंच एवं स्पेनिश भाषा के छन्दशास्त्र पर आंशिक या अधिकांश, प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है। यह विद्याक्षेत्र भावी शोध छात्रों में तुलनात्मक दृष्टि एवं बृहद् भाषीय अभ्यास के विषय में नूतन दिशा का परिचायक बनेगा। हमारी प्राचीन भारतीय संस्कृति के छन्दशास्त्र का वटवृक्ष विश्व स्तर के फलक पर कितना विस्तारित है यह बात का अनुमान इस तार्किक आकलन से लगाया जा सकता है। इस छोर से उस छोर तक विद्यादेवी सरस्वती का मयूरपिच्छ बहुभाषीय रंग वैविध्य एक ही स्थान पर सबको अपने में समाहित करता है उसका स्पष्ट आभास होगा।

## सङ्केताक्षरसूची

1. Vā.bhū. - Vāṇībhūṣaṇa

[13] Vā.bhū., p.23

## सन्दर्भग्रन्थसूची

1. *Nineteenth - Century french poetry: Introduction to close reading*, Clive Scott & Prendergast Christopher , Cambridge University press, 1989.
2. *Spanish Metrification* (e-book), A. Robert Lauer, Page No:- 13, Metrification (oucreate.com)
3. Vāṇībhūṣaṇa, Damodara Mishra, (ed.) Pt. Durgaprasada & Kasinatha Panduranga Parab, Kavyamala Series 53, 1925

❀❀❀

# श्रीमद्भागवद्गीता और कुरुक्षेत्र में निहित साम्यवाद

नीरज शर्मा

सारांश

साम्यवाद सम्पूर्ण संसार में सर्वदा प्रमुख विषय रहा है। आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र में विशेषतया जन साधारण के साथ बिना किसी भेदभाव के प्रत्येक क्षेत्र में समानता का भाव रखना ही साम्यवाद का परम उद्देश्य और लक्ष्य है। समाज का प्रत्येक व्यक्ति यदि इस प्रकार की समतामूलक दृष्टि विकसित कर ले तो समाज समस्त प्रकार के दुराचार, व्यभिचार आदि से मुक्त हो अपने आदर्श स्वरूप को पा सकता है। विश्व भर में अनेक समय पर अनेक ऐसे चिन्तक, विचारक एवं महापुरुष हुए जिन्होंने अपने-अपने ढंग से इस साम्यवादी दृष्टिकोण को अपनी वाणी दी और इसे समाज में स्थापित करने का प्रयास किया।

(कूट शब्द - साम्यवाद, श्रीमद्भगवद्गीता, मार्क्सवाद, विषमता)

.....

कार्ल मार्क्स उन दार्शनिकों में से हैं जो अपने विचार और चेतना के माध्यम से अपने समय को सर्वाधिक प्रभावित करते हैं तथा लाखों–करोड़ों प्रशंसकों के हृदय पर राज करते हुए अपने जीवनकाल में ही किम्वदंती बन जाते हैं। स्वभाव से भावुक वह व्यक्ति जीवन भर विचारों की गंगा में गोते लगाता रहा। धर्म, दर्शन, इतिहास, राजनीति, विज्ञान, मानव–व्यवहार आदि का पठन-पाठन और चिन्तन-मनन किया। अपने दीर्घ एवं गहन अध्ययन के उपरांत उसने राजनीति, दर्शन, अर्थशास्त्र आदि विभिन्न क्षेत्रों में कुछ मौलिक विवेचनाएं प्रस्तुत की हैं, जिनके कारण आधुनिक दर्शनशास्त्रियों में उनका स्थान अक्षुण्ण है। उनके विचारों में साम्यता सद्भावना का एक ऐसा स्रोत बहता हुआ दिखता है, जिसके कारण वह अपने समय के सबसे आधुनिक और मानवीय विचारक नजर आते हैं। सामाजिक समतावादी दृष्टि के कारण उन्हें दलित-पीड़ित श्रमिक-मजदूर वर्ग का सच्चा पैरोकार माना जाता है। मार्क्स के दर्शन के आधार पर विकसित राजनीति को आधुनिक समाजों में सर्वाधिक जगह मिली है। दुनिया के कई ऐसे देश हैं, जहां मार्क्सवाद वहां की राजनीति की मुख्य विचारधारा नहीं है; इसके बावजूद ऐसा शायद की कोई देश होगा, जहां मार्क्स के विचार राजनीति को प्रभावित न करते हों। शोषित और दमित वर्ग के प्रति गहरी निष्ठा और सामान्यजन की आवाज का प्रतीक मार्क्स का स्थान अत्यन्त सम्मानजनक है।

कार्ल मार्क्स जिस साम्यवाद की कल्पना करते हैं, उसे साकार करने के लिए वह धर्म को अफ़ीम मानते हुए उससे बचने की बात करते हैं और इसका परिणाम यह होता है कि कार्ल मार्क्स के सभी अनुयायियों में यह प्रचारित हो गया कि मार्क्सवाद और धर्म का कोई मेल नहीं है। इसका स्पष्ट सा अर्थ यह निकाला गया कि मार्क्सवाद की अवधारणा में धर्म के लिए कहीं कोई स्थान नहीं है और धर्म को साथ लेकर मार्क्सवाद के स्वप्न अर्थात् साम्यवाद की स्थापना नहीं हो सकती। जो ऐसा समझते हैं कि धर्म से च्युत होकर हम सामनस्य, सामरस्य और मानववाद की संकल्पना को सच्चे अर्थों में पूर्ण कर पाएंगे तो यह मात्र एक भ्रम के अतिरिक्त कुछ नहीं है क्योंकि धर्म को न तो जीवन से और न ही विचारों से निकाला जा सकता है और न ही साम्यवाद की कल्पना ही की जा सकती है।

वेदद्रष्टा ऋषियों-मुनियों और मनीषियों ने समता को जीवन्मुक्ति का प्रधान लक्षण स्वीकार किया है। ईशोपनिषद् में कहा गया है -

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति,
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।
यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः,
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥[1]

[1] इ.उ., ६-७

जो समस्त भूतों को आत्मा में ही देखता है तथा आत्मा को समस्त भूतों में देखता है वह किसी से भी घृणा नहीं करता। तत्त्ववेत्ता पुरुष के लिये जिस काल में सम्पूर्ण भूत प्राणी आत्मा हो जाते हैं, अर्थात् जब प्राणी सबको आत्मा ही समझने लगता है तब उस एकत्व को देखने वाले के लिये कहाँ शोक, कहाँ मोह ? ऋग्वेद के इस कथन में कितनी उदात्त भावना है -

समानी व आकृतिः समाना हृदयानि वः
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति।[2]

इसी प्रकार अथर्ववेद में कहा गया है -

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नाना धर्माणां पृथिवी यथौकसाम्,
सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुः अनपस्फुरन्ती।[3]

एक राष्ट्र एक परिवार की कल्पना – यही है वास्तविक साम्यवाद, यही है वास्तविक एकता। इस प्रकार शास्त्र की मर्यादा के अनुसार भगवत प्रीत्यर्थ या लोकसंग्रह की भावना से मोह और स्वार्थ से रहित होकर, न्याययुक्त विषमता का व्यवहार करते हुए भी सबमें उपाधिदोष से रहित ब्रह्म को समान भाव से देखना, तथा समस्त विकारों से रहित होकर समस्त द्वंद्वों में सर्वदा समतायुक्त रहना ही यथार्थ साम्यवाद है। यही परम कल्याण, परमात्मतत्त्व की प्राप्ति का साधन है। आज जिस साम्यवाद का हम ढोल पीट रहे हैं, जिस अनेकता में एकता के लिये रात दिन नारेबाज़ी कर रहे हैं – उस साम्यवाद में, उस एकता में ईश्वर अथवा एकता तो कहीं नहीं है। जिस धर्मनिरेपेक्षता पर रात दिन गरमागरम बहस होती रहती हैं उसमें धर्म का नितान्त अभाव होकर मात्र सम्प्रदायवाद का महत्त्व है। स्वार्थमूलक होने के कारण आज का साम्यवाद हिंसामय हो गया है। भले ही वह हिंसा कायिक हो, मानसिक हो अथवा वाचिक हो। साम्यवाद के नाम पर राजनीति से प्रेरित और राजनेताओं द्वारा संचालित समितियों का गठन हो जाता है जो कागज़ों पर साम्यवाद के नोट्स बनाकर अपने कर्तव्य की इतिश्री मान लेती हैं। इन समितियों का हर सदस्य साम्यवाद पर चर्चा पर मात्र अपना ही अधिकार समझता है, भले ही अपने उस अधिकार की प्राप्ति के लिये उसे अपने विपक्षी सदस्य अथवा दल को साम दाम दण्ड भेद किसी भी प्रकार से परास्त करना पड़े। अर्थात् अपने दल के विचारों पर अभिमान और दूसरों का अनादर इस साम्यवाद का प्रमुख अंग हो गया है। यह साम्यवाद का नारा आजकल की दलगत राजनीति का एक प्रमुख नारा बनकर रह गया है और हर दल इस नारे से अपना स्वार्थ सिद्ध करने में लगा हुआ है।

आधुनिक साम्यवाद जिसे हम मार्क्सवाद कहते हैं, क्या कहता है, यही न कि सबको समान भोजन मिले, समान शिक्षा मिले, स्वास्थ्य के क्षेत्र में सबको समान सुविधाएँ प्राप्त हों, कोई भूखा नंगा न रहे, किसी को अस्पृश्य न समझा जाए, लिंगभेद न किया जाए। प्रत्येक मानव को मानवीय दृष्टि से देखा जाए। लेकिन ऐसा करने या होने के लिए वस्तुतः क्या होना चाहिए और क्या नहीं, क्या धारण करने योग्य है और क्या त्याज्य है; इन बिन्दुओं पर गम्भीरता के साथ विचार करने की आवश्यकता है। सारे संसार में डंका बजा चुके मार्क्सवाद का स्वप्न अभी तक स्वप्न ही बना हुआ है और विडम्बना यह है कि स्थिति समय के साथ साथ और भी विषमतापूर्ण होती जा रही है।

---

2 ऋ., १०/१९/१४

3 अथ., १२/१/४५

कारण यह है कि आज व्यक्ति के जीवन में तत्वज्ञान की अपेक्षा भौतिक सुखों का महत्त्व अधिक है और तथाकथित मार्क्सवादी स्वयंसिद्ध व्याख्याकारों द्वारा धर्म और तत्त्व को समझे बिना किनारे कर दिए जाने का परिणाम है जबकि श्रुतिसम्मत साम्यवाद तत्वज्ञान और ईश्वरप्राप्ति के लिये किया गया एक उपाय है। ऐसी स्थिति में राग-द्वेष, मान-अपमान, लाभ-हानि, जय-पराजय, शत्रु-मित्र, निंदा-स्तुति, सुख-दुःख जैसे द्वंद्वों के लिये कोई स्थान नहीं रहता।

शास्त्रसम्मत साम्यवाद में न अहंकार है, न ममता मोह, और न ही लोभ, यदि कुछ है तो वह है मात्र कल्याण प्राप्ति की वह उदात्त भावना जिसके रहते सबमें स्वतः ही समभाव बन जाता है, जहाँ कायिक, वाचिक या मानसिक किसी प्रकार भी किसी का कोई अहित हो ही नहीं सकता, क्योंकि भौतिक सुख या स्वार्थ की कोई भावना ही वहाँ नहीं रहती। वही साम्यवाद गीता को मान्य है। "सह वीर्यं करवावहे" तथा "सं वो मनांसि जानताम्" की उदात्त भावना यही है। सबमें इस प्रकार का समभाव रखने वाले व्यक्ति को गीता में योगी कहा गया है -

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
इक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः[4]

योग द्वारा स्वयं को वश में करने वाला योगी क्योंकि जीवमात्र में समदर्शी हो जाता है इसलिये स्वयं को प्राणिमात्र में तथा प्राणिमात्र के दुःख को स्वयं में अनुभव करता है। ऐसा योगी सबके साथ यथायोग्य सद् व्यवहार करता हुआ नित्य निरन्तर सभी में अपने स्वरूपभूत एक ही अखण्ड चेतन आत्मा को देखता है, यही समदृष्टि है। जैसे वायु, तेज, जल और पृथिवी आकाश से ही उत्पन्न हैं, आकाश ही उनका परम आधार है, वे सब आकाश के ही एक अंश में स्थित हैं, और आकाश ही उन सबमें व्याप्त है, उसी प्रकार समस्त भूत आत्मा से ही उत्पन्न हैं, आत्मा ही उनका परम आधार है, वे सब आत्मा में ही स्थित हैं, और आत्मा ही उन सबमें व्याप्त है | इस प्रकार एकमात्र सर्वव्यापी अनन्त चेतन आत्मा से भिन्न कुछ भी नहीं है। इस प्रकार की समानता ही सब भूतों में आत्मा को देखना और सब भूतों को आत्मा में देखना है। यह सोचना कि समस्त क्रियाएँ मेरी ही कल्पना हैं और मैं परमात्मा से सर्वथा अभिन्न हूँ – समस्त जगत को आत्ममय देखना है।

इस प्रकार समता का सम्बन्ध प्रधानतया आन्तरिक भावों से है, सर्वत्र समदर्शन से है, समवर्तन से नहीं। इस समता का रहस्य इतना गूढ़ है कि क्रिया और व्यवहार में भेद रहते हुए भी इसमें कोई बाधा नहीं आने पाती। देश काल जाति और पदार्थों की भिन्नता के कारण बाह्य व्यवहार में भिन्नता तो न्यायसंगत और आवश्यक है। देश काल जाति और कुटुम्ब का अभिमान त्याग कर सबकी समभाव से सेवा करना ही वास्तविक साम्यवाद है। जो सर्वत्र समदृष्टि है, व्यवहार में अपना पराया होते हुए भी जो सर्वत्र समबुद्धि रहता है, जिसका समष्टिरूप समस्त संसार में आत्मभाव है वही सच्चा साम्यवादी है। गीता में कहा गया है -

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्मा तस्माद् ब्रह्माणि ते स्थिताः ॥[5]

समभाव में स्थित मन वाले जीवित अवस्था में ही सृष्टि विजय कर लेते हैं, अर्थात् मुक्त हो जाते हैं। क्योंकि ब्रह्म पक्षपातरहित तथा समदर्शी है, इसलिये उसका अनुकरण करने वाले उसी

4 गी., ६/२९
5 वही, ५/१९

में स्थित होते हैं। जैसे किसी भी अंग में चोट लगने पर या उसकी संभावना होने पर मनुष्य उसके प्रतीकार की चेष्टा करता है उसी प्रकार समतावादी ज्ञानी पुरुष किसी भी जीव अथवा समुदाय पर विपत्ति पड़ने पर उसके प्रतीकार की यथायोग्य चेष्टा करता है। यही कारण है कि इस प्रकार से जिनकी सर्वत्र सम बुद्धि हो जाती है वे इसी जन्म में संसार को जीतकर जन्म मरण के चक्र से मुक्त हो जाते हैं।

सत्व, रज, तम इन्हीं तीन गुणों में राग द्वेष मोहादि समस्त दोष समाहित हैं। समदृष्टि रखने वाला इन तीनों ही गुणों से रहित हो जाता है -

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥[6]

इस समस्त जगत को ईश्वर से व्याप्त देखने वाला पुरुष ही समतावादी होता है "ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।" वास्तव में समता ही सर्वोच्च न्याय है, न्याय ही सत्य है, सत्य परमात्मा का स्वरूप है, और जहाँ परमात्मा है वहाँ नास्तिकता, अधर्म, काम, क्रोध, लोभ, मोह, कपट, हिंसा आदि दुर्गुणों के लिये स्थान ही नहीं रहता। वहाँ सम्पूर्ण अनर्थों का सर्वथा अभाव होकर स्वतः ही सद्गुणों का विकास हो जाता है । समता अमृत है तो विषमता विष। सर्वत्र परमात्मबुद्धि होने के कारण अत्यन्त विलक्षण स्वभाव वाले मित्र, शत्रु, सज्जन पापी आदि के आचरण स्वभाव व्यवहार आदि के भेद का जिस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, जिसकी बुद्धि में किसी समय किसी भी परिस्थिति में, किसी भी निमित्त से भेद भाव नहीं आता, जो शत्रु से द्वेष नहीं रखता न ही मित्र से पक्षपात करता है, जो मान में उन्मत्त नहीं होता और अपमान से कर्तव्य विमुख नहीं होता, शीतोष्ण सुख दुःख सभी अवस्थाओं में समान रहता है वही समबुद्धि होता है। उसके मन में समस्त भूतों के प्रति स्वार्थ रहित स्वाभाविक मैत्री व दया का भाव होता है, वह व्यक्ति पूर्णकाम हो जाता है। वह प्रत्येक अवस्था में सन्तुष्ट रहता है। यही कारण है कि उसमें किसी भी प्रकार के दुर्गुण अथवा दुराचार की संभावना नहीं रहती।

गीता का साम्यवाद सर्वत्र ईश्वर के दर्शन कराता है। इसमें पग पग पर धर्म की पुष्टि तथा अहिंसा का प्रतिपादन होता है। स्वार्थ का इसमें लेश भी नहीं है। इसमें कहीं भी आन्तरिक भेद न होकर सर्वत्र आत्मा को अभिन्न देखने की शिक्षा है। इसका लक्ष्य है अभिमानशून्यता के द्वारा आध्यात्मिक सुख का अनुभव करके ईश्वर को प्राप्त करना। यदि आज के साम्यवादी गीता के समतामूलक सिद्धांत का एक अंश भी अपना लें तो ऊँच-नीच, छूत-अछूत, अपना-पराया जैसे समस्त झगड़े बहुत सीमा तक समाप्त हो जाएँ। प्राणिमात्र सुख व शान्ति का जीवन व्यतीत कर सके तथा हमारे मनीषियों की एक समान मन व वाणी होने की कामना पूर्ण हो जाए। श्री श्री रविशंकर जी कहते हैं कि आधुनिक साम्यवाद के प्रणेता कार्ल मार्क्स, लेनिन एवं माओत्से तुंग के समय से भी काफी पहले भारतवर्ष में एक ऐतिहासिक महापुरुष का प्रादुर्भाव हुआ था, जिन्होंने न केवल गरीब, असहाय एवं दलितों पर होने वाले अत्याचारों का विरोध किया, उनके हितों के लिए संघर्ष किया बल्कि तत्कालीन धार्मिक पाखंड एवं थोथे कर्म कांडों का भी विरोध किया और बदले में समाज में उचित रीति रिवाजों के प्रचलन के लिए लोगों को प्रेरणा दी। वह महापुरुष थे श्री कृष्ण, जिनको हिन्दू परायण जनता भगवान का अवतार मानती है। जैसा कि सर्वविदित है साम्यवाद की मूलभूत धारणा है, मनुष्य सब समान हैं, इनमें ऊंच-नीच का कोई भेद नहीं है और जो समाज के

[6] वही, १०/८

कमजोरों पर अत्याचार करता है, उसे सजा मिलनी ही चाहिए। इसके साथ ही हमारी कोशिश हो कि हम एक ऐसे समाज का निर्माण कर सकें, जिसमें स्वार्थपरकता, एक ही व्यक्ति अथवा परिवार का निरकुंश एवं ठाट-बाट का शासन नहीं हो। न ही किसी तरह का उत्पीडऩ हो। श्री कृष्ण ने अपने काल में यही सब किया। उनके जीवन से हमें यह शिक्षा मिलती है कि कैसे उन्होंने आज से ५००० साल पहले इन सिद्धान्तों एवं विचारों के प्रति अपनी प्रतिबद्धता दर्शायी थी।

"गीताधर्म और मार्क्सीवाद" शीर्षक अपने आलेख में स्वामी सहजानन्द सरस्वती कहते हैं कि मार्क्स का साम्यवाद भौतिक होने के कारण हलके दर्जे का है, तुच्छ है गीता के आध्यात्मिक साम्यवाद के मुकाबिले में। गीता में प्रायः बीस जगह या तो सम शब्द का प्रयोग मिलता है या उसी के मानी में तुल्य जैसे शब्द का प्रयोग। दूसरे अध्याय के ३८वें तथा ४८वें, चौथे अध्याय के २२वें, पाँचवें अध्याय के १८-१९वें, छठे अध्याय के ८, ९, १३, २९, ३२, ३३वें, नवें अध्याय के २९वें, बारहवें अध्याय के १३, १८वें, तेरहवें अध्याय के ९, २७, २८वें, चौदहवें अध्याय के २४वें तथा अठारहवें अध्याय के ५४वें श्लोकों में सम, समत्व या साम्य शब्द आया है। किसी किसी श्लोक में दो बार भी आया है। चौदहवें अध्याय के २४वें श्लोक में सम के साथ ही तुल्य शब्द भी आया है और २५वें में सिर्फ तुल्य शब्द ही दो बार मिलता है। इनमें केवल छठे के १३वें श्लोक वाला सम शब्द 'सीधा' (Straight) के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसलिए उसका साम्यवाद से कोई भी सम्बन्ध नहीं है। शेष सम शब्दों या उन्हीं के अर्थ में प्रयुक्त तुल्य शब्दों का साम्यवाद से संबंध जरूर जुड़ जाता है। यदि आसक्त, अनासक्त, परित्यागी या परित्याग आदि शब्दों को, जो सम के ही अर्थ में उसी अभिप्राय से ही प्रयुक्त हुए हैं, भी इसी सिलसिले में गिन लें; तब तो गीता के अंग-प्रत्यंग में यह बात पाई जाती है। पाँचवें अध्याय के १८-१९ - दो - श्लोकों में जो कुछ कहा है वह तो दर्शन या ज्ञानात्मक ही है। क्योंकि वहाँ साफ ही लिखा है कि पंडित लोग समदर्शी होते या सम नाम की चीज को ही देखते हैं, 'पंडिताः समदर्शिनः', 'साम्ये स्थितं मनः।' छठे अध्याय के ८-९ श्लोकों में भी 'समलोष्ठाश्मकांचनः', 'समबुद्धिर्विशिष्यते' के द्वारा कुछ ऐसा ही कहा है।

श्री अरविन्द जी गीता-प्रबन्ध में अपना मत प्रकट करते हुए कहते हैं कि भारतीय संस्कृति में जिस करुणा की बात की गई है वह आर्य योद्धाओं के शौर्य का प्राण होती है, जो किसी मरे को नहीं मारा करती, बल्कि दुर्बल, दीन, पीडित, पराभूत, आहत और गिरे हुए की सहायता और रक्षा करती है। परंतु वह भी दैवी करुणा की है जो बलशाली पीड़क और धृष्ट अत्याचरी को मार गिराती है और यही साम्यवादी अथवा मार्क्सवादी अवधारणा का भी प्रयोजन है।[7]

श्रीमद् भगवद्गीता में दृष्ट साम्यदृष्टि आध्यात्मिक आधार पर अवस्थित है जबकि मार्क्सवादी अवधारणा धर्म को अलग रखकर साम्यवाद के भौतिक तत्व पर अधिक अवलम्बित दीख पड़ती है, लेकिन यह अन्तर केवल उपरी है; अन्तःपक्ष इससे कुछ भिन्न है। मार्क्सवाद अनिश्वरवादी नहीं है और न ही धर्म के अस्तित्व को अस्वीकार करता है। उनका उद्देश्य तो मात्र इतना है कि धर्म मनुष्य को भाग्यवादी बना देता है, जो उसे किसी भी अवस्था में स्वीकार नहीं क्योंकि यहीं से शोषण, अन्याय और असमानता का प्रारम्भ होता है। मार्क्सवाद का असली काम निरीश्वरता का प्रचार करना नहीं है। उसका तो काम शोषितों एवं पीड़ितों को, कमानेवालों को शिक्षित तथा वर्ग चेतनायुक्त करना है। जो लोग मार्क्सवाद को धर्म का विरोधी कहते हैं, शायद वे गीता-प्रदत्त धर्म के वास्तविक अर्थ अभी तक समझने में समर्थ नहीं हो पाए। स्वामी सहजानन्द सरस्वती जी का भी यही कथन है कि गीता में जो धर्म बताया गया है वह तो वर्तमान धर्म से अलग ही है, इसलिए उसके साथ धर्म

7 गी.प्र, पृ. ५७

का विरोध नहीं है।[8]

एक स्थान पर लेनिन पादरी, पुरोहितों तक को अपनी पार्टी में लेने की बात करते हैं, बशर्ते कि उनका प्रधान कर्म धर्मप्रचार न होकर पार्टी के कार्यक्रम को पूरा करना हो, तो फिर उन पर धर्म अथवा ईश्वर का अविश्वासी होने का आरोप स्वयं निराधार हो जाता है। बात केवल इतनी है कि युगों-युगों से धर्म को जिस ढंग से व्याख्यायित प्रचारित एवं धर्म के तथाकथित स्वयंभू ठेकेदारों ने एक साधन बना दुरुपयोग किया है; उसी विपदा को देखते हुए मार्क्सवाद धर्म को अलग रखने की बात करते रहे हैं।

वास्तविक साम्यवाद की स्थापना के लिए समाज में हो रहे प्रत्येक प्रकार के भेदभाव को नष्ट कर समाजवाद स्थापित करनी होगी, लेकिन जब तक सभी मनुष्यों में सुख-भाग सम नहीं होगा; तब तक यह स्थिति संभव नहीं -

शांति नहीं तब तक जब तक, सुख-भाग न नर का सम हो,
नहीं किसी को बहुत अधिक हो, नहीं किसी को कम हो।[9]

व्यक्तिगत सुखों की प्राप्ति कोई कठिन और बड़ा काम नहीं है। कठिन और बड़ा काम तो संसार के सभी मनुष्यों के सुख के लिए कर्म करना होता है। काव्यकृति कुरुक्षेत्र की रचना करने वाले हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि अपनी साम्यवादी दृष्टि के लिए ख्यात हैं, जिन्होंने महाभारत के युद्ध को आधार बनाकर आधुनिक सन्दर्भ लेते हुए युद्ध की अनिवार्यता के प्रश्न को इन शब्दों में सामने रखा है -

युद्ध को तुम निन्द्य कहते हो मगर, जब तलक हैं उठ रही चिंगारियाँ
भिन्न स्वार्थों के कुलिश-संघर्ष की, युद्ध तब तक विश्व में अनिवार्य है।[10]

'कुरुक्षेत्र' दिनकर के समग्र उपनिवेशवाद विरोधी काव्य चिंतन का भावबंध है जिसमें उपनिवेशवाद का आर्थिक शोषण मुख्य पक्ष है -

सुख समृद्धि का विपुल कोष, संचित कर कल, बल, छल से,
किसी क्षुधित का ग्रास लूट, धन लूट किसी निर्बल से,
हिलो, डुलो मत, हृदय रक्त, अपना मुझको पीने दो,
अचल रहे साम्राज्य शांति का जियो और जीने दो॥[11]

गीता में जिस युद्ध के लिए कृष्ण अर्जुन को प्रेरित कर रहे हैं, वह व्यक्तिगत बदले की भावना अथवा वैयक्तिक सुख और साधनों की प्राप्ति के लिए नहीं बल्कि धर्म, सत्य और सामाजिक भावना के लिए न्याय स्थापना के लिए है। दिनकर जी भी यही मानते हैं कि यह युद्ध कुछ व्यक्तियों के लिए नहीं था बल्कि इसका अन्तिम लक्ष्य समस्त मानव-समाज को सुख प्रदान करना था, जो एक कठिन कार्य होता है। कुरुक्षेत्र में सामाजिकता की इस भावना को इन शब्दों में पिरोया है -

---

8 स्वामी सहजानन्द सरस्वती, ज्योतिकलश, पृ.२२९

9 कुरु., सर्ग-२, पृ.९१

10 वही, सर्ग-२, पृ.१९

11 वही, सर्ग-३, पृ.२२

इस विवक्ति आहत वसुधा को अमृत पिलाना होगा,
अमित लता-गुल्मों में फिर से सुमन खिलाना होगा।
हरना होगा अश्रु-ताप हत-बन्धु अनेक नरों का,
लौटाना होगा सुहास अगणित- विषण्ण अधरों का।[12]

इसलिए मनुष्य को केवल अपने व्यक्तिगत सुख-दुख को न देखकर समस्त समाज के दुख-कष्ट को दूर करने का उपक्रम करना चाहिए; यही समाजवाद का वास्तविक उद्देश्य है। कवि दिनकर कृत कुरुक्षेत्र में भीष्म युद्धिष्ठिर से कहते हैं -

निज को ही देखो न युद्धिष्ठिर, देखो निखिल भुवन को।
स्ववत् शान्ति-सुख की ईहा में, निरत व्यग्र जन-जन को॥[13]

मनुष्य के संघर्ष से बचा कर निकलने की प्रवृति के कारण अर्जुन की तरह त्याग, तप और भिक्षा मांग कर जीवन यापन करने की बात पर कहा गया है -

त्याग, तप भिक्षा ? बहुत हूँ जानता मैं भी, मगर, त्याग, तप, भिक्षा, विरागी योगियों के धर्म हैं;

संकटकाल में वीरों का मात्र एक ही धर्म है और वह है हाथ में शस्त्र उठाकर युद्धभूमि में प्रस्तुत हो जाना। और यदि वह ऐसे समय में भी पाप और पुण्य के संशय में उलझा रहे तो यह कदापि श्रेयस्कर नहीं। क्योंकि -

पातकी न होता है प्रबुद्ध दलितों का खड्ग, पातकी बताना उसे दर्शन की भ्रान्ति है,
शोषण की श्रृंखला के हेतु बनती जो शांति, युद्ध है यथार्थ में व भीषण अशांति है
सहना उसे ही मौन हार मनुजत्व को है, ईश की अवज्ञा घोर, पौरुष की श्रांति है।[14]

लेकिन यह तुम जैसे वीरों के लिए कदापि शोभा और श्री का कारण नहीं हो सकता -

बद्ध, विदलित और साधनहीन को है उचित अवलम्ब अपनी आह का;
गिड़गिड़ाकर किन्तु माँगे, भीख क्यों वह पुरुष, जिसकी भुजा में शक्ति हो ?[15]

कवि दिनकर की धारणा है कि अन्तिम उद्देश्य मात्र भौतिक साम्यवाद नहीं बल्कि आध्यात्मिक साम्यदृष्टि है, जो मानवता का परमलक्ष्य है, जो आत्मत्याग और कामनाओं को सीमित कर ही पाया जा सकता है। तभी ऐसा युग आएगा जब शोषण, अनाचार और अत्याचार समाप्त होगा -

मनुज के श्रम के अपव्यय की प्रथा रुक जाए।
सुख-समृद्धि-विधान में नर के प्रकृति झुक जाए॥[16]

12 वही, सर्ग-७, पृ.१२३
13 वही, सर्ग-७, पृ.१०५
14 वही, सर्ग-३, पृ.३२
15 वही, सर्ग-२, पृ.१९
16 वही, सर्ग-६, पृ.८४

साम्यवाद के इसी भाव के लिए ईश्वर से प्रार्थना करते हुए दिनकर जी पूछते हैं - साम्य की वह रश्मि स्निग्ध उदार, कब खिलेगी विश्व में भगवान। कवि दिनकर ने अपनी रचना कुरुक्षेत्र में कहा है कि गीता का निष्काम कर्म व्यक्तिगत स्वार्थ नहीं अपितु सामाजिक सुख और न्याय की स्थापना के लिए अत्यन्त आवश्यक एवं कल्याणकारी है –

बुला रहा निष्काम कर्म वह, बुला रही है गीता।
बुला रही है तुम्हे आर्त हो मही समर संभीता॥[17]

कवि की संकल्पना है कि धरती पर ऐसी व्यवस्था बनेगी -

श्रेय होगा मनुज का समता-विधायक ज्ञान, स्नेह-सिञ्चित न्याय पर नव विश्व का निर्माण।
एक नर में अन्य का निःशंक, दृढ़ विश्वास, धर्मदीप्त मनुष्य का उज्ज्वल नया इतिहास।
समर शोषण, ह्रास की विरिदावली से हीन, पृष्ठ जिसका एक भी होगा न दग्ध मलीन।
मनुज का इतिहास, जो होगा सुधामय कोष, छलकता होगा सभी नर का जहाँ सन्तोष।[18]

श्रीमद्भगद्गीता का मर्म जानने वाले इस बात को बेहतर समझते हैं कि धर्म एक निरपेक्ष जीवन मूल्य है और यह साम्यदृष्टि पर अवलम्बित है। कुरुक्षेत्र में साम्य के लिए ही शंखनाद होता है। विषमता और अन्याय ही इनकी दृष्टि में सभी क्लेशों और युद्धों की जड़ है और यही अवधारणा आधुनिक मार्क्सवादी दर्शन की भी है। गीता मनुष्य को सदा निर्भयता का सन्देश देती है। वस्तुतः गीता साम्यवाद की आधारभूत पीठिका है और गीताधर्म को सार्वभौम धर्म सारे संसार का धर्म-मानने और कहने में लेशमात्र भी आशंका नहीं है। स्वयं योगेश्वर कृष्ण का श्रीमद्भगद्गीता के चतुर्थ अध्याय में दिया गया यह वचन सामरस्य, सामनस्य और सामंजस्य की दृष्टि से युक्त साम्यवाद का अपूर्व उद्घोष है -

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधुनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

## सङ्केताक्षरसूची

1. अथ. - अथर्ववेद
2. इ.उ. - इशोपनिषद्
3. ऋ. - ऋग्वेद
4. कुरु. - कुरुक्षेत्र
5. गी. - श्रीमद्भगवद्गीता

[17] वही, सर्ग-७, पृ.१२२
[18] वही, सर्ग-६, पृ.८४

6. गी.प्र. - गीता-प्रबन्ध

## सन्दर्भग्रन्थसूची


1. ऋग्वेद, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, २००६
2. ईशोपनिषद्, भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद (सम्पा.), इस्कान बुक्स्, बॉम्बे, १९७२
3. कुरुक्षेत्र, रामधारी सिंह दिनकर, राजपाल एंड सन्स, नई दिल्ली,१९९०
4. गीता-प्रबन्ध, श्री अरबिन्द आश्रम प्रकाशन, पॉण्डिचेरी, २०१७
5. श्रीमद्भगद्गीता, गीता प्रेस, गोरखपुर, २००८
6. स्वामी सहजानन्द सरस्वतीः ज्योति कलश, महाचन्द्र प्रसाद सिंह, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, २०१४


❀❀❀

# जानकीहरण महाकाव्य में विद्यमान अर्थ विस्तार

नेहा जैन

सारांश

भाषा के साथ अर्थ का महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध होता है। अर्थ के अभाव में न तो भाषा, भाषा रहती है, न समाज की संकल्पना का कोई अर्थ होता है। इस प्रकार समाज और भाषा के परिप्रेक्ष्य में अर्थ का केन्द्रिक महत्त्व स्वतः सिद्ध है। अर्थ भाषा का व्यावहारिक पक्ष है, जिसके प्रमाण समाज में हमें प्रतिक्षण मिलते रहते हैं। इसलिए ऋग्वेद ने अर्थरहित वाणी को 'अफलामपुष्पाम्'[1] अर्थात् फल और पुष्परहित कहा है। सम्भवतः शब्दार्थ के नितान्त अपरिहार्य महत्त्व के कारण ही रघुवंशम् महाकाव्य में महाकवि कालिदास ने निम्न मंगलाचरण प्रस्तुत किया है -

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थः प्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वती परमेश्वरौ॥[2]

शब्दार्थ के आंतरिक पक्ष का विश्लेषण अर्थविज्ञान के अन्तर्गत किया जाता है। अर्थविज्ञान के माध्यम से शब्दों के अर्थ का विविध दृष्टिकोणों से अध्ययन किया जाता है। उन्हीं के अन्तर्गत अर्थ विज्ञान के प्रख्यात भाषाविद् ब्रील ने अर्थ में होने वाले परिवर्तन की तीन दिशाएँ प्रतिपादित की हैं - अर्थ विस्तार, अर्थ संकोच एवं अर्थादेश। उनके अन्तर्गत प्रतिपादित 'अर्थ विस्तार' वस्तुतः किसी शब्द के मौलिक अर्थ के अधिक विस्तृत हो जाने को दर्शाता है। यह कवि की नवीनतावादी विचारधारा का परिचायक होता है। संस्कृत भाषा में विद्यमान अनेक शब्द ऐसे हैं, जिन्होंने कालांतार में अपने मौलिक अर्थ की अपेक्षा एक विस्तृत अर्थ को धारण कर लिया। इसी परिपाटी का अनुसरण महाकवि कुमारदास ने अपने 'जानकीहरण' नामक महाकाव्य में भी किया है। जानकीहरण में ऐसे अनेक शब्द यत्र-तत्र विद्यमान हैं, जिनमें अर्थ का विस्तार स्पष्टतः परिलक्षित होता है। प्रस्तुत शोध-पत्र में जानकीहरण महाकाव्य में विद्यमान अर्थ विस्तार का विवेचन किया गया है।

(कूट शब्द : जानकीहरण, अर्थ परिवर्तन, अर्थ विस्तार)

.....

परिवर्तन प्रकृति का शाश्वत नियम है। परिवर्तन किसी भी जीवित सत्ता की सबसे बड़ी विशेषता है। जीवित भाषा के लिए भी यह बात पूर्णतः सत्य है। प्रत्येक शब्द (प्रत्येक भाषिक इकाई) का अर्थ होता है, किन्तु यह अर्थ सर्वदा एक नहीं रहता। इसमें परिवर्तन होता रहता है। इस अर्थ परिवर्तन को अर्थ विकास भी कहा जाता है। भाषा के विकास के साथ ही नए भावों को व्यक्त करने के लिए नवीन शब्द प्रचलन में आते हैं, या वही शब्द विकास के साथ नवीन अर्थ भी विकसित कर देते हैं। अनावश्यक कुछ शब्द भाषा में प्रयोग से बाहर भी हो जाते हैं। साथ ही समय व परिस्थिति के अनुसार कुछ शब्दों के अर्थ में परिवर्तन भी हो जाता है।

किसी भी भाषा के वैयाकरण भाषा के सम्यक् व्यवहार के लिए चाहे जितने भी नियम बना लें, किन्तु अर्थ में परिवर्तन को वे नहीं रोक सकते।

जब कोई शब्द पहले सीमित अर्थ में प्रयोग किया जाता हो, किन्तु बाद में वह विस्तृत रूप धारण कर ले, तो इसे अर्थ विस्तार कहा जाता है। अर्थ विस्तार का विशद विवेचन भर्तृहरि ने किया है -

संसर्गिषु तथाऽर्थेषु शब्दो येन प्रयुज्यते।
तस्मात् प्रयोजकादन्यानपि प्रत्याययत्यसौ॥[3]

---

1 ऋ.- 9.71.5

2 रघु.- 1.1

3 वा.प., वा.का.- 299

यथा शब्दोऽपि कस्मिंश्चित् प्रत्याय्यार्थो विवक्षिते।
अविवक्षितमप्यर्थं प्रकाशयति सन्निधेः ॥[4]

अर्थात् जिस प्रकार दीपक घटादि के दर्शन के लिए प्रयुक्त किया जाता है परन्तु वह घट के साथ ही साहचर्य और सामीप्य के कारण अन्य वस्तुओं को भी प्रकाशित करता है। इसी प्रकार शब्द भी जिन अर्थों में प्रयुक्त होता है, उनके साहचर्य से अन्य अर्थों का भी प्रकाशन करता है। शब्द अपने मुख्यार्थ का भी बोध कराता है, परन्तु जो अर्थ विवक्षित नहीं है, उसका भी सान्निध्य के कारण बोध करता है।

पतंजलि का कथन है कि अर्थ विस्तार विशेष की अविवक्षा और सामान्य की विवक्षा से होता है —

विशेषस्याविवक्षितत्वात् सामान्यस्य च विवक्षितत्वात् सिद्धम्।[5]

प्रस्तुत शोध पत्र के माध्यम से महाकवि कुमारदास द्वारा विरचित जानकीहरण महाकाव्य में विद्यमान अर्थ विस्तार का विवेचन किया गया है। प्रस्तुत महाकाव्य में महाकवि कुमारदास ने ऐसे अनेक शब्दों का प्रयोग किया है, जो अपने सीमित अर्थ की परिधि से बाहर निकलकर व्यापक अर्थ की प्रतीति करा रहे हैं। वस्तुतः ऐसे शब्द अर्थ विस्तार की ओर इंगित करते हैं। जानकीहरण में प्रयुक्त ऐसे कुछ शब्दों का विवेचन यहाँ प्रस्तुत है —

- अधर — संस्कृत में 'अधर' शब्द मूलतः तुलनात्मक विशेषण के रूप में प्रयोग किया जाता था। यास्क ने अधर शब्द की व्युत्पत्ति निम्न प्रकार से की है - अधस्$अर(<ऋ)[6] जिसका शाब्दिक अर्थ है - 'नीचे जाने वाला'। ऋग्वेद में भी 'निम्नतर' अर्थ में अधर शब्द का प्रयोग हुआ है।[7] लौकिक संस्कृत साहित्य में अधर शब्द का प्रयोग नीचे का होंठ, निम्नतर अथवा होंठ अर्थों में किया जाता है। वस्तुतः इस अर्थ विकास का कारण है - 'निचला' अर्थ में अधर शब्द का ओष्ठ शब्द के साथ प्रयोग। महाकवि कुमारदास ने भी अधर शब्द का ओष्ठ के साथ प्रयोग किया है —
  - निरूद्धहासस्फुरिताधरोष्ठः[8]
  - यत्तदीयमधरोष्ठपल्लवम्[9]
  - श्वसित हतरूचिर्वराधरोष्ठः[10]

  'अधर' विशेषण का 'ओष्ठ' शब्द के साथ प्रयोग होते-होते कालांतर में ओष्ठ का भाव भी अधर शब्द में संक्रांत हो गया और 'अधरोष्ठ' के लिए केवल 'अधर' शब्द ही प्रयुक्त होने

4 वा.प., वा.का.- 301
5 महा.- 1,2,68
6 निरु.- 2.11
7 ऋ.- 2.12.4
8 जा.- 3.43
9 जा.- 8.15
10 जा.- 16.46

लगा। इसके अर्थ में पुनः विस्तार हुआ और कालांतार में यह सामान्य रूप से होंठ (नीचे का हो अथवा ऊपर का) को ही लक्षित करने लगा। जानकीहरण में भी कविवर ने 'ओष्ठ' अर्थ के प्रकटीकरण के लिए अनेक स्थानों पर अधर शब्द का प्रयोग किया है।[11]

- कुशल - कुशल शब्द की व्युत्पत्ति है - 'कुशान् लाति इति कुशलः' अर्थात् कुश (घास) को लाने वाले व्यक्ति को ही पहले कुशल कहा जाता था। कुश का अग्रभाग तीक्ष्ण होता है उससे हाथ के कटने का भय रहता था, अतः उसको लाने में विशेष सावधानी व चतुरता की आवश्यकता होती थी। इसी कारण 'कुशल' शब्द के साथ 'चतुर' अर्थ संलग्न हो गया और कालांतर में किसी भी कार्य को चतुरतापूर्वक करने वाले व्यक्ति को कुशल कहा जाने लगा। प्रस्तुत महाकाव्य में भी कुशल शब्द का प्रयोग 'चतुर' अर्थ के संदर्भ में ही किया गया है —

  - केचिद्विधातुं विधिमुद्यतेभ्यः क्रियासु दक्षाः कुशलेतरेभ्यः[12]
  - व्याजहार ननु लज्जया गिरा नव्यनृत्यकुशलेव भर्त्तरि[13]

- गुण - गुण शब्द का मूल अर्थ है - रस्सी की लड़ अथवा डोरी। जानकीहरण में डोरी अर्थ में गुण शब्द का अनेक स्थानों पर प्रयोग किया गया है।[14] शनैः शनैः गुण शब्द भी अनेक अर्थों में विस्तृत होता चला गया। रस्सी, दो या दो से अधिक लड़ों से बटकर बनाई जाती है। वे लड़ उस रस्सी के घटक (मुख्यावयव) होते हैं। बाद में इसी भाव-सादृश्य के आधार पर किसी भी वस्तु के मुख्य अवयवों, मुख्य विशेषताओं अथवा स्वभाव को भी गुण कहा जाने लगा। आलंकारिक रूप में शरीर में पाए जाने वाले सत्त्व, रजस् और तमस् नाम के तीन स्वभावों या धर्मों को भी गुण कहा जाता है। गुण शब्द के अन्य अनेक अर्थ (सद्गुण, अच्छाई, लाभ, उपयोग आदि) भी विकसित हुए। जानकीहरण में भी इन अर्थों में गुण शब्द का बहुधा प्रयोग किया जाता है।[15]

- तैल - तिल शब्द में अण् प्रत्यय लगाकर तैल शब्द की निष्पत्ति होती है। तैल शब्द का मूल अर्थ है - तिल का सार अथवा रस। धीरे-धीरे इसका अर्थ विस्तृत होकर द्रवमात्र के लिए प्रयुक्त होने लगा। अब तो तैल का प्रयोग सभी प्रकार के तेल के लिए होता है - तिल, सरसों, मूँगफली, गोला, अलसी आदि। यहाँ तक कि तिल के तेल के लिए 'तिलतैलम्' शब्द का प्रयोग करना पड़ता है। जानकीहरण में भी तेल के लिए तैल शब्द का प्रयोग निम्न प्रकार से हुआ है -

  - 'सलिलविच्युततैलसमप्रभम्'[16]
  - 'सतैलपटवेष्टिता चटचटं स्फुटन्ती भृशम्'[17]

---

11 जा.- 8.16, 8.40, 8.47, 8.52, 8.96, 8.98, 9.60, 10.12, 10.89, 11.29, 12.28, 16.35,16.48, 16.53, 16.66, 19.38, 19.49

12 जा. - 7.46

13 जा. - 8.20

14 जा. - 8.8, 8.10, 8.37, 9.42, 9.44, 12.24, 13.40, 19.13

15 जा. - 1.78, 1.89, 2.68, 5.38, 8.49, 10.3, 10.66, 12.50, 15.16

16 जा.- 11.54

17 जा.- 13.43

- चन्द्र - संस्कृत में चन्द्र शब्द मूलतः एक विशेषण था, जिसका मूल अर्थ था - चमकीला। चन्द्र शब्द के 'चमकीला' अर्थ से 'चाँद' अर्थ विकसित हुआ। इस अर्थ विकास का भी एक कारण है। चाँद के चमकीला होने से उसके लिए इस विशेषण का प्रयोग सर्वप्रथम अथर्ववेद में मिलता है।[18] इसके पश्चात् अन्य वैदिक ग्रंथों[19] व लौकिक संस्कृत-साहित्य में भी (पुं०) चन्द्र शब्द का चाँद अर्थ में प्रचुर प्रयोग किया गया है। जानकीहरण महाकाव्य में भी चन्द्रमा के संदर्भ में चन्द्र शब्द का प्रयोग बहुधा देखा गया है।[20]
- पंक्ति - संस्कृत में पंक्ति शब्द का मौलिक अर्थ है - 'पाँच का समूह'। इसकी व्युत्पत्ति मोनियर विलियम्स ने पंचन् (पाँच) से मानी है। इसी प्रकार ऋग्वेद में पंक्ति नामक एक छंद भी है, जिसमें पाँच पाद होने के कारण ही उसका यह नाम पड़ा। किन्तु शनैः शनैः पंक्ति शब्द का अर्थ विस्तृत होकर किसी भी संख्या के समूह को द्योतित करने लगा। जानकीहरण में 'दस' के समूह के अवबोधन हेतु अत्यन्त मनोहारी रूप में इसका प्रयोग हुआ है -
  - 'तत्राभवत् पंक्तिरथाभिधानो भर्ता भुवो भानुनिभः प्रभावैः'[21]
  - 'वक्त्राणि पंक्तिसंख्यानि पुनः सृष्टानि शूलिना'[22]

  पंक्ति शब्द के अर्थ में इससे भी अधिक विस्तार होता गया, तथा किसी भी प्रकार की वस्तुओं के समूह अथवा कतार अथवा श्रेणी के लिए भी इसका प्रयोग होने लगा। जानकीहरण में भी कतार अथवा श्रेणी अर्थ में इसका प्रयोग अनेक बार किया गया।[23]
- सिन्धु - सिन्धु शब्द का मूल अर्थ है - नदी, जलधारा अथवा स्रोत। ऋग्वेद में नदी अर्थ में इसका प्रचुर प्रयोग किया गया है - 'यो हत्वाहिमरिणात् सप्त सिन्धून्'।[24] वैदिक साहित्य में सिन्धु शब्द के 'नदी' अर्थ से 'समुद्र' अर्थ का भी विकास पाया जाता है।[25] जानकीहरण महाकाव्य भी इस अर्थ (समुद्र) में सिन्धु शब्द के प्रयोग से अछूता नहीं है।[26]
- निपुण - जानकीहरण में किसी कार्य को करने में दक्ष अथवा चतुर व्यक्ति के लिए कवि ने 'निपुण' शब्द का प्रयोग निम्न रूप में किया है -
  - 'इति निपुणसखी गिरा निरासे मनसि निशाचरयोषितोऽभिमानः'[27]

  वस्तुतः निपुण शब्द का इस अर्थ में प्रयोग अर्थ विस्तार का ही एक रूप है। आरम्भिक संस्कृत-भाषायी समाज में निपुण शब्द का प्रयोग उस व्यक्ति के लिए किया जाता था, जो

18 अथर्व.- 2.15.2, 2.22.1, 3.31.6 इत्यादि
19 वाज.- 22.28, 39.2, शतपथ.- 6.2, 2.16
20 जा.- 1.23, 1.25, 1.37, 2.8, 2.12, 3.81, 6.3, 7.13, 7.21, 7.30, 7.33, 8.80, 12.30, 16.21, 16.23, 20.32
21 जा.- 1.12
22 जा.- 2.51
23 जा.- 1.58, 3.33, 3.37, 11.4, 12.4, 14.46, 16.70, 18.1
24 ऋ.- 2.12.3
25 ऋ.- 1.115.6
26 जा.- 3.59, 6.38, 11.90, 11.95, 14.34, 14.45
27 जा.- 16.40

दान–पुण्य करने में चतुर (नि$पुण$क) हो, किन्तु बाद में किसी भी कार्य में चतुर व्यक्ति को निपुण कहा जाने लगा।

- कठिन - संस्कृत में कठिन शब्द का मौलिक अर्थ है - सख्त या कड़ा। इसके मौलिक अर्थ से ही कठिन शब्द के अन्य अनेक अर्थ विकसित होते गये, जैसे - निष्ठुर, उग्र व दुष्कर। भौतिक स्थूल पदार्थों के सख्त होने के भाव–सादृश्य से हृदय के सख्त होने व पीड़ा आदि के उग्र होने को भी कठिन कहा गया। इसका 'दुष्कर' अर्थ भी 'सख्त' अर्थ के भाव–सादृश्य से आलंकारिक रूप में प्रयोग होने के कारण विकसित हुआ है। जानकीहरण में भी कठोर व निष्ठुर अर्थों में कठिन शब्द अनेक बार प्रयुक्त हुआ है।[28]
- धूप - संस्कृत में धूप शब्द का मौलिक अर्थ है - सुगन्धित धुआँ व ग्रन्थ–द्रव्य। इसके 'सुगन्धित धुआँ' अर्थ से ही कालांतर में 'सूर्य का प्रकाश' व 'ताप' अर्थ का विकास हुआ। कपूर आदि को जलाने पर जो सुगन्धित धुआँ उठता है, उसमें उष्णता भी रहती है। इसी के भाव–सादृश्य से धूप शब्द के साथ उष्णता का अर्थ भी संलग्न हो गया, कालांतर में इसका प्रयोग सूर्य की उष्णता व प्रकाश के लिए भी किया जाने लगा। जानकीहरण में भी धूप शब्द 'सूर्य के प्रकाश' को ही परिलक्षित कर रहा है।[29]

जानकीहरण में ऐसे अनेक शब्दों का प्रयोग किया गया है, जो उनके अर्थ विस्तार की ओर सहज ही संकेत करते हैं। ऐसे कुछ शब्दों का विवेचन तो ऊपर प्रस्तुत किया जा चुका है, किन्तु कुछ अन्य शब्दों को यहाँ पर तालिका के माध्यम से संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है -

| शब्द | मौलिक अर्थ | विस्तृत अर्थ | जानकीहरण में प्रयोग |
|---|---|---|---|
| ओषधि | पौधा, जड़ी–बूटी | दवाई | 15-43, 19-10, 20-40 |
| कर्कश | सख्त, कड़ा | कठोर, निष्ठुर, उग्र, निर्दय आदि | 1-18, 12-1 |
| खेद | शारीरिक कष्ट | शारीरिक व मानसिक कष्ट | 5-34, 7-26, 7-33, 19-36 |
| प्रजा | प्रसव, उत्पत्ति | सन्तान, राज्य के अन्तर्गत रहने वाला जनसमूह | 1-44, 1-44, 1-70 |
| प्रसाद | स्वच्छता | स्वच्छता, अनुकम्पा | 3-38, 3-30 |
| रश्मि | रस्सी | रस्सी, लगाम, किरण | 2-6, 7-30, 8-57, 8-62, 8-67, 8-69, 8-72, 8-73, 8-80, 8-81, 8-86, 8-89, 12-2, 12-16, 12-20, 16-2, 16-9, 16-27, 16-68, 19-19, 20-32, 20-38 |
| विकास | फूलों आदि का खिलना | वृद्धि, विस्तार | 3-44 |

[28] जा.- 1.80, 3.20, 7.9, 11.28, 14.4, 14.57, 14.66

[29] जा.- 1.20, 7.38, 9.48

| | | | |
|---|---|---|---|
| चित्र | स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ने वाला | रंग-बिरंगा, आश्चर्यजनक | 1-47, 14-29, 1-35 |

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि जानकीहरण महाकाव्य का शब्द-भण्डार अमूल्य है। वस्तुतः कवि ने किसी प्राचीन अर्थ को त्यागने में संकोच नहीं किया है। उसने काल व समयानुसार ही अर्थ-प्रयोग किया है। यह कवि के नवीनतावादी विचारों का परिचायक है। इससे जानकीहरण महाकाव्य की भाषा अधिक समृद्ध हो गयी है।

## उपसंहार

निष्कर्षतः महाकवि कुमारदास द्वारा विरचित जानकीहरण महाकाव्य का शब्द-भण्डार अनुपम है। महाकाव्य में अर्थ परिवर्तन का प्रभाव पूर्ण रूप से दिखाई देता है। शब्द का अपने मौलिक अर्थ को त्यागकर नवीन अर्थ को ग्रहण कर लेना अर्थ को विकसित ही करता है। कहीं-कहीं तो कविवर ने जानकीहरण में किसी स्थान पर तो शब्द का विस्तृत रूप प्रस्तुत किया है, तो वहीं दूसरी ओर उसी शब्द के मौलिक अर्थ को सहेजना भी कवि नहीं भूले, महाकाव्य में अन्यत्र उसी शब्द को उसके मूल अर्थ हेतु प्रयोग करना कवि के चातुर्य का साक्षात् उदाहरण है। निःसंदेह जानकीहरण महाकाव्य में विद्यमान अर्थ विस्तार श्लाघनीय व अनुपम है।

## सङ्केताक्षरसूची

1. अथर्व. - अथर्ववेद
2. ऋ. - ऋग्वेद
3. जा. - जानकीहरण
4. निरु. - निरुक्त
5. महा. - महाभाष्य
6. रघु. - रघुवंश
7. वाज. - वाजसनेयिसंहिता

## सन्दर्भग्रन्थसूची

1. अथर्ववेदसंहिता, परोपकारिणी वैदिक पुस्तकालय, अजमेर, वि.सं, 2004
2. अर्थविज्ञान (संस्कृत व्याकरण एवं काव्यशास्त्र का योगदान), डॉ. कमलकांत मिश्र, नाग प्रकाशक, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1988
3. ऋग्वेदसंहिता, ईश्वर चन्द्र (सम्पा.), परिमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2011
4. जानकीहरणम् (प्रथम व द्वितीय सर्ग), डॉ. यदुनन्दन मिश्र, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1971

5. जानकीहरण (1 से 20 सर्ग तक), पं. व्रजमोहन व्यास, मित्र प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद, 1967
6. भर्तृहरिप्रणीतं वाक्यपदीयम् (वाक्यकाण्डम्), पुण्यराजकृतया टीकया अम्बाकर्त्रीव्याख्यया च सहितम्, समपूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयः, वाराणसी, 1980
7. भाषाविज्ञान, डॉ. कर्णसिंह, साहित्य भण्डार, मेरठ, पञ्चदश संस्करण, 2002
8. रघुवंशमहाकाव्य, पं. ज्वालाप्रसाद मिश्र (सम्पा.), श्रीवेङ्कटेश्वर प्रेस, बंबई, 1964
9. व्याकरणिक कोटियों का विश्लेषणात्मक अध्ययन, डॉ. दीप्ति शर्मा, बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पटना, प्रथम संस्करण, 1975
10. हिन्दी में प्रयुक्त शब्दों में अर्थ परिवर्तन, डॉ. केशवराम पाल, प्राची प्रकाशन, मेरठ, प्रथम संस्करण, 1964

❀❀❀

# शाब्दिकमते लक्षणाविमर्शः

सदानन्द झा

सारांश

जानन्त्येव शास्त्ररसिकाः शब्दशास्त्रस्य द्विधा परम्परा विद्यते। एका प्रक्रिया मूला अपरा च व्याकरणदर्शनमूला। व्याकरणदर्शनपरम्परायां लक्षणायाः स्थानमतीवमहत्त्वपूर्णमत्र न कश्चन संशयपंककलङ्कलेशः। पदपदार्थयोः सम्बन्धान्तरमेव शक्तिः। सा च वृत्तिस्त्रिधा शक्तिर्लक्षणाव्यञ्जना चेति। यद्यपि वैयाकरणाः लक्षणावृत्तिं नोररीकुर्वन्ति मुक्तकण्ठस्तथापि अप्रसिद्धां शक्तिं स्वीकृत्य कामपि वृत्तिं मन्यन्त एव। सा लक्षणा दार्शनिकमते शक्यसम्बन्धरूपा, मीमांसकानां मते ज्ञाप्यसम्बन्धरूपा, वैयाकराणां मते शक्यतावच्छेदकारोपरूपा संस्थापिता वर्तते। एतद्विषये महाभाष्यं वाक्यपदीय-काशिकान्यायदर्शन-न्यायवार्त्तिक-मीमांसासूत्र-तत्त्वचिन्तामणि-वेदान्तपरिभाषा-तर्कप्रकाश-न्यायसिद्धान्तमुक्तावली-काव्यप्रकाश-ध्वन्यालोक-रसमहार्णव-रसगङ्गाधर-वैयाकरणभूषणसार-सिद्धान्तकौमुदी-लघुमञ्जूषा-परमलघुमञ्जूषा-समासशक्तिदीपिका-साहित्यमीमांसाप्रभृतिभ्यो ग्रन्थेभ्यो प्रकृतानुगुणं सारमादाय प्रणीतोऽयं शोधनिबन्धः लक्षणाविमर्शाख्यः। यत्रान्ते शाब्दिकसम्मतं मतं संस्थापितम्।

(कूट शब्द - लक्षणा, शब्दः, प्रमाणम्, शाब्दबोधः, शक्तिः)

.....

आप्तोपदेशरूपस्य शब्दस्य प्रामाण्यं स्वीकृतमास्ते[1]। तत्र शब्दस्य प्रामाण्ये स्थिते येन केनापि शब्देन यस्य कस्याप्यर्थस्य भानं कस्मान्न जायते? इत्यादिशङ्कासमाधानाय शिष्टानुभवसिद्धः कार्यकारणभावो जागर्तितरां शाब्दबोधं प्रति वृत्तिज्ञानं हेतुरिति। एतस्यैव विशिष्टं परिष्कृतं स्वरूपं तत्रभवता नागेशभट्टेन प्रदर्शितम्[2] - तद्धर्मावच्छिन्नविषयक-शाब्दबोद्धत्वावछिन्नं प्रति तद्धर्मावच्छिन्ननिरूपित-वृत्तिविशिष्टज्ञानं हेतुरिति। वैशिष्ट्यञ्च स्वविषयकोद्बुद्धसंस्कारसामानाधिकरण्य-स्वाश्रयपदविषयकत्वोभयसम्बन्धेन। सकलघटशाब्दबोधाय सकलघटार्थबोधाय च तद्धर्मावच्छिन्नेति। वृत्तिज्ञानशून्यस्य शाब्दबोधवारणाय वृत्तिज्ञानस्य हेतुता प्रदर्शिता। विशेष्यविशेषणभाववैपरीत्यज्ञाने विपरीतबोधसम्भावनावारणाय तद्धर्मावच्छिन्ननिरूपितेति कथनम्। एवमेव वैशिष्ट्यदानेन विस्मृतवृत्तिकस्य तत्पदमजानतश्च न शाब्दबोधो भवति। इत्थं च शब्दतो बोधे वृत्तिज्ञानमेव कारणम्। सा च वृत्तिः शाब्दबोधोपयिकः सम्बन्धः। तस्याः त्रैविध्यं प्रसिद्धयति - शक्तिर्लक्षणा व्यञ्जना चेति।

तत्र प्राधान्येन प्रथमोपात्ता पदपदार्थसम्बन्धरूपा शक्तिः कौण्डभट्टमतेन बोधकतारूपा[3], नागेशमतेन च वाच्यवाचकभावा[4] स्वीकृता। एनामेव साहित्यिका अभिधां कथयन्ति या मुख्यार्थरूपा साक्षादर्थबोधिका भवति।

लक्षणा तु शक्त्युपजीविका व्यञ्जनोपजीव्या मध्यानायिकास्वरूपा द्वितीया वृत्तिरस्ति। शक्त्या उपस्थितार्थस्य यत्र अन्वयः संगतो न भवति, सत्यप्यन्वये वा तात्पर्यं नोपपद्यते तत्र वाक्यार्थसंगतये लक्षणैव समर्था भवति। यथा - 'गङ्गायां घोषः' इत्यत्र गङ्गायाः शक्यार्थे प्रवाहे आभीरपल्लीस्वरूपस्य घोषस्यावस्थानासम्भवाद् गङ्गासम्बद्धतीरे लक्षणा क्रियते। तथा च तीरे घोषाधिकरणमन्वितं भवति। एतल्लक्षणायाः प्रयोजनं व्यंग्यार्थस्य शैत्यपावनत्वातिशयादिप्रतीतिरेव।

प्रस्तुते शोधनिबन्धे लक्षणावृत्तिविवेचनक्रमे न्याय-मीमांसा-वेदान्त-व्याकरण-साहित्यशास्त्रीयपण्डितानां मनोविनोदजनितखण्डन-मण्डनप्रदर्शनपुरस्सरं वैयाकरणमतस्पष्टीकरणं लक्ष्यमस्ति।

---

1 परम.- आरम्भे

2 परम.- शक्तिनिरूपणे

3 वै.भू.- शक्ति.

4 परम.- शक्ति.

1. सर्वप्रथमं लक्षणावृत्तिवैशिष्ट्यं प्रतिपादयद्भिर्नैयायिकैर्यदुक्तं तन्निरूप्यते - योऽर्थो लक्षणया प्रतिपत्तुं शक्यते तत्र लक्षणैव, न तु शक्तिरूपायाः[5] भगवदिच्छायाः शक्तित्वेन तत्कल्पनायां तदीयविषयताविशेषाणां कल्पनीयतया गौरवात् । लक्षणा तु स्वशक्यसम्बन्धभूता स्वस्वामिसंयोगादिरूपा क्लृप्तैव। तथा च स्वशक्यसम्बन्धो लक्षणा इति गङ्गेशोपाध्याया लक्षणालक्षणमाहुः[6]। तत्र स्वं=प्रस्तुतः शब्दः, तस्य शक्यः=शक्त्या उपस्थितोऽर्थः, यथा गङ्गापदस्य प्रवाहोऽर्थः, तत्सम्बन्धः सामीप्यं तटे वर्तते । ततश्चात्र प्रवाहतीरयोः सामीप्यसम्बन्ध एव लक्षणेति फलति। एवमेव गौर्वाहीक इत्यत्र गोपदस्य सादृश्यसम्बन्धो वाहीकेन सह वर्तते, तेनात्र सादृश्यसम्बन्ध एव लक्षणा, गोसदृशो जडो वाहीक इत्यर्थः। इत्थं च गोपदमेव गोपदार्थस्य वाचकं, जाड्यादिलक्षकं च। अर्थात् लक्षणावृत्तिः पदाश्रिता भवति। गोकुलनाथोपाध्यायस्तु[7] मुख्यार्थमेव लक्षकं मनुते, न तु शब्दम्, तथा च तेन -

मुख्यार्थो लक्षकस्तस्य श्रुतार्थं प्रत्ययोग्यता।
लक्ष्ये रूढिर्व्यङ्ग्यं वा सहकारीति तान्त्रिकाः।

इति रसमहार्णवग्रन्थे उक्तम्। तदनुसारेण कस्यापि पदस्य मुख्यार्थ एव लक्षको भवति। यतो हि वाच्यार्थं प्रति वाक्यार्थः अयोग्यो भवति। अतः तद्योग्यतासम्पादनाय लक्षणा करणीया भवति। लक्ष्यार्थप्रतिपादने रूढिः प्रयोजनादिव्यङ्ग्यं च सहकारिकारणं भवति।

लक्षणाया द्वैविध्यमस्ति - (1) गौणी - सादृश्यसम्बन्धेन, यथा - गौर्वाहीकः, सिंहो माणवकः। (2) शुद्धा - सादृश्येतरसम्बन्धेन, यथा - गङ्गायां घोषः, आयुर्घृतम् = आयुर्निमित्तमित्यर्थः। प्रकारान्तरेण लक्षणा द्विविधा - (1) जहत्स्वार्था - स्वार्थत्यागपूर्वकं लक्ष्यार्थबोधिका 'गङ्गायां घोषः', अत्र गङ्गापदं स्वार्थं प्रवाहं त्यक्त्वा तीरं बोधयति। (2) अजहत्स्वार्था - स्वार्थमत्यजन्ती एवान्यार्थं बोधयति - यथा - 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' - इत्यत्र काकसहितस्य सर्वदध्युपघातकस्य ग्रहणं जायते। इत्येव भेदद्वयं क्रमशः लक्षणलक्षणा उपादानलक्षणेति व्यवह्रियते, इदं च शुद्धायाः एव भेदद्वयमिति सर्वे आमनन्ति। किन्तु गोकुलनाथोपाध्यायाः[8] गौणीलक्षणाया अपि उपादानत्वं लक्षणलक्षणात्वं च निरूपयन्ति। 'लम्बकर्णमानय' इत्यत्र लम्बकर्णशब्दः स्वार्थं परित्यज्य तद्विशिष्टं पुरूषं लक्षयति तेनेयं लक्षणलक्षणा, अथ च स पुरूषो यत्रोपस्थितो भवति तत्र कर्णोऽपि उपतिष्ठत इतीयम् उपादानलक्षणाप्यस्ति। अतएवात्र गोकुलनाथोपाध्यायैर्लक्षणायाः स्वोद्भावितो नवीनो भेदः स्वीकृतः लक्षणोपादानलक्षणेति । वैयाकरणास्तु समासद्वारैव सर्वार्थबोधेनात्र लक्षणां नैव स्वीकुर्वन्ति।

नैयायिकानुसारेण अन्वयानुपपत्तिप्रतिसन्धानं लक्षणाया बीजम्। 'गङ्गायां घोष' इत्यत्र गङ्गापदशक्यार्थे प्रवाहे घोषावस्थानासम्भवाद् गङ्गापदे स्वशक्यसम्बन्धरूपा लक्षणाश्रीयते। तेन तत्सामीप्यसम्बन्धेन तीरार्थसम्प्रत्ययेऽन्वयसंगतिर्भवति। वस्तुतः 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इत्यत्र अन्वयोपपत्तावपि तात्पर्यानुपपत्तितः लक्षणा स्वीक्रियते, तेन तात्पर्यानुपपत्तिप्रतिसन्धानं लक्षणाबीजमिति सर्वैः स्वीक्रियते । तथा च न्यायसिद्धान्तमुक्तावल्यामुक्तम् - "लक्षणा शक्त्यसम्बन्धस्तात्पर्यानुपपत्तितः"।

---

5 समासशक्तिदीपिका, महावैयाकरणदीनबन्धुझाः, सम्पादक - प्रो. शशिनाथ झा, कामेश्वर सिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय

6 तत्त्व.- शब्दा.

7 रस.- पृ.6

8 सारस्वतसुषमा, विनयानन्द झा, पृ.126

2. वेदान्तिनां मते[9] 'तत्त्वमसि' इति महावाक्ये तत्पदेन सर्वज्ञ आत्मा, त्वम्पदेन च अल्पज्ञो जीवोऽभिप्रेतः। तथा च उभयोः सामानाधिकरण्यानुपपत्तिरापतति। एतत्समाधानाय तत्पदार्थे लक्षणया सर्वज्ञत्वस्य त्यागः, तथा त्वम्पदार्थेऽल्पज्ञत्वस्य त्यागः क्रियते। तथा चात्र भागत्यागलक्षणाद्वारा शुद्धचैतन्यद्वयस्याभेदान्वयो भवति। एतन्मते पदे वाक्ये वा लक्षणा स्वीक्रियते। भागत्यागलक्षणामेव जहदजहल्लक्षणां कथयन्ति वृद्धाः।

3. मीमांसकमते स्वबोध्यसम्बन्धो लक्षणा[10] इति। तथा च लक्षणा न पदमात्रवृत्तिः, किन्तु वाक्यवृत्तिः। 'गभीरायां नद्यां घोष' इत्यत्र 'गभीरायां नद्याम्' इति पदद्वयस्य तीरे लक्षणा। शक्यार्थः एकस्य पदस्य भवति यतो हि शक्तिः पदनिष्ठैव, न तु पदसमुदायनिष्ठा। अतः पदसमुदाये लक्षणां स्वीकर्तुमत्र लक्षणे शक्यशब्दस्य स्थाने बोध्यशब्दः स्थापितः। अत्र यदि नदीपदस्य तीरे लक्षणा क्रियते तर्हि गभीरशब्दस्य अन्वयः नद्यां न सम्भवति, तीरेऽपि अगभीरत्वान्नान्वयः भवति। यदि गभीरपदस्य तीरे लक्षणा क्रियते तर्हि तत्र नदीपदस्य अन्वयो न स्यात् तीरस्य अनदीत्वात्। यदि उभयपदे पृथक् पृथक् लक्षणा मन्यते तर्हि गभीरतीरविषयको वा नदीतीरविषयको वा बोधः स्यात्, गभीरत्वविशिष्टनदीतीरविषयको बोधो न स्यात्। अतः तद्बोधाय विशिष्टसमुदाय एव लक्षणा स्वीक्रियते। तथा च यत्र नैयायिकाः पदे लक्षणामिच्छन्ति तत्र मीमांसका वाक्ये लक्षणां कुर्वन्ति[11]। तल्लक्षणे स्वपदेन वाक्यमभिप्रेतमस्ति।

4. आलङ्कारिकाः व्यञ्जनावृत्तेराश्रयत्वेन लक्षणावृत्तिं यत्नतः पोषयन्ति। ते लक्षणां भक्तिशब्देनापि व्यवहरन्ति। तथा च ध्वन्यालोके -

भक्त्या बिभर्ति नैकत्वं रूपभेदादयं ध्वनिः।[12]

अर्थात् लक्षणा वृत्तिः = भक्तिः अस्ति, परन्तु तया ध्वनिर्न गतार्थो भवति रूपभेदादेव। ध्वनेः प्रतीयमानत्वं लक्षणायाश्च शक्तिसम्बन्धत्वमिति। लक्षणालक्षणमुक्तं काव्यप्रकाशे[13] -

मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणारोपितक्रिया॥

तथा च व्यवहितार्थविषयिणी शब्दनिष्ठा वृत्तिर्लक्षणेति स्पष्टं लक्षणमित्थं भवति – मुख्यार्थबाधपूर्व-मुख्यार्थतावच्छेदकावच्छिन्नभिन्नार्थज्ञानजनकः शब्दव्यापारो लक्षणेति फलितार्थः। अत्र लक्षणायाः हेतुत्रयं स्वीक्रियते - (1) मुख्यार्थबाधः, (2) मुख्यार्थयोगः, (3) रूढिप्रयोजनान्यतरत्वञ्चेति। तत्र रूढिः प्रसिद्धिः यथा - 'कलिङ्गः साहसिकः' इत्यत्र देशवाचककलिङ्गशब्दस्य तद्देशस्थपुरुषार्थप्रतिपादकता रूढिमूलास्ति। गङ्गायां घोष इत्यत्र गङ्गापदस्य सामीप्ये तीरे लक्षणा, तत्र हेतुः शैत्यपावनत्वादिरूपं प्रयोजनम्।

काव्यप्रकाशानुसारेण लक्षणा षड्विधा[14] - तत्र गौणी द्विविधा, शुद्ध लक्षणा चतुर्था इति। तत्र क्रमेणोदाहरणानि -

---

9 वेदान्त.- पृ.27

10 परम.- लक्षणा.

11 संस्कृतव्याकरणदर्शन, भीमसिंह वेदालंकार

12 ध्वन्या.- पृ.17

13 काव्य.- द्वि. उ.

14 काव्य.- द्वि. उ.

(a) गौणी साध्यवसाना- गौरयम् इति वाहीकविषये कथनम्।

(b) गौणी सारोपा- गौर्वाहीकः।

(c) शुद्धा सारोपा- आयुर्घृतम्।

(d) शुद्धा साध्यवसाना- आयुरेवेदम् इति घृतविषये कथनम्।

(e) शुद्धा उपादानलक्षणा- कुन्ताः प्रविशन्ति।

(f) शुद्धा लक्षणलक्षणा- गङ्गायां घोषः।

विश्वनाथानुसारेण[15] लक्षणायाः षोडशभेदाः भवन्ति। तेषु केचनासम्भाविनः केचन च चमत्कृतिशून्यतया उपेक्ष्या इति समामनन्ति।

5. वैयाकरणाः पृथग्वृत्तिरूपेण लक्षणां न स्वीकुर्वन्ति, किन्तु तां शक्तेरन्तरर्गतां कथयन्ति। तथा च अप्रसिद्धा शक्तिरेव लक्षणेति तेषां सिद्धान्तो मञ्जूषायां व्यवस्थापितः[16]।

वैयाकरणेषु सर्वप्रथमं महाभाष्यकारः पतञ्जलिः लक्षणाविषये सङ्केतं करोति "पुंयोगादाख्यायाम्"[17] इति सूत्रे - "चतुर्भिः प्रकारैरतस्मिन् स इत्येतद् भवति - तात्स्थ्यात्, ताद्धर्म्यात्, तत्सामीप्यात्, तत्साहचार्यत्। मञ्चा हसन्ति, सिंहो माणकः, गङ्गायां घोषः, यष्टीः प्रवेशय" इत्युक्तम्। तथा च अन्यस्मिन् अन्यार्थस्य आरोपो लक्षणेति फलितम्। एषु चतुर्षु प्रकारेष्वेव तादर्थ्यादिति पञ्चमं निवेश्य नागेशः इदं पद्यं प्रस्तुतवान्[18] -

तात्स्थात् तथैव ताद्धर्म्यात् तत्सामीप्यात्तथैव च।
तत्साहचर्यात् तादर्थ्याज्ज्ञेया वै लक्षणा बुधैः॥

अत्र तादर्थ्यस्योदाहरणम् - 'इन्द्रार्था स्थूणा' इन्द्र इति प्रस्तुतम्। तदनन्तरं वाक्यपदीये भर्तृहरिरपि लक्षणायाः संकेतमेव प्रस्तौति[19] -

यथा सास्नादिमान् पिण्डो गोशब्देनाभिधीयते।
तथा स एव गोशब्दो वाहीकेऽपि व्यवस्थितः॥

एतेन स्पष्टमस्ति यद् गोशब्दस्य वाहीकोऽर्थोऽप्यस्ति, कथम् ? लक्षणया। प्राचीनवैयाकरणानामेकशक्तिवादो भर्तृहरिणा समर्थितः। अर्थात् शक्तिरेव मुख्यार्थं गौणार्थं च प्रकाशयति। गौणार्थे लक्ष्यार्थे व्यङ्ग्यार्थश्चायातः। तथा च एकैकस्य शब्दस्य स्वार्थवाचकत्वसामर्थ्यं भवति। प्रयोगवशात् ते तेऽर्थाः प्रकाशन्ते। तथा हि -

सर्वशक्तेस्तु तस्यैव शब्दस्यानेकधर्मणः।
प्रसिद्धिभेदाद् गौणत्वं मुख्यत्वं चोपवर्ण्यते॥[20]

---

15 साहित्य.- द्वि. प.

16 परम.- लक्षणा.

17 महा.- 4.1.48

18 परम.- लक्षणा.

19 वा.प., वाक्य.- का.254

20 वा.प., वाक्य.- का.255

अर्थात् शब्दः सर्वशक्तिमान् भवति, प्रसिद्धिमाधारीकृत्य कुत्रचिन्मुख्यार्थं कुत्रचिच्च गौणार्थं प्रकाशयति। अस्याधारेणैव नागेशभट्टेन - शक्तिर्द्विधा प्रसिद्धा अप्रसिद्धा चेत्युक्तम्। अप्रसिद्धायामेव शक्तौ लक्षणाया अन्तर्भावः कृतः, किन्तु व्यञ्जनावृत्तिः स्वतन्त्ररूपेण स्वीकृता।

एकशक्तिवादस्य चायमभिसन्धिः[21] - शब्दस्य सर्वार्थप्रतिपादकत्वेऽपि प्रतिभावशादेव तत्र तत्र तेऽर्था ज्ञायन्ते। तत्र यस्य जनस्य यादृशी प्रतिभा भवति स तावत्पर्यन्तमर्थं जानीते। एक एव शब्दः शक्त्या एव मुख्यार्थं, लक्ष्यार्थं, व्यङ्ग्यार्थं च बोधयितुं समर्थो भवति, किन्तु तादृशः प्रतिभावान् अपेक्ष्यते। नागेशस्तु भर्तृहरेरेव पङ्क्तेराधारेण व्यञ्जनावृत्तिं स्वीकरोति, तथा चाह भर्तृहरिः -

ग्राह्यग्रहणयोः सिद्धा योग्यता नियता यथा।
व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावेन तथैव स्फोटनादयोः ॥[22]

तदनन्तरं काशिकाकारः लक्षणाया उल्लेखं चकार - "यदा तु लक्षणा वर्तते तदा पुरुषेण सामानाधिकरण्यं भवति"।[23] अत्र न्यासकार आह - 'लक्षणा उपचार' इति। उपचार आरोप एवेति।

नागेशभट्टः स्वकीयेषु वैयाकरणसिद्धान्तमञ्जूषा-लघुमञ्जूषा-परमलघुमञ्जूषाग्रन्थेषु विशदरूपेण लक्षणाविचारं प्रास्तौत्। तत्र परमलघुमञ्जूषायां परमतेन लक्षणालक्षणं भेद-प्रपञ्चं च विधाय लक्षणावृत्तेः खण्डनं विहितम्। तथा च लक्ष्यार्थस्य अप्रसिद्धार्थरूपेण कथनं विधाय शक्तेरन्तर्गतरूपेणैव लक्षणा स्थापिता। अत्र भाष्यवचनमेव प्रमाणमुपस्थापितम् - "सति तात्पर्ये सर्वे सर्वार्थवाचकाः" इति। तथा च गङ्गापदं यथैव प्रवाहरूपं मुख्यार्थं बोधयति तथैव तीररूपमप्यर्थं तात्पर्ये सति बोधयति। गौणार्थस्यापि वाचकमेव गङ्गापद-मस्ति। तात्पर्यमिदं यत् शक्तिर्द्विधा - प्रसिद्धा अप्रसिद्धा चेति।[24] तत्र प्रथमा मुख्या, अपरा च गौणी। इत्थं शक्त्यैव निर्वाहे लक्षणायाः आवश्यकता नास्ति। एकयैव वृत्त्या निर्वाहे वृत्तिद्वयकल्पना नोचिता। लक्षणावृत्तिः मुख्यार्थबाधमपेक्षत इति अधिकायाससापेक्षेति सा जघन्या अर्थात् निन्दनीयास्ति। तत्स्वीकारे वृत्तिद्वयस्यावच्छेदकत्वकल्पनमावश्यकमिति गौरवमस्ति। पदस्यानुपूर्वी वृत्तेरवच्छेदक उच्यते।[25]

नागेशभट्टः स्वकीयेषु वैयाकरणसिद्धान्तमञ्जूषा-लघुमञ्जूषा-परमलघुमञ्जूषाग्रन्थेषु विशदरूपेण लक्षणाविचारं प्रास्तौत्। तत्र परमलघुमञ्जूषायां परमतेन लक्षणालक्षणं भेदप्रपञ्चं च विधाय लक्षणावृत्तेः खण्डनं विहितम्। तथा च लक्ष्यार्थस्य अप्रसिद्धार्थरूपेण कथनं विधाय शक्तेरन्तर्गतरूपेणैव लक्षणा स्थापिता। अत्र भाष्यवचनमेव प्रमाणमुपस्थापितम् - "सति तात्पर्ये सर्वे सर्वार्थवाचकाः" इति। तथा च गङ्गापदं यथैव प्रवाहरूपं मुख्यार्थं बोधयति तथैव तीररूपमप्यर्थं तात्पर्ये सति बोधयति। गौणार्थस्यापि वाचकमेव गङ्गापदमस्ति। तात्पर्यमिदं यत् शक्तिर्द्विधा - प्रसिद्धा अप्रसिद्धा चेति।[26] तत्र प्रथमा मुख्या, अपरा च गौणी। इत्थं शक्त्यैव निर्वाहे लक्षणायाः आवश्यकता नास्ति। एकयैव वृत्त्या निर्वाहे वृत्तिद्वयकल्पना

21 त्रिवेणिका, आशाधरभट्टः
22 वा.प., वाक्य.
23 काशिका.- 5.2.4
24 परम.- लक्षणा.
25 परमलघुमञ्जूषावंशीव्याख्या- पं. वंशीधर मिश्रः
26 परम.- लक्षणा.

नोचिता। लक्षणावृत्तिः मुख्यार्थबाधमपेक्षत इति अधिकायाससापेक्षेति सा जघन्या अर्थात् निन्दनीयास्ति। तत्स्वीकारे वृत्तिद्वयस्यावच्छेदकत्वकल्पनमावश्यकमिति गौरवमस्ति। पदस्यानुपूर्वी वृत्तेरवच्छेदक उच्यते।[27]

सर्वार्थवाचकत्वेऽपि तात्पर्याभावादेव घटपदात् पटप्रत्ययो न भवति। तात्पर्यानुगमः कथं स्यादिति विषये नागेशेनोक्तम्[28] - तात्पर्यं चात्र देवता-महर्षि-लोकवृद्धपरम्परातः अस्मदादिभिर्लब्धमिति।

नागेशानुसारेण अन्वयाद्यनुपपत्तिपूर्विका लक्षणा पदे एवेति। भट्टोजिदीक्षितस्तु प्रौढ-मनोरमायां वृत्तित्वेन लक्षणां स्कीकरोति - "वृत्तिश्च शक्तिलक्षणान्यतररूपा" इति, एतेन तन्मते व्यञ्जनावृत्तिर्न स्वीकृतास्ति इति गम्यते।

लघुमञ्जूषायां लक्षणाविषये लिखितं यत् - "अन्वयाद्यनुपपत्तिज्ञानपूर्वकं शक्यत्वेन गृहीतार्थसम्बन्धज्ञानेन उद्बुद्धशक्तिसंस्कारबोधे लक्षणेति व्यवहार"[29] इति। अर्थात् अन्व-यानुपपत्तिपूर्वकं तात्पर्यानुपपत्तिपूर्वकं वा यत् शक्यसम्बन्धस्मरणं तेन उद्बुद्धो यः संस्कारः स एव लक्षणेति लक्षणालक्षणमुक्तं भवति। एतल्लक्षणे अन्वयाद्यनुपपत्तिकथनने शक्ति-स्वरूपात् पार्थक्यं कृतम्, व्यञ्जनायामतिव्याप्तिर्मा भवतु एतदर्थं शक्यत्वेनेति कथितम्। लक्षणमिदं लक्षणावृत्तिस्वीकारे हेतुत्वेन प्रस्तुतमिति प्रतीयते यदत्र नागेशः लक्षणावृत्तिं स्वीकरोतीति। परन्तु अग्रे - "परे तु आरोपितशक्यतावच्छेदकरूपेण शक्त्यैव तत्पदवा-च्यत्वेन प्रसिद्धान्यव्यक्तिबोधे व्यक्तिविशेषबोधे वा लक्षणेति व्यवहार" इति ग्रन्थेन शक्त्यैव लक्षणामन्तर्भावयति। अस्यायमाशयः पं. रामप्रसादत्रिपाठिमहाशयैः प्रकाशितः[30] - आरो-पिता यः शक्यतावच्छेदकधर्मः तद्रूपशक्तिसम्बन्धेनैव गङ्गापदस्य वाच्यत्वरूपेण प्रसिद्धव्य-क्तितो भिन्नव्यक्तेर्बोधे अथवा व्यक्तिविशेषबोधे 'लक्षणाद्वारा जायमानोऽयं बोध' इति व्यवहारो भवति। यथा 'गङ्गायां घोष' इत्यत्र गङ्गापदस्य वाच्यत्वेन प्रसिद्धार्थः प्रवाहः, तदितरस्तट-रूपोऽर्थः तस्य शक्त्यैव बोधे जनाः लक्षणया बोधो जात इति कथयन्ति।

तात्पर्यमिदं यद् गङ्गापदे एव प्रवाहार्थवाचकता तीरार्थवाचकता च वर्तेते। तत्र आद्या प्रसिद्धा, अपरा अप्रसिद्धा। प्रसिद्धानेकार्थस्थले एव नानार्थकता भवतीति, नात्र नानार्थकत्वं कथयितुं शक्यते। इत्थमारोपितार्थप्रतिपादिका लक्षणा भवतीति फलितम्। अत्रेदमपि ज्ञातव्यं भवति यत् यथा परमलघुमञ्जूषायां 'यत्तु तन्न' इत्येवं रूपेण लक्षणावृत्तेः खण्डनं कृतं, न तथा लघुमञ्जूषायां बृहन्मञ्जूषायां वा।

वैयाकरणसिद्धान्तमञ्जूषायां[31] लक्षणालक्षणमित्थं प्रस्तुतम् - "यस्य पदार्थस्य स्वस-म्बन्धिबोधजनकत्वज्ञानाद् बोधः, तत्पदार्थनिरूपिततादृशबोधकत्वं लक्षणा" इति। इत्थं शक्तितः पार्थक्येन लक्षणोपस्थापिता यत् शक्तिः स्वविषयकबोधजनकत्वज्ञानाद् भवति, लक्षणा तु स्वसम्बन्धिबोधजनकत्वज्ञानादिति। परन्तु 'अपरे तु' इति मतभेदनिरूपणे लक्षणां शक्तेरन्तर्गतां संकेतयति - "गङ्गादिपदजन्यतीराद्यर्थशाब्दबोधे स्वसम्बन्धिप्रवाहादिबोधक-त्वज्ञानस्य कारणत्वापेक्षया लाघवेन स्वबोधकत्वज्ञानस्यैव कारणत्वं युक्तमिति"।

लक्षणायाः स्वतन्त्रवृत्तित्वस्वीकारे[32] तत्तच्छाब्दबुद्धित्वावच्छिन्नं प्रति शक्तिजन्योपस्थि-

27 परमलघुमञ्जूषावंशीव्याख्या- पं. वंशीधर मिश्रः

28 परम.- लक्षणा.

29 वै.सि.लघु.- लक्षणा.

30 वै.सि.लघु.- पृ.221

31 वै.सि.मञ्जूषा., पृ.15

32 वैयाकरणसिद्धान्तमञ्जूषाविमर्शः- डॉ. भवेन्द्र झाः, पृ.- 62

तिर्लक्षणाजन्योपस्थितिश्च कारणं स्वीकर्तव्यं भवति, तेन कार्यकारणभावद्वयापत्तिः भवति। शक्त्यैव बोध इति पक्षे तु एक एव कार्यकारणभाव इति लाघवं भवति। एवमेव लक्षणाया अतिरिक्तवृत्तित्वे पदार्थोपस्थितिं प्रत्यपि शक्तिज्ञानत्वेन लक्षणाज्ञानत्वेन च कारणत्वं स्वीकार्यमिति कार्यकारणभावे अतिरिक्तं गौरवं समापतति।

मञ्जूषानुसारेण स्वशक्यतावच्छेदकारोप एव लक्षणा। तेन शक्यतावच्छेदकप्रकारक एव बोधः। अतएव 'गङ्गायां मीनघोषौ' इति द्वन्द्वस्य साधुता भवति। लक्षणावृत्तिवादिमते तु मीनस्य जलत्वावच्छिन्ने घोषस्य च तटत्वावच्छिन्नेऽन्वयेन एकधर्मावच्छिन्नेऽन्वयरूपसाहित्याभावेन द्वन्द्वस्यासाधुता स्यात्। शक्तिवादिमते तु गङ्गात्वेनैव तटबोधादेकधर्मावच्छिन्नेऽन्वयसम्भवेन नासाधुतेति। अत एव शक्त्यैव कार्यनिर्वाहे लक्षणावृत्तिर्न स्वीकार्या। यत्कार्यं लक्षणा करोति तदेव अप्रसिद्धा शक्तिः करोति। अतएव अप्रसिद्धशक्तिस्थले एव लक्षणाव्यवहारं कुर्वन्ति सामान्यजनाः। तात्पर्यमिदं यत् 'गङ्गायां घोषः' इत्यत्र तटे गङ्गार्थप्रवाहस्य आरोपो भवति, 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इत्यत्र सर्वदध्युपघातके काकस्य आरोपो भवति।[33] इत्थम् तत्र आरोपिता शक्तिः अप्रसिद्ध भवत्येवेति।

सारांशरूपेण वक्तुं शक्यते यत् सर्वस्मिन् शब्दे प्रसिद्धा अप्रसिद्धा च शक्तिर्वर्तते। अप्रसिद्धा शक्तिरेव लक्षणाशब्देन व्यवह्रियते । प्रसिद्धत्वं च प्रचुरप्रयोगविषयत्वम्। अप्रसिद्धत्वम् शक्यारोपितत्वम्। प्रसिद्धत्वज्ञानं च व्याकरण-कोश-व्यवहार-शिष्टप्रयोग-व्याख्यादितो भवति। तत्सम्बद्धार्थोऽप्रसिद्धः। स च शक्त्यैव प्रतिपाद्यो भवतीति तदर्थं लक्षणावृत्तिर्न स्वीकार्या। इमाम् अप्रसिद्धां शक्तिमेव यदि लक्षणां कथयन्ति तर्हि तदनुमोदनं वैयाकरणैः क्रियते किन्तु नैव शक्तिभिन्नवृत्तिरूपेणेति।

## सङ्केताक्षरसूची

1. काव्य. - काव्यप्रकाश
2. काशिका. - काशिकावृत्तिः
3. तत्त्व. - तत्त्वचिन्तामणि
4. ध्वन्या. - ध्वन्यालोक
5. परम. - पमलघुमञ्जूषा
6. महा. - महाभाष्य
7. रस. - रसमहार्णव
8. वा.प. - वाक्यपदीयम्
9. वेदान्त. - वेदान्तपरिभाषा
10. वै.भू. - वैयाकरणभूषणसार
11. वै.सि.मञ्जूषा. - वैयाकरणसिद्धान्तमञ्जूषा
12. वै.सि.लघु. - वैयाकरणसिद्धान्तलघुमञ्जूषा
13. साहित्य. - साहित्यदर्पण

[33] वै.सि.लघु.- पृ.217

## सन्दर्भग्रन्थसूची


1. काव्यप्रकाशः, आचार्यमम्मटः, डॉ. सत्यव्रतसिंह (व्याख्या.), चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 2007
2. काशिकावृत्तिः वामनजयादित्य, व्याख्याकार हरदत्त, पदमंजरी, जितेन्द्र बुद्धिकृत न्यास व्याख्या सहिता, प्रो. नारायण मिश्र (सम्पा.), रत्ना प्रकाशन वाराणसी, 1985
3. तत्वचिन्तामणिः, म. म. गंगेशोपाध्याय, चौखम्बासुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 1990
4. ध्वन्यालोकः, आनन्दवर्धनः, लोचन संस्कृत व्याख्या - अभिनवगुप्त, आचार्य जगन्नाथ पाठकः (सम्पा.), चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1965
5. परमलघुमञ्जूषा महामहोपाध्याय नागेशभट्टः, आचार्य लोकमणि दाहालः (सम्पा.), चौखम्बासुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 2009
6. परमलघुमञ्जूषावंशीव्याख्या, म. म. नागेशभट्टः, पं. वंशीधर मिश्र (व्याख्या.), गया, बिहार, संवत् 2014
7. महाभाष्यम् (चतुर्थोध्यायः), महर्षि पतंजलि, पं. हरिनारायण तिवारी (व्याख्या., सम्पा.) , चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, 2009
8. रसमहार्णवः, म. म. गोकुलनाथ, पं. धर्मनाथ झा (सम्पा.), कामेश्वरसिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय, कामेश्वरनगर, दरभंगा, 2007
9. वाक्यपदीयम्, वाक्यकाण्डम्, भतृहरि, पुण्यराजकृतटीका एवं पद्मश्रीपण्डित रघुनाथशर्मा-कृत अम्बाकर्त्रीव्याख्या सहित, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, संस्क. प्रथम, 1980
10. वाक्यपदीयम् (ब्रह्मकाण्डम्) श्रीभर्तृहरिविरचितं, पं. रामगोविन्द शुक्ल (सम्पा., व्याख्या.) , चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1975
11. वेदान्त परिभाषा, डॉ. गजाननशास्त्री मुसलगावकर (व्याख्या.), चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1983
12. वैयाकरणभूषणसार कौण्डभट्टः दर्पण व्याख्या सहिता, डॉ. चन्द्रिका प्रसाद द्विवेदी (सम्पा.), चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, दिल्ली, 1989
13. वैयाकरणसिद्धान्तलघुमञ्जूषा, म. म. नागेश भट्ट, व्याख्याकारः दुर्बलाचार्यकृत कुंजिका बालभट्टकृत कला, रामप्रसाद त्रिपाठि कृता सरला सहिता, पं. रामप्रसाद त्रिपाठी (सम्पा.), सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1997
14. वैयाकरणसिद्धान्तमञ्जूषा विमर्शः, डॉ. भवेन्द्र झाः, नाग पब्लिकेशन, दिल्ली, 2003
15. समासशक्तिदीपिका, महावैयाकरण पं. दीनबन्धु झा (व्याख्या.), डॉ. सदानन्द झा, (सम्पा.) डा. शशिनाथ झा, कामेश्वरसिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभंगा, 2001
16. साहित्यदर्पणः, आचार्य विश्वनाथ कविराजः, रामाचरण तर्क वागीश भट्टाचार्य, श्री दुर्गाप्रसाद द्विवेदी (सम्पा.), मेहरचन्द्र लछमनदास, दिल्ली, 1982
17. संस्कृतव्याकरण दर्शन, रामसुरेश त्रिपाठी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1972


❀❀❀

# Sanskrit Education : Bowing Heads to Tradition

Indrajit Kumar

Abstract

*Indian Teaching Tradition has been one of the oldest traditions of the world. The value and significance of education has been well-defined in large number of works written in Sanskrit language. Learning Sanskrit is living in our past; knowing sanskrit is reviving our tradition and practicing Sanskrit is a bliss. It has been the language of God, Goddesses, Sages, Rustics, Rituals, Mythology, Epics, Teaching, Learning, Tradition, Culture, Social Customs, manners, Trade, Commerce and Contentment. National Education Policy, 2020 is a concrete proof of the revival of our past. It is an initiative to look into inward, outward, backward and roots. It is not as dead as Latin; however, it is not as alive as English. Researchers have been trying hard to find out the power of Sanskrit sounds. Through passage of time, the gap between Sanskrit language and Indian natives grew wider. We left it for specific purposes and limited it to handful users. We forgot to bow our heads to our great and glorious tradition. West has created many distractions through several ways and means to leave Sanskrit to die its own.*

*(Key Words : Tradition, Specific, Limited, Distraction)*

.....

## Introduction

As per the Indian tradition Sanskrit Language is self-born, divine, eternal and everlasting. It has no beginning or ending. It is wonderful and scientific. Written in Sanskrit *'Ṛgveda'* has been considered and acknowledged as the oldest book of the world. It dates back to 6500 B.C. to 1500 B.C. It is evident that Sanskrit as language and literature was prevalent in form of local dialects. However, those dialects were varied and different. Surprisingly, each Veda had its own book of grammar known as *Prātiśākhya.* Apart from *Veda*s, large number of Sanskrit literature such as, *Brāhmaṇa-Grantha*s, *Āraṇyaka*s, *Upaniṣad*s and *Vedāṅga*s were in existance.

As language so its literature. Sanskrit literature is as vast as the human life. Human life has been divided in *Dharma, Artha, Kāma* and *Mokṣa.* There are four *Veda*s *Ṛigveda, Yajurveda, Sāmaveda*, and *Atharvaveda.* Six *Vedāṇga*s i.e. *Śikṣā, Vyākaraṇa, Kalpa, Chandas, Nirukta*, and *Jyotiṣa* help to understand the Vedas. Sanskrit has been the language of epics. Vālmiki wrote Lokakāvya the *Rāmāyaṇa:*, the great-epic. The second epic, *Mahābhārata*, known as encyclopedia of knowledge was written by Kṛṣaṇadvaipāyana Vyāsa. Kālidāsa, Aśvaghoṣa, Bhāravi, Bhaṭṭi, Kumārdāsa, Māgha, Hariṣena, Patañjali, Ādi Śaṅkarācārya, Kalhaṇa, Jaideva Vatsabhaṭṭi have been acknowledged as prominent poets and writers. The journey of Sanskrit is historic.

## Value of Learning

It has been said that the worth of education has been the core concern of scholars of Sanskrit language. To substantiate my point of view, following lines are cited :

विद्या नाम नरस्य कीर्तिरतुला भाग्यक्षये चाश्रयो
धेनुः कामदुधा रतिश्च विरहे नेत्रं तृतीयं च सा ।
सत्कारायतनं कुलस्य महिमा रत्नैर्विना भूषणम्
तस्मादन्यमुपेक्ष्य सर्वविषयं विद्याधिकारं कुरु ॥[1]

Further, scholars have left non who appear as reluctant towards Sanskrit. Even parents are not spared :

मातारिपुः पिताशत्रुः बालो याभ्यां न पाठ्यते।
सभामध्ये न शोभते हंसमध्ये बको यथा॥[2]

## Shades of Sanskrit Language

Indian knowledge tradition symbolizes incredible wisdom, intellect, intelligence and knowledge of the Indians with unique collegiality of knowledge and science between worldly and ethereal; act (karma) and religion (dharma); and fruition and renouncement. Right from the period of *Ṛg Veda*, educational institutions have been promoting the practices of generosity, truth, self-reliance, and respect for one and all emphasizing moral, materialistic, spiritual, and intellectual values. Vedas treat knowledge as the base of mankind and students are taught and trained to keep balances among humans, other living creatures and nature. It is believed that those who study the Holy *Veda*s and the *Upaniṣad*s and follow the notions and teachings accordingly, come up prepared to offer their duties and responsibilities. Education system focuses on mental as well as physical growth of learners. It is believed that deeds of individuals untie the shackles and knowledge paves the path to salvation. All sorts of teaching-learning traditions, whether vocational and non-vocational; are to embellish learners with skills and knowledge.

## Indian Teaching Tradition

Indian Teaching Tradition begins with Vedic-Sanskrit as early as 1700-1200 BCE. It was a standardized dialect of Old Indo-Aryans. The period of Classical Sanskrit ranges between 500 B.C. - 1000 A.D. Pāṇini composed his grammar of Sanskrit known as the *'Aṣṭādhyāyī'*. Apart from *Aṣṭādhyāyī*, the language produced two most popular, relevant and highly standard classics in epic

[1] सुभा.स्तो. श्लोक - ३८९

[2] चा.नी, दूसरा अध्याय श्लोक - ११

form titled *'Rāmāyaṇa'* and *'Mahābhārata'*. The *'Pañcatantra'* and *'Hitopadeśa'* are major representatives of didactic literature. Sanskrit was also used as the medium for composing treatises of various philosophical schools, as well as works on logic, astronomy, and mathematics. Works of philosophy, astronomy, science, medicine and law were the parts of Classical Sanskrit. There is a large corpus of literature in Sanskrit covering a wide range of subjects. Important authors and works include Bhāsa's *'Svapnavāsavavadattā'*, Kālidāsa's *'Abhijñānaśākuntala'*, and *'Raghuvaṁśa'*, Śudraka's *'Mṛcchakaṭika'*; Bhāravi's *'Kirātārjuniya'*; and Māghas *'Śiśupālavadha'* etc.

## National Education Policy, 2020

National Education Policy, 2020 has been shaped and designed to revive and restore the old teaching learning tradition with recent scientific manners / methods. As far as the first question is concerned, National Education Policy (NEP) 2020 hits the nail on the head: "Sanskrit will thus be offered at all levels of school and higher education as an important, enriching option for students, including as an option in the three-language formula."[3] Researches on Sanskrit language has flagged off to use it for technical purposes. Western countries have shown their keen interest in sanskrit. Sanskrit had been the vehicle of world's oldest successful teaching tradition that put forward India and Indian teaching traditions for centuries. The glory and glamour of the said traditions were diminished due to external colonial and imperial invasions.

## Learning Outcomes-based Curriculum Framework

Indian Teaching Traditions were centred to Learning Outcome. The design of curriculum was based on holistic development of learners. Learners were given tranning for skill enhancements and to be self-reliant, self-dependent and an asset to the society and nation. The New 'Learning Outcomes-based Curriculum Framework' [LOCF] of UGC and Universities was already in practice in ancient times. It was based on exploration, invention, personality development, religiosity, values, mental as well as physical soundness, patrotism, nationalism, relationships, and inculcation of love, affection, peace, cooperation, cosmopolitanism, and emotional attachment. It was creative, dynamic, potential and diverse.

We are living in 21st century where the entire world has turned as a small village. Internet has brought revolution in the realm of information and communication technology. Despite complexions, the west is looking forward towards Indian to take forward the world. The literary world of the west seems

[3] https://www.education.gov.in/sites/upload_files/mhrd/files/NEP_Final_English_0.pdf

tired, monotonous, stodgy, and humdrum. Sanskrit language and literature seems a solution to it.

The Government of India has introduced NEP, 2020 with a distinct vision to keep our learners deeply rooted to Indian culture, tradition, civilization, ethos, and to embellish them with knowledge, skill and values to come up as new rays of hopes and aspirations for Indian and the world. The mission of NEP, 2020 is to put Indian youths forword to face the challenges of times and to prosper them with all strengths and essentials to cope up the needs of age.

## Present Scenario

Unfortunately, the present status of Sanskrit is not satisfactory in our country. There are only 18 Sanskrit universities in India. Among these, 3 central universities against 54, 1 deemed university against 125 and 14 state universities against 459. There is no Private university as against 430 dedicated for Sanskrit education in India. There is no Institute of National Repute dedicated to Sanskrit language and literature. These universities have not been focusing on the revival of Sanskrit language and literature. Central as well as state governments should come forward to make Sanskrit education more lucrative and respectful.

## Conclusion

In short, on the basis of the study made, I come to conclusion that looking back to Sanskrit is looking back to our culture, tradition, customs and mythology. Sanskrit has been the mother of almost all modern Indian languages. It can retell our history with balanced amount of emotions, passions and feelings. We need to come forward to learn, practice and spread sanskrit globally to make it *Viśva-Vāṇī* [World-language] and our country *Viśva-Guru*.

## Abbreviations

1. चा.नी. - चाणक्य नीतिदर्पण
2. सुभा.स्तो. - सुभाषित श्लोक तथा स्तोत्रादि संग्रह

## References

1. चाणक्य विरचितः चाणक्यनीतिदर्पणः, पण्डित मिहिरचन्द्रशर्मानिर्मित पद्यगद्यभाषाटीकासमेतः, लक्ष्मीवेंकटेश्वर प्रेस, मुंबई, १९८२
2. सुभाषित श्लोक तथा स्तोत्रादि संग्रह, भावविजय, भूपत राय जादवजी शाह, १९३५

❀❀❀

# Preluding the Yoga-Vāsiṣṭha: An Inimitable Genre

Shruti Sharma and Sharma Bhanu Bhupendra

Abstract

*Vedānt is the most revered system of Indian Philosophy. Yoga-Vāsiṣṭha is the largest and most distinguished text of Advaita Vedānta. However, it has received the treatment of inattention by scholars. This text has somehow not received much recognition from the modern academics of Indian Philosophy. My paper titled "Preluding the Yoga-Vāsiṣṭha: An Inimitable Genre" is a small but sincere attempt to remedy this.*

*In my paper, I will we taking the following issues :*

1. *What is the Advaita Vedānta of Yoga-Vāsiṣṭha?*
2. *Is it analogous to Śaṅkara's Advaita Vedānta or is it entirely inimitable?*
3. *What is the methodology used in this text?*
4. *Was Yoga-Vāsiṣṭha influential and significant during the ancient times?*
5. *What are the possible reasons for its neglect during the modern era?*

*Along with introduction, this paper is sub-divided into five sections dealing with the dating and identity of the author, influence and significance, content and methodology, causes for neglect, its unique philosophy.*

*(Keywords: Kalpanā-Vāda, Śūnyavāda, Idealism, Inception, Mentation.)*

.....

## Introduction

If there is any antique culture that has stood undefeated against the wrath of countless ghastly endeavors to obliterate it, it is the Bhāratīya culture. The guardian and protector of this invincible spirit is the colossal Himalaya of our ancient credo. Amid its countless intellectual gems, the *Yoga-Vāsiṣṭha* (henceforth YV) rests as an exceptional and priceless treasure. The *YV* is revered and renowned by various names like *Jñāna Vāsiṣṭha, Mahārāmāyaṇa, Vāsiṣṭha Rāmāyaṇa.* It comprises of 32000 *ślokas* and is the second largest text next only to the grandest *Māhābhārata.* The writer observes that agents often get confused between the choice of whether to follow *jñāna mārga* or *karma mārga* (I am taking only the ritualistic aspect where the agent performs *karma*s to attain self-oriented goals which is not to be confused with the *niṣkāma karma*). It becomes perplexing when the traditional views tell an agent to read scriptures and indulge diligently in rituals while performing their duties with moral methods, but the agent is also made aware of the perishable nature of all the worldly existence. These two doctrines don't seem to go hand in hand. They appear to be rather contradictory. The realization that, every aspect of the physical world will disperse and that even the merits curated by the agent will exhaust in the

end, makes the agent pessimistic. It feels demotivating, as if all is for nothing, that even the Heavens are not immune to the omnipresent process of decay that is caused by the ceaseless passing of time. The predicaments then arise in the mind of the agent, "Why must I perform any duties at all? What is the purpose of being moral if, just like other worldly concepts, the system of morality is also not eternal? Why should I continue to worry about any life events if, life itself is inconsequential at the Cosmic level?" The disheartenment that these queries cast in the mind of an agent truly appear to be insurmountable. These are the most fundamental, prominent and bewildering dilemmas that can be regarded as the fulcrum of all metaphysical queries. These ageless dilemmas were familiar to the author of *YV*. This pessimistic state of mind is addressed in the text at the very commencement. The author has used detailed and illustrative stories that are being conveyed by Ṛṣi Vāsiṣṭha to Śrī Rāma in order to impart sagacity upon its reader.

## Author and Probable Date of *YV*

The *YV* is traditionally ascribed to Ṛṣi Vālmīki. The text has several parts that amenably state that Ṛṣi Vālmīki has composed it. However, scholars universally disagree with this. The reason for the stated is that the text has been dated to be of a much later era[1]. Due to this, the identity of the author is lost in antiquity. Dating this literary work is difficult. The probable date of *YV* is debatable. It has not been stated anywhere in the text directly, but it is possible to make an educated guess based on some indications which have been scattered in the content. The *YV* has some unique citing in it which is fascinating for a reader who is attentively reading. For instance, the text names *Śūnyavāda* and *Vijñānavāda*[2] and this depicts that it was certainly composed much after the period of Buddha. These systems of Buddhism were clearly already established and flourishing during the time of *YV*'s conception. Another sign that alludes a later date is the mentioning of a concept of *Meghadūta*[3] (cloud messenger). It is an exceptionally renowned poem of the ancient poet Kālidāsa. This puts the text in a time period when Kālidāsa had become influential. Prof. S.N. Dasgupta (henceforth SN) holds that the text was composed in close association with the *Śaiva* traditions and it not only has unmistakable influences of *Vijñānavāda* but also Gauḍapāda[4]. This claim is interestingly disagreed with by BL

1 BL Atreya in The Philosophy of the YV., Chapter 2, gives details of different views of scholars on the probable date. These scholars include J.N. Farquhar and Dr. Winternitz among others who have worked on the dating the historicity of the Yoga-Vāsiṣṭha.

2 YV., Volume 1, p. XXXVI

3 BL Atreya, p. 26

4 SN Dasgupta, A History of Indian Philosophy, Volume 1, p. 766.

Atreya (henceforth BL). He holds that *YV* is a pre-Gauḍapāda work[5]. Another inference that can be made is from the creation of *Laghu Yoga-Vāsiṣṭha* by Abhinanda in the middle of the ninth century CE. The *YV* must have reached a point of considerable significance much before that time. Thus, on the basis of these facts, on can place *YV* somewhere in the seventh or eighth century CE. BL dates this text to be from around the seventh century CE[6].

## Enduring Significance and Profound influence of *YV*

One very important aspect of *YV* that must be kept in mind is that it was written pre-śaṅkara era. This makes it significant for the understanding of the history and evolution of the system of *Advaita Vedānta*. Another reason for the undeniable significance of this text is that it was considered indispensable enough to be summarized by Abhinanda of Kashmir in the form of *Laghu Yoga-Vāsiṣṭha* in the middle of ninth century. He summarized it in roughly six thousand *ślokas*. It has some similarities with the *Purāṇa* due to its illustrative story infused writing style, though, it is not quite right to label it as a *Purāṇa*[7]. It also has the dialogue like framework that we find in the *Upaniṣad*s but not quite identical. Thus *YV* doesn't contentedly fit in any pre-established classifications. It is inimitable and exceptional in its own right. Various minor *upaniṣad*s have taken *śloka*s, analogies and ideas verbatim from *YV*[8].

## Content and Methodology of *YV*

*YV* has no fixation with making judgements and assertations considering dissimilar contemplations of other systems of philosophy. There are no comparisons and competitions among different traditions and disciplines. It is evident that the author was not aiming to establish a particular school of thought. Which is the reason for the lack of systemization in the doctrine[9]. The text constitutes stories and legends that have been used to explain the various philosophies. It is fascinating to note that the author had the literary endowment to put exceedingly unfathomable philosophies into simple and relatable stories. Unlike various other texts of *Advaita Vedānta* there are no staunch debates in the *YV*[10].

---

5 BL Atreya, p. 21, BL disagrees with the view of SN regarding the YV being a post-Gauḍapāda work and provides detailed arguments for this work to be from an earlier era.

6 *Ibid.*, p. 23

7 SN Dasgupta, p. 722

8 BL Atreya, Chapter 4 has detailed list of some ślokas of Yoga-Vāsiṣṭha that have occurred in various minor Upaniṣads.

9 YV., Volume 1, p. XXXV

10 *Ibid.*, p. XXXIV

It begins with the tale of a *Brāhman* who seeks Ṛṣi Agastya to find out whether *karma* or *jñāna* is more important in order to achieve salvation. Ṛṣi replies with the analogy of a bird, just like the birds need two wings to fly, an agent needs to follow both, the *karma mārga* and the *jñāna mārga.* Ṛṣi Agastya narrates the legend of Kāruṇya, who was the son of Ṛṣi Agniveśa. Kāruṇya had received all the scriptural and ritualistic knowledge from his teachers and had returned home upon the completion of his education. However, as his father observed, Kāruṇya had become exceedingly aloof and despondent. He refused to take initiatives towards his duties and began to indulge in utter inactivity. His father probed him for the reason for his severe pessimism. Kāruṇya replied that, he is confounded by the paradoxical nature of the relation between performing rituals and other moral duties that only cause perishable results and attainment of liberation which is the only eternal state of bliss. How can the former lead to the latter and, should one indulge in duties or just simply follow the method of meditations in an effort to achieve the desireless and thoughtless state of mind? To answer his son's doubt, Ṛṣi Agniveśa narrates the story of a king who had received an invitation from Indra to come to heavens. However, the King had thought about the advantages and defects of heaven and courteously refused the invitation. The king was repelled by the concept of transitory enjoyments in heavens only to fall back into the cycle of birth, suffering and death. The King was seeking eternal state of bliss that was beyond the grasp of this cycle. This surprised Indra, who took the king to Ṛṣi Vālmīki for guidance. Ṛṣi then told them the dialogue between Śrī Rāma and Ṛṣi Vāsiṣṭha. Śrī Rāma was overwhelmed by the contemplations regarding the eventual perishable nature of Existence. Considering how all societies, duties, extravagances, passions and occurrences are all transient, Śrī Rāma started to fall into an unfathomable dejected state and refused to indulge in any obligations and began to self-isolate. To remedy Śrī Rāma's condition, Vāsiṣṭha guided him with the knowledge of the Ultimate Reality while illuminating the phenomenological world as a mere produce of mentation[11]. To convey the doctrine to Śrī Rāma, Ṛṣi Vāsiṣṭha takes up numerous parables which include experiences of inception. The agents in these parables go through dreams within dreams till ad infinitum without any cognizance of the fact that all their seemingly objective experiences are essentially imagined and illusory.

## Neglect of *YV* by Modern Scholars

There are undeniable indications that *YV* was highly venerated during the ancient epochs. However, the same is not true for our era. As BL notes in p. xiii, "So far as I know, nobody else has, up to this time, introduced the sanskrit

[11] *Ibid.*, p. XVII

work *YV* and its very suggestive, deep and comprehensive philosophy to the modern world in a proper manner .... the *YV* is still laying in oblivion, so far as modern scholars of and writers on philosophy are concerned".

There are substantial speculations that regard the writing style of the author as the prominent cause for the neglect. While reading the text, it becomes apparent that there is excessive repetition[12]. This can turn the literature monotonous and humdrum. Too much redundancy can be seen as unreasonably time consuming. Another reason that comes under consideration is the simplicity of the language used. The vocabulary is rather unembellished and unpretentious. This repetition and humble language is not necessarily bad. To me it seems that the author clearly chose this format and vocabulary rather deliberately. As is not exaggerated and ambiguous, the writing is easy to interpret for the reader. This is unlike most philosophical works which require tedious and meticulous attempts to decipher their meanings as close to accuracy as possible. The aim of the creator of this text was clearly to imbed the philosophy into the minds of the readers. This can explain the simple language and repetition to some measure. To certain degree, this can be compared with the works of the medieval poet Tulsidās who shared the same undertaking of imparting the knowledge to the multitudes[13]. Considering that the existential qualms and mindsets that are plagued by them are echoing their thoughts even through long gone eras makes it appear like an inherent and interminable challenge for the philosophers. The parables in this antique text are fascinatingly relatable even to a modern reader. The fact that the author of *YV* could elucidate such profound doctrines in such easy to cognize ways is undeniably worthy of sincere appreciation.

## Philosophy of the *YV*

The *YV* has an untapped and immense potential to discover profound insights into the nature of Reality. The philosophical investigation that is being carried out in *YV* concerns the elucidations and inquiries into the nature of Reality. Many other texts discuss these concepts as well, but the text at hand is simplest and lest ambiguous to understand. The philosophy of the *YV* is a congruent amalgam of Buddhist, Jain and Upaniṣadic doctrines. The *YV* is indubitably a work on *Advaita Vedānta*, and has unsurprising similarities with the eminent and esteemed philosophy of Śaṅkara, at a glance, it might even seem identical to Śaṅkara's philosophy but, the philosophy of *YV* is unique and incomparable in its own right. One can draw out several elemental differences between Śaṅkara's *Advaita Vedānta* and the rather undiscovered insights of *YV*. Accord-

12 *Ibid.*, p. XXXV

13 BL Atreya, p. 5

ing to BL, if one does a thorough examination of Śaṅkara then it is evident that Śaṅkara was influenced by the work of *YV*. Firstly, as it seems that, whenever it was composed, there were no orderly outlines of *Advaita Vedānta* unlike the times of Śaṅkara, when there were robust efforts in the direction of systemizing the *Advaita Vedānta* tradition. We have noted above that the author of *YV* did not follow the same undertaking. Therefore, the well-defined concepts of Śaṅkara like *Adhāysa* (superimposition), *Māyā* (phenomenal world) as *Anirvacaniya* (indescribable) and the different stages of reality namely *Pāramārthika Sattā* (Ultimate Reality), *Vyāvahārika Sattā* (Phenomenological reality), *Prātibhāsika Sattā* (Apparent Reality) are absent in the *YV*, instead *YV* holds firmly that there is no fundamental difference between thoughts and objects. Whatever we perceive as a separate, independently existing object is just the same as our thought of it. Consequently, there is no separation between waking reality and dream reality. One just appears to be more stable. The author asserts that, there are infinite parallel multiverses existing simultaneously and we in our limited phenomenological experience just believe otherwise. There are worlds within worlds that contain even more worlds that are ever-going and no one can measure the extent of this inception.

The author dwells completely into the utter non-existence or absolute nihilism while negating the realness of any concepts. The author of *YV* did not believe in the sharp distinctions between different philosophical traditions. Because of this, the influence of Buddhist *Śūnyavāda* is expressed clearly without any preconditions. The *YV* has held that the True Reality is *Śūnya* which it also expounds as *Brahman* or as the formless mind. For Śaṅkara, this Brahman is present in each and every individual and experience but *YV* implies that the formless is beyond pragmatic experiences. The ultimate eternal state is not of bliss like Śaṅkara asserts but of utter Void where concepts like Truth or Bliss don't measure. Śaṅkara and Buddhist idealism are not likeminded. One of the main differences between these two, as noted by SN is that Śaṅkara's idealism does not permit the denial of external objects. The physical substances do exist, it is just that their fundamental nature is indescribable and often viewed by us as some made up superimposed myth.

On the other hand, the *YV* believes in a special kind of idealism. The navel of the existence and its events is the mind[14]. It must be noted here that, by mind, the *YV* is not implying our relative consciousness. Instead it is the Supra-Consciousness that is generating the Reality derived from the power of *Saṅkalpa* (the translation closest to accuracy is desires). All the phenomena that we have ever experienced including the impression of being an individual Self

[14] *Ibid.*, p. 197

are mere projections of the *Śūnya*. It holds that the phenomenological world is a product of our imagination. There is no fixed name given to its philosophy by the author. Throughout the text, the author freely interchanges the terms *Brahman* and *Śūnya* to refer to the Absolute existence and *māyā* or *ābhāsa* to imply our phenomenological world. To make things a little clearer, scholars call it *Kalpanā vāda* or imaginism[15]. It is important to note that the concept of *māyā* or *adhyāsa* is not the same as Śaṅkara. The *māyā* in *YV* is not indescribable or neither real or unreal or both or neither. The phenomenological world is all just imagination.

The insights in *YV* are so profound that they go way beyond our logical range. The *YV* believes in the direct intuition as the only acceptable means of cognition[16]. In the absence of direct insight, one cannot grasp the concepts that involve the fundamental nature of the world for example, we can only realize the flavor of sugar or spice, the smell of wet soil or the sensation of a toothache upon our direct experience. No matter how hard we endeavor, we will never be able to explain these experiences to someone who has no somatic familiarity with them. Neither can someone else explain us these experiences in words, no matter how detailed and accurate their descriptions are. It is rather impressive that the author took the bull by horns by asserting that the world being imagined by the Divine mind can be directly apprehended. It is a remarkably astounding claim to make. Instead of taking shade under the umbrella of the "Divine Revelations must be uncritically trusted approach".

Regarding the questions of whether Creations and Destructions of the worlds, Fate, Space and Time are real beyond the imagination of the Cosmic Mind, the *YV* answers in negative[17]. The author strongly advocated absolute free will and negates any entity called fate or destiny. The text gets into detailed elucidations as the writer has taken significant time and made considerable efforts to expound the conceptions mentioned above as fictitious and entirely fallacious. The *YV* even describes the entity called personal Ego as fictional. There is neither any individual Self nor any phenomena experienced by it.

However, it goes against our common sensical beliefs and it will naturally lead to the queries that, who is the entity that is imagining everything? If all that there is can be understood as illusion, then who is the being experiencing this illusion? How can we deny the objective world as real because it is clearly being experienced by us at all times? No one knows anything beyond this empirical world. Our minds, imaginations, actions and even the most de-

15 *Ibid.*, p. 172
16 *Ibid.*, p. 143
17 *Ibid.*, p. 129

tailed dreams are all bound by the physical world. How can the entities like Time, Space, mountains, rivers, all elements and even all living and non-living effects be just product of our imagination? If it is my imagination, then why is everyone also experiencing it? How come I don't know when and why I imagined everything, from all the vast oceans to the rest of the cosmos? The theoretical concepts don't seem to tranced into the pragmatic experience. Our shortage of comprehension is derived from several factors like scarcity of rumination, focusing on distractions in the empirical world, misunderstanding our experiences and firmly yet falsely believing in the self-imposed physical and mental limitations.

According to *YV* the whole existence is mere imagination and nothing different and it explains all these issues in great detail. Firstly, *YV* elucidates that there is no personal I (personal identity), and whatever one believes to be a unique and intimate Self is nothing but a mirage. All personal experiences, no matter how objective and stable they may seem, are all products of mentation. The reason why we see the somewhat same objective reality is because the Cosmic Mind is conjuring all of us along with the force of *Saṅkalpa*[18]. This, Ultimate Consciousness experiences the world in which not even an iota has been created from any material cause. It is the same way some dreamer generates whole worlds seemingly out of nothing in pure emptiness. The empirical world was there in the past, is here in now and will also be there in the future simply because the Absolute Consciousness imagined it and continues to do and will continue further. The beings like individual appearing consciousness will continue to emerge and seemingly perish while experiencing the phenomenological existence. It is essential to realize that there is absolutely no separation between the individual Self and the Cosmic Self. The entire universe is being held by our own supreme Self that is the rest of the entire universe itself. There is nothing distinguished from the higher self. The occurrences that we call ourselves or different experiences like creations and destructions of worlds or formations of gargantuan material clusters like planets and stars are all just ceaseless waves forming in the ocean that is the Ultimate Cosmic mind. It is indubitably imprudent to label waves as septate from the water that composes the ocean. The Reality is an animation *(Kalpanā mātra)* of the Divine Consciousness that imagines it and gets too engrossed in it, the same way as a child creates evil monsters by imagination and gets scared by them. The doctrine of *YV* goes way beyond our logical capacities. It does not fully fit into the category of metaphysics or philosophy of mind. Rather it takes its reader into deeper realms of intellectual insights where the tags like Idealism, Monism or Panpsychism become insufficient and insignificant.

[18] YV, Volume 1, p. 1XXXIX

## Conclusion

The findings of this research underscore the significance of the philosophy of *YV* and pave the way for further exploration into the uniqueness of its own doctrine of *Advaita Vedānta*, ultimately contributing to the broader body of knowledge in the *Advaita* tradition. In this paper I have highlighted the plausible date of the *YV* to be from sometime around the seventh century CE and its author remains anonymous. There is immeasurable wisdom in the *ślokas* of *YV*. It offers undeniably significant research avenues for future explorations into the nature of Reality and Philosophy of Mind. There are abundant reasons for present day researchers to thoroughly investigate this text. BL believes: "In the philosophy of Vāsiṣṭha, we have a better solution of the problem than probably in any other religion or philosophy of the world"[19]. This text has unfortunately received the treatment of inattention by modern scholars maybe due to the writing style of its author, but one simply cannot afford to neglect this magnificent curation of the intellectual findings of our ancient thinkers. *YV* holds the insights into the history of *Advaita Vedānta* and profound advancements into the deepest realms that our contemplations can take us to. It would be the greatest scholarly blunder to misinterpret this text. The philosophy of *YV* is an inimitable amalgam of the Buddhist *Śūnyavāda* and *Advaita Vedānta*. It has subtle yet significant differences with Śaṅkara's *Advaita Vedānta*. Its *Kalpanā-Vāda* or the theory of Imaginism is undeniably impeccable. Therefore, it will be vastly thoughtless to mix it up with other traditions of *Advaita Vedānta*. It warrants its own position of world recognition for its metaphysical realizations. The writing of *YV* is simply unsurpassed and unmatched by any other ancient or modern works of Philosophy. The author of this work championed in conveying the most unfathomable insights into the simplest analogies. It would be long overdue and appropriate to put this text right beside the likes of the Song Celestial and other admirable gemstones of wisdom. It is sagacious to return the *YV* to its original place of glory and recognition that it was placed at during the eras of antiquity.

## Abbreviations

1. YV. - Yoga-Vāsiṣṭha

## References

1. *A History of Indian Philosophy, Śaṅkara School of Vedānta, Yoga-Vāsiṣṭha and Bhagvadgītā*, Volume 1, Chapter-12, S.N. Dasgupta, Motilal Banarsidas, Delhi, 7th reprint, 2018

[19] BL Atreya, p. 622

2. *The Philosophy of The Yoga-Vāsiṣṭha*, B.L. Ātreya, The Theosophical Publishing House, Adyak, Madras, India, 1936

3. *Yoga-Vāsiṣṭha*, Geeta Press, Gorakhpur, 2022

4. *Yoga-Vāsiṣṭha (Hindi translation)*, Pt. Krishna Shastri, Chaukhamba Surbharati, Varanasi, 2022

❀❀❀

# नागेशभट्टपर्यालोचितभाष्यसम्मताष्टाध्यायीपाठ and Non-pāṇinian grammars : A comparative study of variations in the अष्टाध्यायी rules

Tanuja Ajotikar

Abstract

नागेशभट्टपर्यालोचितभाष्यसम्मताष्टाध्यायीपाठ *(NPBhSAP), a work devoted to the variations in the* सूत्र*s of the* अष्टाध्यायी*, is analyzed by Ajotikar T. et. al. (2021). In the present article, the cases of variations discussed in this rare work are compared with the non-pāṇinian grammars namely* कातन्त्र, चान्द्र, जैनेन्द्र *and* शाकटायन*. Any discovery of a new evidence is important in the field of philology in order to take the study ahead. NPBhSAP is a work which has opened the matter of the variations in the* सूत्र*s of the* अष्टाध्यायी *by providing some valuable variant readings of* सूत्र*s. The present attempt to compare the data with the non-pāṇinian grammars is helpful to understand inter-relations among these all grammatical traditions. This study reveals how some of the conclusions regarding relations among pāṇinian and non-pāṇinian grammars are based on limited evidence. It strengthens, once again, the fact that the* व्याकरणमहाभाष्य *has left immense influence on these grammars. The present article affirms the need of good critical editions of prominent grammatical texts, and the importance of constant search of new evidences in philology.*

*(Keyword: Pāṇini,* अष्टाध्यायी*, non-pāṇinian grammars, variations)*

.....

## 1. Introduction

Sanskrit texts are not free of variations. It is well known that there are variations in the सूत्रs of the अष्टाध्यायी. Ajotikar T. et. al. (2021) discussed a rare Sanskrit work entitled नागेशभट्टपर्यालोचितभाष्यसम्मताष्टाध्यीपाठ (NPBhSAP). This work lists more than 100 cases of variations of the अष्टाध्यायी सूत्रs. Until now, Kielhorn's two articles (CE. 1885, 1887) were well-known among scholars as a first account of variations of the अष्टाध्यायी सूत्रs. NPBhSAP (CE. 1828) is pre-Keilhorn. Ajotikar T. et. al. (2021) provide a detailed survey of works that are based on Kielhorn's articles including Oberlies's (2006) German article that compares the data given by Kielhorn (1885, 1887) with चान्द्र and जैनेन्द्र grammars. There is no article in English that deals with such comparison of pāṇinian and non-pāṇinian grammars regarding the variations. After the discovery and analysis of NPBhSAP, it becomes more crucial to take an account of rules of non-pāṇinian grammars regarding variations. We discuss in this article such data and try to study the interaction among pāṇinian and non-pāṇinian grammars. Here we compare the data in the कातन्त्र (150 B.C.—1st century AD), चान्द्र (5th century AD), जैनेन्द्र (5–6th century AD) and शाकटायन (9th century AD) grammars. This kind of comparative study is useful to present a new evidence to the community of scholars

(Bronkhorst 1983 and 2004, Oberlies 2006) who are debating the chronology of the चान्द्र, जैनेन्द्र and काशिकावृत्ति for a long time as well as to study the relation of the कातन्त्र grammar and the काशिकावृत्ति (Vishalakshi 1981). Sharon Ben-Dor (2019:2:ft2) summarizes important discussions on this topic:

The काशिकावृत्ति is after the चान्द्रव्याकरण. The जैनेन्द्रमहावृत्ति is based on the commentary by देवनन्दिन् which is lost to us. देवनन्दिन्'s commentary was older than the चान्द्रव्याकरण and काशिकावृत्ति, is the opinion of Oberlis. Bronkhorst (2002) opines that काशिकावृत्ति and चान्द्रव्याकरण must be borrowing from the same source which could be a lost commentary on the अष्टाध्यायी written by a grammarian who flourished after पतञ्जलि.

Aussant (2021) discusses whether these non-pāṇinian grammars can be called schools or systems. Bhate (2011) discusses the possibility of a "non-brahmanical" independent source of the काशिकावृत्ति other than the व्याकरणमहाभाष्य (hereafter महाभाष्य). In the same volume, Aussant (2011) discusses the similar issue by comparing the प्रत्याहारसूत्र section of the काशिकावृत्ति and the चान्द्रवृत्ति. Both of them agree with Bronkhorst (2002) that these two texts use an unknown common source.

The data we discuss in this article is for the comparative study of the rules with variations in the अष्टाध्यायी. We do not aim to settle any issues related to the chronology of these grammars.

Ajotikar T. et. al. (2021) categorize all of the cases discussed in the NPBhSAP under seven different categories; such as योगविभाग, प्रक्षिप्त, पाठान्तर, अपपाठ, क्रमभेद, द्विः and सन्दिग्ध. In the same article, all of the original references referred to by NPBhSAP are traced, and discussed in detail. So we do not repeat all the information in the present article. Out of above mentioned categories, we discuss here first four categories; namely योगविभाग, प्रक्षिप्त, पाठान्तर, and अपपाठ. The remaining categories are not relevant in the present context.

## 2. Yogavibhāga

As is well-known, योगविभाग is splitting the original सूत्र in the अष्टाध्यायी and make two rules out of a single rule. NPBhSAP discusses the cases of योगविभाग that can be again categorized under two groups; योगविभाग suggested by कात्यायन or पतञ्जलि and योगविभाग occurs in the काशिकावृत्ति without any reference in the महाभाष्य.

### 2.1 Yogavibhāga in the Mahābhāṣya

Below, in table 15.1, is the list of rules, as in NPBhSAP, which were received as a single rule by कात्यायन or पतञ्जलि, and they suggested a split to these rules. Their comment was implemented by later grammarians, and the split was introduced in the सूत्रपाठ. A comparison with the non-pāṇinian grammars is crucial as it reflects their acquaintance with the महाभाष्य and an attempt to

incorporate कात्यायन's and पतञ्जलि's views.

| Rule no | अष्टाध्यायीसूत्रपाठ | कातन्त्र | चान्द्र | जैनेन्द्र | शाकटायन |
|---|---|---|---|---|---|
| 1.1.17–18 | उञः ऊँ | x | 5.1.130—131 उञ् ऊं | 1.1.25—26 उञः ऊम् | 1.1.104 उं चोञः |
| 1.4.1–2 | आकडारात् एका सञ्ज्ञा विप्रतिषेधे परं कार्यं | x | 1.1.16 विप्रतिषेधे (equivalent to 1.4.2) | 1.2.90 स्पर्धे परम् (equivalent to 1.4.2) | x |
| 1.4.58–59 | प्रादयः उपसर्गाः क्रियायोगे | x | x | 1.2.129—130 प्रादिः क्रियायोगे गि | Clubbed into 1.1.25 तस्यागतार्थाधिपर्यर्चास्वत्यतिक्रमात्युपसर्गः प्राक् च |
| 2.1.11–12 | विभाषा'पपरिबहिरञ्चवः पञ्चम्या | x | 2.2.7 पर्यपाङ्बहिरञ्चवः पञ्चम्या वा | 1.3.9—10 वा पर्यपाङ्बहिरञ्चवः कया | x |
| 4.3.117—118 | सञ्ज्ञायाम् कुलालादिभ्यो वुञ् | x | 3.3.83—84 सञ्ज्ञायां वातपादञ् कुलालादिभ्यो वुञ् | 3.3.86—87 खौ कुलालादेर्वुञ् | 3.1.183—184 नाम्नि कृते कुलालादेर्वुञ् |
| 5.1.57–5.1.58 | तदस्य परिमाणम् संख्यायाः संज्ञासंघसूत्राध्ययनेषु | x | 4.1.62 तदस्य परिमाणम् equivalent to 5.1.57 No reference to 58 | 3.4.55–56 तदस्यांशवस्नभृतयः परिणामात् संख्यायाः संज्ञासंघसूत्राध्ययने | 3.2.160—161—162 मानम् संख्यायाः संघसूत्रपाठे नाम्नि |

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| 5.1.63–5.1.64 | तदर्हति छेदादिभ्यो नित्यम् | x | 4.1.74—75 अर्हति छेदादिभ्यो नित्यम् | 3.4.60 and 3.4.62 तदर्हति छेदादेर्नित्यम् | 3.2.173 अर्हति 3.2.178 छेदादेर्नित्यम् |
| 6.1.32–33 | ह्वः सम्प्रसारणमभ्यस्तस्य च | 3.4.14—15 ह्वयतेः नित्यम् अभ्यस्तस्य च | 5.1.39—40 ह्वः द्वित्वे | 4.3.29-30 ह्वो जिः थस्य | x |
| 6.1.137–138 | सम्पर्युपेभ्यः करोतौ भूषणे समवाये च | 3.7.38 सुड् भूषणे सम्पर्युपात् | 5.1.136 सम्परेः कृञः सुट् | 4.3.110—111 सम्पर्युपात्कृञः सुड्भूषे समवाये | x |
| 7.3.117–118–119 | इदुद्भ्याम् औदच्च घेः | 2.1.60 ङिरौ सपूर्वः सखिपत्योर्ङिः | 6.2.61—62 इदुद्भ्याम् औत् एङोऽच्च | 5.2.111—12 इदुद्भ्याम् औदच्च सोः | 1.2.24 and 26 ङिरौत् घेर्ङौरनाटि |
| 8.4.19–20 | अनितेः अन्तः | x | 6.4.118 अनोऽन्ते च | 5.4.104 णोऽनितेः 5.4.115 अन्तस्य | 4.2.242—43 परेरनितेः अन्ते च |

Table 15.1: Yogvibhāga as suggested by Kātyāyana or Patañjali

In all of the above cases, most of the times the सूत्र is split following the कात्यायन's or पतञ्जलि's suggestion in non-pāṇinian grammars. There are four exceptions which we discuss below.

1. A. 1.1.17–18 उञः ऊँ is not included in the कातन्त्र, and is spilt in the चान्द्र and जैनेन्द्र grammar except the शाकटायन. Kulkarni and Kahrs (2015) have added an important evidence in the transmission of this rule in काशिकावृत्ति's manuscript tradition. They showed that the Sharada manuscript tradition of the काशिकावृत्ति does not split this rule. The Sharada tradition still preserves the reading known to पतञ्जलि. It means, Sharada tradition of the काशिकावृत्ति, which is post-patañjali, does not intend to change the original reading in the सूत्रपाठ. In that matter, it is important to note that the शाकटायन is similar to that of the Sharada tradition of the काशिकावृत्ति.
2. The चान्द्र grammar does not split the rule, 2.2.7 पर्यपाङ्बहिरञ्चवः पञ्चम्या वा, per-

haps does not agree with the views of पतञ्जलि (योगविभागाः कर्तव्यः, विभाषेत्यय-मधिकारः, ततोऽपपरि..... Kielhorn:I.380.7–8). By suggesting योगविभाग, पतञ्जलि wants the compounds formed by the subsequent rules to be optional, and suggests the word विभाषा be the अधिकार.

3. NPBhSAP notes, on the basis of the statement of पतञ्जलि on A. 6.4.110 अत उत्सार्वधातुके, the original reading of A. 6.1.137 is सम्परिभ्यां भूषणसमावाययोः करोतौ and that splitting of the rule is post पतञ्जलि. The author of NPBhSAP notes that the insertion of the preverb उप is a corrupt reading which we find in the काशिकावृत्ति (Osmania edition p. 632). The चान्द्र-सूत्रपाठ does not have two separate सूत्रs, and notably it does not insert the preverb उप in the सूत्र. However, the meaning conditions भूषण and समवाय are moved to the next rule C. 5.1.137 उपाद्भूषणसमवाययत्नवैकृताध्याहारेषु which is equivalent to A. 6.1.138 उपात्प्रतियत्नवैकृतवाक्याध्याहारेषु. Thus, the चान्द्र preserves here "correct" reading as per NPBhSAP with some changes. On the other hand, the कातन्त्र combines A. 6.1.137 and 139, and completely omits the semantic conditions for the augment सुट्. It is obvious for the कातन्त्र to omit discussion on semantic conditions as far as its pedagogical nature is concerned. It accounts for the form with the augment सुट्, and simplifies the procedure. So the modification in the कातन्त्र is fair and logical. But inserting the preverb उप in the original A. 6.1.137 does not fit in the pāṇinian system. Hence, the insertion of the preverb उप in A. 6.1.137 by the काशिकावृत्ति is regarded as a corrupt reading, and it might be under the influence of the कातन्त्र which is copied in the जैनेन्द्र.

4. NPBhSAP observes that A. 8.4.19–20 are not two separate rules as preserved in the महाभाष्य. Interestingly, the C. 6.4.118 resembles the महाभाष्य.

## 2.2 Yogavibhāga occurred in the Kāśikāvṛtti

The NPBhSAP discusses six cases in which the rule constitutes a single rule in the महाभाष्य but is split in two in the काशिकावृत्ति. There are six rules that deal with accents in the table 15.2 (A. 6.2.92, 6.2.93, 6.2.107, 6.2.108 6.2.143, 6.2.144). The non-pāṇinian grammars do not deal with this genre. Therefore these rules in the अष्टाध्यायी do not have any comparable data in any of the non-pāṇinian grammars.

| Rule no | अष्टाध्यायीसूत्रपाठ | कातन्त्र | चान्द्र | जैनेन्द्र | शाकटायन |
|---|---|---|---|---|---|
| 4.4.131-132 | वेशोयशआदेर्भगाद्यल् ख च | x | x | x | x |

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| 5.3.71 —72 | अव्ययसर्वनाम्नाम् अकच् प्राक् टेः कस्य च दः | 2.2.64 अव्यय-सर्वनाम्नः स्वरादन्त्या-त्पूर्वोऽक् कः | 4.3.56—57 तिङ्स-ङ्ख्यानाम-चोऽन्त्यात् पूर्वोऽकच् कस्य च दः | 4.1.130 ङिसर्वना-म्नोऽक्प्रा-क्टेः को दः | 3.4.82 तिङ्सर्वादे-रस्वन्त्यात् पूर्वोऽक् |
| 6.2.92 6.2.93 | अन्तः सर्वगुणका-त्स्न्यें | x | x | x | x |
| 6.2.107, 108 | उदराश्वेषुषु क्षेपे | x | x | x | x |
| 6.2.143 6.2.144 | अन्तः थाथघञ्क्ता-जबित्रकाणाम् | x | x | x | x |

Table 15.2: Yogavibhāga occurred in the Kāśikāvṛtti

1. A. 5.3.71—72 are said to be a single rule originally, and is, later, split by the काशिकावृत्ति. In the कातन्त्र, जैनेन्द्र and शाकटायन, no equivalent rule is found that deals with substitution of क् (velar un-aspirated unvoiced stop) by द् (velar un-aspirated voiced stop). The चान्द्र follows the split, thus, agrees with the काशिकावृत्ति.

## 3. Prakṣipta (Interpolation)

The term प्रक्षिप्त, as is well-known, means 'interpolated' or 'added later' or 'inserted later'. Any reading noted as प्रक्षिप्त is not an original reading. NPBhSAP discusses thirty-one cases of interpolation in the अष्टाध्यायी. It is in the form of a word(s) inserted from a वार्त्तिक, entire वार्त्तिक is added as separate rule or गणसूत्रs are added. We present this data in three different tables (15.3, 15.4, and 15.5).

### 3.1 Entire Vārttika inserted as a rule

Some वार्त्तिकs in the महाभाष्य are inserted as rules in the सूत्रपाठ, and these cases are listed in table 15.3. There are no equivalent rules available in the कातन्त्र grammar so it is not included in the table.

| Bothlink (Aṣṭād-hyāyīsūtra) | Interpolation as per NPBhSAP | चान्द्र | जैनेन्द्र | शाकटायन |
|---|---|---|---|---|
| 4.1.166 | वृद्धस्य च पूजा-याम् | x | x | 1.1.16 युववृद्धं कुत्सार्चे |

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| 4.1.167 | यूनश्च कुत्सायाम् | x | x | 1.1.16 युववृद्धं कुत्सार्चे |
| 4.2.8 | कलेर्ढक् | 2.4.12 प्राग्वतेरग्निकलिभ्यां ढक् | x | x |
| 4.3.132 | कौपिञ्जलहास्तिपदादण् | 3.3.97 कौपिञ्जलहास्तिपदादण् | 3.3.100 कौपिञ्जलहास्तिपदादण् | 3.1.157 कौपिञ्जलहास्तिपदादण् |
| 4.3.133 | आथर्वणिकस्येकलोपश्च | 3.3.81 आथर्वणोऽण् वेदे | 3.3.101 आथर्वणः | 3.1.152 आथर्वणोऽण् |
| 5.1.36 | द्वित्रिपूर्वादण्च | 4.1.46 द्वित्र्यादेरण्च | 3.4.34 द्वित्रिभ्यामण्च | 3.2.141 द्वित्रेरणच् |
| 6.1.62 | अचि शीर्षः | 5.2.64 शीर्षोऽचि | x | x |
| 6.1.100 | नित्यमाम्रेडिते डाचि | 5.1.105 डाचि पूर्वस्य | 4.3.87 म्रौ डाचि नित्यम् | x |
| 6.1.136 | अडभ्यासव्यवायेऽपि | x | x | x |

Table 15.3: Prakṣipta (entire Vārttika inserted as a rule)

We discuss a few cases below included in table 15.3.

1. A. 4.3.132, 4.3.133 and 5.1.36 which are original वार्त्तिकs uniformly found a place in each of these grammars.
2. The rest of the interpolations, 4.1.166, 4.1.167, 6.1.62 and 6.1.100 are not a part of one of these.
3. The prominent case is 4.1.166—67. These two are not a part of the चान्द्र and जैनेन्द्र; they both are combined in a single rule in the शाकटायन. The wording of A. 4.1.167 यूनश्च कुत्सायाम् is अनार्ष as pointed out by कैयट (MBhPU. IV.152a) while commenting on the fourth वार्त्तिक जीवद्वृंश्यं च कुत्सितम् (Kielhorn II.265.4) on 4.1.162. This interpolation is certainly not known to चान्द्र and जैनेन्द्र. Since similar rule is in the शाकटायन grammar and the wording of the rule is known to कैयट, the insertion must have taken place before 9th century AD.
4. A. 6.1.136 is a combination of two वार्त्तिकs namely; अड्व्यवाये उपसङ्ख्यानम् and अभ्यासव्यवाये च the चान्द्र and जैनेन्द्र take a different theoretical position on the augment सुट्. The augment सुट् is अन्तरङ्ग with respect to the augment अट् or reduplication[1]. So they do not include these two operations in the form of a separate rule.

[1] समस्कार्षीदित्यतः सुडन्तरङ्गत्वात् | चान्द्रवृत्ति on C. 5.1.136; समस्करोत् सं(च)स्कारः(र) अन्तरङ्गत्वेन द्वित्वाडागमाभ्यां प्राक्सुट् | जैनेन्द्रमहावृत्ति J. 4.3.110

## 3.2 Word(s) from a वार्त्तिक inserted in the rule

Below in table 15.4, we present a list of those cases where some word or words in a वार्त्तिक are inserted in the सूत्रपाठ, and thus the original reading of the सूत्र is modified. There are no equivalent rules in the कातन्त्र grammar so it is not included in the table.

| Bothlink (Aṣṭād-hyāyīsūtra) | Interpolation as per NPBhSAP | चान्द्र | जैनेन्द्र | शाकटायन |
|---|---|---|---|---|
| 1.3.29 समोग-म्यृच्छिभ्याम् | समो गम्यृच्छिप्र-च्छि (स्वरत्यर्ति-शृविदिभ्यः) | 1.4.71 समो ग-म्यृच्छिप्रच्छिस्वृ-श्रुवेक्त्यर्तिदृशः | 1.2.24 समो गम्प्रच्छिस्वृच्छि-श्रुविद्दृशः | 1.4.56 स-मोऽर्तिस्वरतिश्रु-दृश्विद्गमपृच्छृच्छः |
| 3.1.95 कृत्याः | कृत्याः (प्रा-ङ्ण्वुलः) | x | 2.1.81 प्राक्ते-र्वाऽसमः 2.1.82 ण्वोर्व्याः | x |
| 3.3.122 अध्यायन्यायो-द्यावसंहाराश्च | अध्यायन्यायो-द्यावसंहारा (धारावाया)श्च | 1.3.101 listed in the commen-tary. | 2.3.103 संहारोद्यावानाया-वहारावायाः | 4.4.96 जारदाराध्याय-न्यायोध्यावाना-याधारावायाः |
| 4.1.15 टिड्ढाणञ्द्वयस-ज्दघ्नञ्मात्रच्त-यप्ठक्ठञ्कञ्-क्वरपः | टिड्ढाणञ्द्वयस-ज्दघ्नञ्मात्रच्त-यप्ठक्ठञ्कञ्-क्वर(ष्ठ्युनाम्) | 2.3.17 टिड्ढाण-ञ्ठक्ठञ्नञ्स्न-ञ्कञ्क्वरष्ठ्युनः | 3.1.18 टिड्ढाण-ञ्ठण्ठञ्क्वरपः | 1.3.14 टिट्ठण्ढे-ञणञ्गौरादिभ्यः |
| 4.2.2 लाक्षारो-चनाट्ठक् | लाक्षारोचना(श-कलकर्दमा)ट्ठक् | 3.1.2—3 लाक्षारोचनाट्ठक् शकलकर्दमाभ्यां वा | 3.2.3 लाक्षारो-चनाशकलकर्द-माट्ठण् | 2.4.221-222 लाक्षारोचनाट्ठक् शकलकर्दमाट्ठा |
| 4.2.21 सास्मि-न्पौर्णमासीति | सास्मिन्पौर्णमा-सीति (संज्ञायाम्) | 3.1.18 सास्मि-न्पौर्णमासी | 3.2.16 सास्मि-न्पौर्णमासीति खौ | 2.4.203 सास्य पौर्णमासी |
| 4.2.43 ग्रामज-नबन्धुभ्यस्तल् | ग्रामजनबन्धु-(गजसहाये)-भ्यस्तल् | 3.1.59 ग्रामजनगजबन्धु-सहायात्तल् | 3.2.37 ग्रामजनबन्धुस-हायेभ्यस्तल् | 2.4.143 ग्रामजनबन्धुगज-सहायात्तल् |
| 4.4.17 विभाषा विवधात् | विभाषा (वीवध)विवधात् | 3.4.16 वीवध-विवधात् वा | 3.3.140 वा वि-वधवीवधात् | 3.2.16 विवध-वीवधात् |
| 5.2.101 प्रज्ञा-श्रद्धार्चाभ्यो णः | प्रज्ञाश्रद्धार्चा-(वृत्ति)भ्यो णः | 4.2.105 प्रज्ञा-श्रद्धार्चावृत्तिभ्यो णः | 4.1.28 प्रज्ञाश्र-द्धार्चावृत्तिभ्यो णः | 3.3.129 प्रज्ञा-श्रद्धार्चावृत्तेर्णः |

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| 5.4.50 कृभ्वस्तियोगे संपद्यकर्तरि च्विः | (अभूततद्भावे) कृभ्वस्तियोगे संपद्यकर्तरि च्विः | 4.4.35 अभूततद्भावे कृभ्वस्तियोगे विकाराच् च्विः | 4.2.55 कृभ्वस्तियोगे अतत्तत्त्वसम्पत्तरि च्विः | 3.4.55 कर्मकर्तृभ्यां प्रागतत्तत्त्वे च्विः |
| 6.1.124 6.1.125 इन्द्रे च नित्यम् प्लुतप्रगृह्याचि | इन्द्रे च प्लुतप्रगृह्याचि नित्यम् | 5.1.122 अक्षेन्द्रे 5.1.123 न प्लुतोऽनितौ | 4.3.101 गोरिन्द्रेऽवङ् 4.3.103 प्रकृत्याचि दिपाः | 1.1.97 इन्द्रे 1.1.99 न प्लुतस्यानितौ |
| 6.3.6 आत्मनश्च | आत्मनश्च (पूरणे) | 5.2.9 आत्मनः पूरणे | 4.3.125 डड्यात्मनः | 2.2.5 डत्यात्मनः |
| 6.3.40 स्वाङ्गाच्चेतः | स्वाङ्गाच्चेतः (अमानिनि) | 5.2.37 स्वाङ्गादीदमानिनि] | 4.3.152 अमानिनीत्स्वाङ्गात् | 2.2.50 स्वाङ्गेज्जातिश्चामानिनि |
| 6.3.83 प्रकृत्याशिषि | प्रकृत्याशि(ष्यगोवत्सहलेषु) | 5.2.102 नाशिष्यगोवत्सहलेषु | 4.3.191 नाशिष्यगोवत्सहले | 2.2.114 नाशिष्यगोवत्सहले |
| 8.1.73 नामन्त्रिते समानाधिकरणे 8.1.74 सामान्यवचनं विभाषितं विशेषवचने | 8.1.73 नामन्त्रिते समानाधिकरणे सामान्यवचनं 8.1.74 विभाषितं विशेषवचने बहुवचनम् | 6.3.25 न सामान्यवचनमेकार्थे 6.3.26 बहुत्वे वा | 5.3.25 नैकार्थे बोध्ये सामान्यवचनम् 5.3.26 वा विशेषबहुवचने बहौ | x |
| 8.3.116 सदेः परस्य लिटि | सदि(ष्वञ्जोः) परस्य लिटि | 6.4.98 सदिस्वञ्जेर्लिटि | 5.4.84 सदिष्वञ्जोः परस्य लिटि | 4.2.225 सदोऽप्रतेर्लौत्वादे 4.2.26 स्वञ्जेश्च |

Table 15.4: Prakṣipta (word(s) from a Vārttika inserted in the rule)

In all of these pāṇinian rules, the reading of the rule is modified on the basis of a वार्त्तिक. In most of the cases, non-pāṇinian grammars tend to accept the changed rule indicating that they are aware of the discussion in the महाभाष्य. Most of the times these grammars accept modifications suggested by पतञ्जलि, and form the rule accordingly. Below we discuss important cases in detail.

1. चान्द्र, जैनेन्द्र and शाकटायन do not differ in inserting a word from a वार्त्तिक in the rules equivalent to A. 4.4.17, A. 5.2.101, A. 5.4.50, A. 6.3.6, A. 6.3.40, A. 6.3.83.

2. A. 1.3.29 was originally read समोगम्यृच्छिभ्याम्, and other roots namely प्रच्छ्, स्वृ, ऋ, श्रु, and विद् are inserted later. The modified reading is attributed to the काशिकावृत्ति (Osmania edition p. 58). However, the insertion of verbal roots on the basis of वार्त्तिकs (समो गम्यादिषु विदिप्रच्छिस्वरतीनामुपसङ्ख्यानम् (Kielhorn I.282.11), अर्तिश्रुदृशिभ्यश्च (Kielhorn I.282.14)) is not complete since the verbal root दृश् is excluded. On the contrary, the चान्द्र, जैनेन्द्र and शाकटायन

insert the verbal root दृश् in the rule itself.

3. A. 4.2.43 ग्रामजनबन्धुभ्यस्तल् is a very interesting case, similar to that of A. 1.3.29, where we find that the words गज and सहाय are added which are original from a वार्त्तिक (गजसहाभ्यां चेति वक्तव्यम् Kielhorn II.279.19). The चान्द्र and शाकटायन in add both of the words the rule itself. जैनेन्द्र adds only the word सहाय as similar to that of the existing text of the काशिकावृत्ति (ग्रामजनबन्धुसहायेभ्यस्तल् Osmania edition p.373). It is significant to note that the word गज is inserted after the word ग्रामजन, and the word सहाय is after the word बन्धु in the चान्द्र which indicates a non-refined interpolation. The शाकटायन has refined reading where the words गज and सहाय are inserted after the word बन्धु, i.e. at the end of the original rule ग्रामजनबन्धुभ्यस्तल्. The resemblance between the चान्द्र and शाकटायन is significant as both of them use ablative singular सहायात् not the plural form. NPBhSAP states that both the words गज and सहाय are inserted in the अष्टाध्यायी rule. Even though the text which inserts these two words is not mentioned by the author of NPBhSAP, we assume that he is referring to the काशिकावृत्ति. But there is no evidence in the printed text of the काशिकावृत्ति or any awareness shown by later grammarians that the word गज was inserted in the rule. Hence, it becomes more interesting to investigate the issue whether the text of the काशिकावृत्ति available to the author of NPBhSAP was different from what we know so far. This reading mentioned by NPBhSAP shows resemblance to that of चान्द्र.

4. The word ख्युनाम् is inserted in A. 4.1.15, on the basis of the वार्त्तिक ख्युन उपसङ्ख्यानम् (Kielhorn II.209.6), which matches only with the चान्द्र. जैनेन्द्र and शाकटायन do not insert any additional word.

5. Likewise the addition of the word संज्ञायाम् in A. 4.2.21, on the basis of the वार्त्तिक सास्मिन् पौर्णमासीति सञ्ज्ञाग्रहणम् (Kielhorn II.275.7), is echoed in the जैनेन्द्र grammar by adding the word खौ in the rule[2] whereas the चान्द्र and शाकटायन do not add the word and drop the word इति. In other words, they modify the original reading of the Pāṇinian rule.

6. Comparison with A. 4.2.2[3] reveals a different picture that जैनेन्द्र grammar inserted the words शकल and कर्दम in the rule itself. On the contrary, चान्द्र and शाकटायन accommodated the addition by forming a separate rule. We can observe that the original Pāṇinian rule is accepted unchanged by these two grammars.

---

[2] खु in the जैनेन्द्र means संज्ञा

[3] The words शकल and कर्दम are added on the basis of the वार्त्तिक ठक्प्रकरणे शकलकर्दमाभ्याम् उपसङ्ख्यानम् (Kielhorn II.271.7)

7. Insertion of the verbal root स्वञ्ज् in A. 8.3.116[4] is copied by the चान्द्र and जैनेन्द्र whereas the शाकटायन forms a separate rule.

8. As far as the list in A. 3.3.122 is concerned, originally, four words, अध्याय, न्याय, उद्याव and संहार were listed. On the basis of the वार्त्तिक (घञ्विधाववहाराधारावायानामुपसङ्ख्यानम् Kielhorn II.155.19), आधार and आवाय are added later excluding the word अवहार (Osmanina edition p.278). The चान्द्र does not enlist these in a separate rule but we find अध्याय, न्याय, उद्याव, संहार, आधार and आवाय listed in the commentary (चान्द्रवृत्ति on C. 1.3.101). The चान्द्र excludes the word अवहार like the काशिकावृत्ति does. In J. 2.3.103, the जैनेन्द्र lists संहार, उद्याव, आनाय, अवहार, आवाय and adds अध्याय, आधार, and न्याय in the commentary (Tripathi and Chaturvedi 1956:130). The list differs from what we find in the Pāṇinian tradition and the चान्द्र. It includes the word अवहार in the rule, but excludes the words अध्याय and न्याय which are originally in the Pāṇinian rule. The शाकटायन (S. 4.4.96) gives a little different list (Tripathi 1971:423); namely, जार, दार, अध्याय, न्याय, उध्याव, आनाय, आधार, and आवाय. It neither includes the word अवहार in the rule nor in the commentary. It adds two new words जार and दार in the rule which are not found in any of the previous grammars. Even though it is difficult to state with certainty how these changes were made by non-pāṇinian grammars, we can easily observe that the content of the rule varies from grammar to grammar. It also indicates that a निपातन rule is not a good case to investigate the relation of these grammars with the pāṇinian tradition.

| Bothlink (Aṣṭādhyāyīsūtra) | Interpolation as per NPBhSAP | चान्द्र | जैनेन्द्र | शाकटायन |
|---|---|---|---|---|
| 6.1.156 | कारस्करो वृक्षः | No separate rule. Covered under 5.1.142 पारस्करादीनि नाम्नि | Clubbed in to 4.3.116 | 2.2.39 वर्चस्कादिषु अवस्कारादयः |
| 8.3.99—100 | एति संज्ञायाम् अगात् नक्षत्राद् वा | 6.4.85 नक्षत्रादितो वा 6.4.86 एति सञ्ज्ञायामकोः | x | x |

Table 15.5: Gaṇasūtras added

[4] The verbal root स्वञ्ज् is added on the basis of the वार्त्तिक सदो लिटि प्रतिषेधे स्वञ्जेरुपसङ्ख्यनम् (Kielhorn III.451.2)

1. A. 6.1.156 is not a separate rule in the महाभाष्य, but is included in the पारस्करादि गण. The काशिकावृत्ति reads it as a separate rule. While commenting on this rule, it is stated in the काशिकावृत्ति, केचिदिदं नाधीयते पारस्करप्रभृतिष्वेव कारस्करो वृक्ष इति पठन्ति (Osmania edition p.635) Thus, the काशिकावृत्ति is aware of the variant reading. The चान्द्र, जैनेन्द्र and शाकटायन resemble the महाभाष्य here, and make it a part of the गण.
2. A. 8.3.99—100 are originally गणसूत्रs and inserted as rules in the अष्टाध्यायी. These two are गणसूत्रs in the सुषामादि गण mentioned in A. 8.3.98 सुषामादिषु च (Osmania edition p. 960). The जैनेन्द्र and शाकटायन do not have these rules but the चान्द्र inserts these two in the सूत्रपाठ. The चान्द्र does not include these two गणसूत्रs in सुषामादि (C. 6.4.89), hence it is logically correct to enlist these two separately in the सूत्रपाठ. Wagh and Kulkarni (2018) show that there is no uniformity among the editions of the काशिकावृत्ति regarding these two rules. For example, the first edition of the काशिकावृत्ति (Shastri 1876–78:552) has these two rules separately commented. When these two rules are a part of the सूत्रपाठ, we expect that they should not be a part of the सुषामादि गण. Shastri's (1876–78:552) text of the काशिकावृत्ति fulfills our expectation, and does not include the गणसूत्रs in the the सुषामादि गण. The account given by Wagh and Kulkarni (2018) points out that the manuscript tradition of the काशिकावृत्ति differs regarding these two rules. The data we compare in this paper further indicates that one tradition of the काशिकावृत्ति and the चान्द्र resemble with each other in making these two rules a part of their सूत्रपाठ, and they omit the गणसूत्रs from the सुषामादि.

## Pāṭhāntara

The word पाठान्तर means 'a variant reading'. Below in the table 15.6, we list those cases which are mentioned by NPBhSAP as पाठान्तर, and provide the equivalent rule in the कातन्त्र etc. grammars.

| अष्टाध्यायीसूत्र | Variant as in NPBhSAP | कातन्त्र | चान्द्र | जैनेन्द्र | शाकटायन |
|---|---|---|---|---|---|
| 3.3.78 अन्तर्घनो देशे | अन्तर्घणो देशे | 4.5.60 अन्तर्घनोद्धनौ देशात्याधानयोः | x | Covered in 2.3.69 निपातन | 4.4.18 देशे अन्तर्घनान्तर्घणौ |

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| 4.1.81 दैवयज्ञिशौचिवृक्षिसात्यमुग्रिकाण्ठेविद्धिभ्योऽन्यतरस्याम् | दैवयज्ञिशौचिवृक्षिसात्यमुग्रिकाण्डेविद्धिभ्योऽन्यतरस्याम् | x | 2.3.85 दैवयज्ञिशौचिवृक्षिसात्यमुग्रिकाण्ठेविद्धीनां वा | 3.1.66 दैवयज्ञिशौचिवृक्षिसात्यमुग्रिकाण्ठेविद्धिभ्यो वा | x |
| 4.1.155 कौसल्यकार्मार्याभ्यां च | कौशल्यकार्मार्याभ्यां च | x | 2.4.87 दगुकोशलकर्मारच्छागवृषाद्युट् च | 3.1.142 कौशल्येभ्यः | Included in 2.4.84 दगुकोसलकर्मारच्छागवृषाद्युट् च |
| 4.1.173 साल्वावयवप्रत्यग्रथकलकूटाश्मकादिञ् | शाल्वावयवप्रत्यग्रथकलकूटाश्मकादिञ् | x | 2.4.103 शाल्वांशप्रत्यग्रथकलकूटाश्मकादिञ् | 3.1.154 साल्वावयवप्रत्यग्रथकलकूटाश्मकादिञ् | 2.4.101 शाल्वांशाश्मककलकूटप्रत्यग्रथादिञ् |
| 4.4.64 बह्वचपूर्वपदाट्ठच् | बह्वचपूर्वपदाट्ठञ् | x | 3.4.65 बह्वच्पूर्वपदाट्ठच् | 3.3.182 बह्वजादेष्ठः | 3.2.66 बह्वच्पूर्वपदाट्ठः |
| 4.4.82 सञ्ज्ञायाम् जन्याः | सञ्ज्ञायाम् जन्या | x | 3.4.81 नाम्नि जन्याः | Clubbed in 3.3.195 निपातन | x |
| 5.1.25 कंसाट्टिठन् | कंसाट्टिट्ठन् | x | 4.1.26 कंसार्धाट् ठट् | 3.4.22 कंसाट्ठन् | 3.2.130 कंसार्धाट् ठट् |
| 5.1.28 अध्यर्धपूर्वाद्विगोर्लुगसंज्ञायाम् | अध्यर्धपूर्वाद्विगोर्लुगसंज्ञायाम् | x | 4.1.38 संख्याध्यर्धादेः सङ्ख्येयाल्लुगद्विः | 3.4.26 रादुबखौ | 3.2.142 अलुचो नाम्नि श्लुक् |
| 5.1.66 दण्डादिभ्यः | दण्डादिभ्यो यः | x | 4.1.79 दण्डादिभ्यः | 3.4.64 दण्डादेः | 3.2.174 दण्डादियज्ञाद्यछम् |
| 5.3.103 शाखादिभ्यो यः | शाखादिभ्यो यत् | x | 4.3.81 शाखादिभ्यो यः | 4.1.157 शाखादेर्यः | 3.3.39 शाखादेर्यः |
| 5.4.121 नञ्दुःसुभ्योहलिसक्थ्योरन्यतरस्याम् | नञ्दुःसुभ्योहलिशक्त्योरन्यतरस्याम् | 2.6.59 नञ्सुदुर्भ्यः सक्थि वा | 4.4.106 नञ्सुदुर्भ्यः सक्थ्नो वा | 4.2.123 नञ्दुस्सोः सक्थिहलेर्वा | x |

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| 6.4.56 ल्यपि लघुपूर्वात् | ल्यपि लघुपूर्वस्य | 4.1.38 लघुपूर्वोऽय्यपि | 5.3.70 ल्यपि लघोः | 4.4.56 प्ये घिपूर्वात् | x |
| 7.2.78 ईडजनोर्ध्वे च | ईडजनोस्थ्वे च | 3.4.7 ईडजनोः सध्वे च | 5.4.174 जनीशीडः स्ध्वे | 5.1.136 ईडः स्ध्वे | 4.2.31 ईशीड्भ्यां स्ध्वे |

Table 15.6: 4. Pāṭhāntara

From the above list, we do not discuss A. 4.1.81, A. 4.1.155, and A. 4.1.173 where dental sibilant स् and palatal sibilant श् are interchanged. This kind of phonological difference depends on the reading found in a manuscript. Any difference or resemblance for these rules among all of these grammars may be accidental. Other important cases are discussed below.

1. The variants ठच् and ठञ् mentioned in A. 4.4.64 generate different forms with different accents (A. 6.1.163 चितः and A. 6.1.197 ञ्नित्यादिर्नित्यम्). Even though the चान्द्र gives the reading ठच्, it is unclear how is it significant owing to the fact that none of these grammars derive accent of any word. However, we can easily observe that the चान्द्र or any other grammar does not show any awareness of the variant reading ठञ्.
2. Among all of these rules, there are two cases where the काशिकावृत्ति is aware of the variant and mentions it while commenting on the rule.
    (a) A. 3.3.78 अन्तर्घनो देशे, the काशिकावृत्ति states अन्ये णकारं पठन्त्यन्तर्घणो देश इति (Osmania edition p.268). The xकाशिकावृत्ति is aware of the variant. The चान्द्र does not make a separate rule which is equivalent to A. 3.3.78. But the चान्द्रवृत्ति lists the word अन्तर्घण while commenting on C. 1.3.65 stating अन्तर्घणो नाम वाहिकेषु देशः (Chatterji 1953:103). It does not account for अन्तर्घन. The जैनेन्द्र repeats what the चान्द्रवृत्ति stated but adds केचिन्नकारं पठन्ति (Tripathi and Chaturvedi 1956:125) hinting at the variant अन्तर्घन. The शाकटायन accounts for both the forms (Tripathi 1971:416). It seems to accept both the forms, and does not prefer one usage over the other.
    (b) A. 7.2.78 ईडजनोर्ध्वे च has a variant ईडजनोस्थ्वे च. The काशिकावृत्ति is aware of this variant. It states, ध्वेशब्द ईशेरपीडागम इष्यत ईशिध्व ईशिध्वमिति . तदर्थं केचिदीडिजनोः स्थ्वे चेति सूत्रं पठन्ति (Osmania edition p.820). "The augment इ is desired after the verbal root ईश् in order to derive the forms ईशिध्वे and ईशिध्वम्. For that reason, some read this rule ईडिजनोः स्थ्वे च." A. 7.2.77 ईशः से states: the initial augment इट् is added to a सार्वधातुक l-substitute से introduced after the aṅga ईश् 'rule, govern'. This

rule is essential to derive the form ईशिषे. A. 7.2.78 ईडजनोर्ध्वे च states: the initial augment इट् is added to a सार्वधातुक l-substitute ध्वे as well as से introduced after the áṅga ईड्- 'praise, laud' and जन् 'be born'. This rule is essential to derive forms like ईडिषे, ईडिध्वे, जनिषे, जनिध्वे etc. But with these two rules, there is no provision to derive the form ईशिध्वे or ईशिध्वम्. The काशिकावृत्ति not only records the variant here but also explains the reason behind the variant. It correctly explains that in order to revise the flaw in the existing rules the reading changed to ईडिजनोः स्ध्वे च where the particle च helps recur the verbal root ईश् in this rule as well, and the form ईशिध्वे or ईशिध्वम् etc. can be derived comfortably. Even though the काशिकावृत्ति says केचित् (some) the reading is found in the कातन्त्र K. 3.4.7 ईडजनोः सध्वे च. Further discussing this issue, the काशिकावृत्ति raises a question that why are these two rules separate? Why did not पाणिनि compose just one rule? Having a single rule is the ultimate solution to the problem which we find applied in the चान्द्र C. 5.4.174 जनीशीडः स्ध्वे. The जैनेन्द्र corrects the flaw by forming the condition स्ध्वे (J. 5.1.136), but does not include the verbal root जन्, and composes two separate rules for the verbal roots ईश् and ईड् (J. 5.1.137). The शाकटायन does not formulate two different rules but mentions the verbal roots ईश् and ईड् in one rule with the reading स्ध्वे (S. 4.2.31), at the same time the verbal root जन् is omitted. Thus, all of them tried to avoid being deficient of deriving the forms like ईशिध्वे or ईशिध्वम् etc.

3. A. 5.1.66 दण्डादिभ्यः is read दण्डादिभ्यो यः sometimes[5]. The tradition attributes this reading to the काशिकावृत्ति. But the Osmania edition does not support this reading (p. 482). A. 5.1.66 introduces the affix यत् and the variant reading changes the affix यत् to य which is going to affect the accent of the derived verb. नागेश[6] (MBhPU. III.142b) in the उद्योत terms the reading य being against the महाभाष्य. The चान्द्र and जैनेन्द्र support the old reading दण्डादिभ्यः, and even though the शाकटायन does not copy the wording of the rule, the affix introduced is the same i.e. यत्. The erroneous reading दण्डादिभ्यो यः must be later change in the pāṇinian tradition.

4. Similar is the case of A. 5.3.103 शाखादिभ्यो यः which has a variant reading शाखादिभ्यो यत्. नागेश[7] (MBhPU. IV.244a) remarks that शाखादिभ्यो यः is against the tradition. He states this on the basis of the discussion in the महाभा-

5 See न्यास Pullela and Sundarasarman (1985–1986: II.25)

6 एतेन दण्डादिभ्यो य इति वृत्तिपाठ एतद्भाष्याविरुद्ध इति भावः

7 शाखादिभ्यो य इति पाठस्त्वसाम्प्रदायिक इति भावः

ष्य. पतञ्जलि comments on A. 5.2.1 उगवादिभ्यो यत् (Kielhorn. II.338.3–4), and suggests that to derive the word नभ्य, the word नाभि should be included in the शाखादिगण. In this case, the चान्द्र, जैनेन्द्र and शाकटायन do not support the reading यत् suggested by पतञ्जलि.

## 5. Apapāṭha

NPBhSAP lists अपपाठs 'wrong reading' of the अष्टाध्यायी rules. The list of equivalent rules is in table 15.7.

| Rule no | Correct पाठ as in NPBh-SAP | अपपाठ as in NPBh-SAP | कातन्त्र | चान्द्र | जैनेन्द्र | शाकटायन |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 2.1.48 | पात्रेसमि-तादयश्च | पात्रेसम्मि-तादयश्च | x | Covered under 2.2.16 कारकं बहुलम् | 1.3.43 पात्रेसमि-तादयश्च | 2.1.57 पात्रेसमि-तादयः |
| 4.1.37 | वृषाकप्य-ग्निकुसित-कुसिदाना-मुदात्तः | वृषाकप्य-ग्निकुसित-कुसीदानाम् उदात्तः | x | x | 3.1.40 वृषाकप्य-ग्निकुसित-कुसीदात् | x |
| 4.2.126 | कच्छाग्नि-वक्त्रवर्तो-त्तरपदात् | कच्छाग्नि-वक्त्रगर्तो-त्तरपदात् | x | 3.2.40 कच्छाग्नि-वक्त्रवर्ता-न्तात् | 3.2.104 कच्छाग्नि-वक्त्रव-र्त(गर्त)द्योः | 3.1.50 गहादिग-र्तोत्तरपदे-भ्यः |
| 5.1.76 | पन्थो ण नित्यम् | पन्थो ऽण् नित्यम् | x | 4.1.88 णः पन्थश्च नित्यम् | 3.4.72 पन्थो ण नित्यम् | 3.2.88 नित्यं णः पन्थश्च |
| 5.3.5 | एतदो ऽन् | एतदो ऽश् | x | कुतोऽत इतः 4.3.8 क्वकु-त्रेहात्र 4.3.11 | 4.1.71 एतदः 4.1.72 अश् | 3.4.13 निपातन |

| | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 5.3.84 | शेवलसुपरिविशालवरुणार्यम्णां तृतीयात् | शेवलसुपरिविशालवरुणार्यमादीनां तृतीयात् | x | x | 4.1.140 शेवलसुपरिविशालवरुणार्यमादेः तृतीयात् | 3.4.96 शेवलसुपरिविशालवरुणार्यमादेः तृतीयात् |
| 6.1.150 | विष्किरः शकुनौ वा | विष्किरः शकुनिर्विकिरो वा | x | No separate rule. Covered under 5.1.142 पारस्करादीनि नाम्नि | 4.3.116 निपातन | 4.2.217 वौ विष्किरो वा |
| 7.2.48 | तीषसहलुभरुषरिषः | तीषुसहलुभरुषरिषः | 4.6.81 वेषुसहलुभरुषरिषांति | 5.4.118 तीषुसहलुभरुषरिषः | 5.1.96 तीषसहलुभरुषरिषः | 4.2.162 सहलुभेच्छरुषरिषस्ति |
| 7.3.75 | ष्ठिवुक्लमुचमां शिति | ष्ठिवुक्लम्वाचम्वां शिति / ष्ठिवुक्लम्याचमां शिति | 3.6.67 ष्ठिवुक्लम्वाचमामनि | 6.1.103 ष्ठिवुक्लमाचमां शिति | 5.2.73 ष्ठिवुक्लम्वाचमां शिति | 4.2.63 ष्ठीवूक्लम्वाचमः |
| 7.3.77 | इषगमियमां छः | इषुगमियमां छः | 3.6.69 गमिष्यमां छः | 6.1.105 इषुगमियमां छः | 5.2.75 गमिषुयमां छः | 4.2.57 यम् गमिषोश्शिच्छः |
| 8.2.18 | कृपो रो लः | कृपे रो लः | 3.6.97 कृपे रो लः | x | 5.3.36 कृपो रो लोऽकृपादेः | 4.2.260 कृपोऽकृपीडादिषु |

Table 15.7: Apapāṭha

1. The wrong variant कुसीद for the word कुसिद in 4.1.37 is definitely found before Haradatta. He is aware of the variant but does not consider it a wrong reading. He states ये तु कुसीदेति मध्ये गुरुमधीयते तेषां 'लघावन्ते' इति मध्योदात्तप्रसङ्गः. "Those who accept the reading कुसीद for them the word कुसीदायी

has the second syllable high-pitched." The reading कुसीद for A. 4.1.37 is significant because it is related to the accentuation (कुसि॒दायीं vs कुसीदायी). The कातन्त्र, चान्द्र and शाकटायन do not have the equivalent rule. The जैनेन्द्र reads the word कुसीद. But it does not derive any word with an accent. Hence, whether the word is read कुसिद or कुसीद, it remains insignificant.

2. The word वर्त is replaced by the word गर्त in A. 4.2.126 which is not a correct reading as NPBhSAP labels it 'अपपाठ'. The चान्द्र does not read the rule with the word गर्त whereas the शाकटायन has the word गर्त. In the जैनेन्द्र, editors emended the reading गर्त, probably based on the काशिकावृत्ति's reading. The variants वर्त and गर्त may be known to some of these grammars.

3. The wrong reading for A. 5.1.76 is an outcome of ambiguity of sandhi (पन्थो ण), and then it is a case of hyper-correction to अण् from ण. In order to avoid this confusion the order of words changed in the चान्द्र, C. 4.1.88 णः पन्थश्च नित्यम्, and also in the शाकटायन S. 3.2.88 नित्यं णः पन्थश्च.

4. NPBhSAP considers A. 5.3.84 शेवलसुपरिविशालवरुणार्यमादीनां तृतीयात् a corrupt reading. However there is no evidence for the reading (शेवलसुपरिविशालवरुणार्यम्णां तृतीयात्) considered correct anywhere. The जैनेन्द्र and the शाकटायन have the word आदि in their rule.

5. The चान्द्रवृत्ति includes in the commentary on C. 5.1.142 विष्किरः शकुनिर्विकिरो वा (Chatterji 1961:157) which is considered corrupt by NPBhSAP. The जैनेन्द्र lists the word विष्किर in the rule, and notes the optional form विकिर in the commentary (Tripathi and Chaturvedi 1956:300). This shows that the corrupt reading already became a part of these two grammars, except the शाकटायन which resembles the original Pāṇinian rule.

6. A. 7.2.48 is a very interesting case. It lists five verbal roots namely; इष्, सह्, लुभ्, रुष् and रिष्. There are no multiple entries in the धातुपाठ as far as सह्, लुभ्, रुष् and रिष् are concerned. There is a need to understand which इष् is listed here for the optional इडागम. There are three verbal roots इष् which belong to the भ्वादि, दिवादि and क्र्यादि. Does the optional operation of the augment इट् apply to all of these three इष्s? Or is any one of them excluded? The वार्त्तिक इषेस्तकारे श्यन्प्रत्ययात्प्रतिषेधो वक्तव्यः (Kielhorn III.296.15) prohibits the optional insertion of इट् to the suffix that begins with त् applied after the verbal root इष् which belongs to the दिवादि list. But there is no mention of the third इष् that belongs to the क्र्यादि list. The काशिकावृत्ति mentions the variant for the rule stating यस्तु इष गतौ इति दैवादिकः, तस्य प्रेषिता, प्रेषितुम्, प्रेषितव्यम् इति नित्यं भवति। योऽपि इष आभीक्ष्ण्ये इति कृयादौ पठ्यते, तस्य अप्येवम् एव। तदर्थम् एव तीषसह इति सूत्रे केचितुदितमिषं पठन्ति।(Osmania p.813) The main confusion which इष् is included in the rule is sorted by mentioning its marker in the धातुपाठ. Among all of three इष्s, only one इष् that belongs to the

भ्वादि, is mentioned with the marker उ. The कातन्त्र and चान्द्र have the reading which is mentioned in the काशिकावृत्ति, i.e. the verbal root इष् is listed in the rule with the marker उ. They both state clearly that other two occurrences of the verbal root इष् should not undergo the same operation so we need to mention the marker in the rule. The जैनेन्द्र preserves the original reading and comments that इषेः भौवादिकस्य ग्रहणं सहिसाहचर्यात् (Tripathi and Chaturvedi 1956:347) "The verbal इष् which belongs to the भ्वादि list is mentioned (in the rule) because of its vicinity with the verbal root सह्." The शाकटायन lists present stem इच्छ् instead of the bare verbal root so that there will be no confusion. In this way all of these non-pāṇinian grammars try to avoid the confusion around the verbal इष् in this rule. It is clear from this change that the reading without the marker उ is older than the reading with it.

7. Reverse is the case of A. 7.3.77. The काशिकावृत्ति accepts the reading इषुगमियमां छः, and reports the variant इषगमियमां छः. इषगमियमां छः is an older reading because it is recorded in the महाभाष्य (Kielhorn III.334.5). The काशिकावृत्ति starts the discussion stating ये तु इषिमुदितं नाधीयते त इह च सूत्रेऽचीत्यनुवर्तयन्ति। (Osmania edition p.850) "Those who do not read the verbal root इष् with the marker उ continue the word अचि (from A. 7.3.72) in this rule." The discussion continues with the consequences of this recurrence. If the word अचि is continued, one cannot avoid the final replacement छ् in the imperative middle singular form इषाण. The problem is resolved with a solution that the term शिति is a विशेषण of अचि not vise-versa. It is significant to note that the reading इषु helps remove any over-application of A. 7.3.77 to other occurrences of इष्. कैयट remarks that पतञ्जलि does not agree with the reading इषुगममि etc. (इषुगमीति पाठोऽनार्ष इत्यत आह (MBHPU. VI:216) "Since the reading इषुगमीति is not original पतञ्जलि says....") नागेश in the उद्योत further clarifies that गणेऽप्यनुदित एव पाठः इत्यर्थः "The verbal root इष् is read without the marker उ in the धातुपाठ also (MBHPU. VI:216)." As is discussed previously there are three verbal roots इष् in the धातुपाठ. The verbal root इष् that belongs to the first class is marked with उ, and that distinguishes it from the other two. माधवीयाधातुवृत्ति does not list it with the marker marker उ where as it is listed with the marker उ in the क्षीरतरङ्गिणी and धातुप्रदीप (https://sanskrit.uohyd.ac.in/scl/dhaatupaatha/compare_with_svara.html). If we accept माधवीयाधातुवृत्ति's reading, technically we cannot approve of the reading तीषुसहलुभरुषरिषः or इषुगमियमां छः. In this way, opinions of NPBhSAP that तीषु or इषु are corrupt readings, it aligns with the reading इष preserved in the माधवीयाधातुवृत्ति. The चान्द्र, जैनेन्द्र and शाकटायन state इषु, i.e. with the marker उ. That means the जैनेन्द्र and शाकटायन deviate from

what they did in J. 5.1.96 तीषसहलुभरुषरिषः and S. 4.2.162 सहलुभेच्छरुषरिषस्ति, whereas the चान्द्र is consistent. The कातन्त्र does the reverse as to the जैनेन्द्र. It reads इष् in K. 3.6.69 गमिष्यमां छः and इषु in K. 4.6.81 वेषुसहलुभरुषरिषां ति. The चान्द्र, जैनेन्द्र and शाकटायन justify their reading by stating how mentioning इषु, i.e. with the marker उ helps avoid replacement of the final ष् by छ् in इष्यति and इष्णाति[8]. The कातन्त्र does not discuss anything on this rule. Important to note that the चान्द्र, जैनेन्द्र and शाकटायन are in complete agreement with the काशिकावृत्ति's reading, and not with original reading.

8. The insertion of आ in A. 7.3.75 is on the basis of the वार्त्तिक दीर्घत्वमाङि चमः (Kielhorn III.334.2). It is unanimously accepted by the कातन्त्र, चान्द्र, जैनेन्द्र and शाकटायन as we find that the preverb आ added before the verbal root चम् in the rule.

9. A. 8.2.18 is an interesting case because the corrupt reading कृपे रो लः mentioned by NPBhSAP is not found in any printed edition but it is given by Kielhorn (1885: 199) in the list of variants found in some of the manuscripts of the काशिकावृत्ति. The कातन्त्र grammar has कृपे रो लः which indicates a possible connection between one of the manuscript tradition of the काशिकावृत्ति and the कातन्त्र grammar. कृपे रो लः can be easily ignored as a variant reading as it just missing a sign of आकार (कृपो —> कृपे). It could be a mistake in the manuscripts or could be connected with the कातन्त्र. Both are possible. As is pointed out by Shen (2022), the कातन्त्र tradition was probably more popular in Indian at some point than the pāṇinian tradition, so the influence of readings in the कातन्त्र on the pāṇinian tradition cannot be denied.

## 6. Conclusion

The study strengthens the well-known fact that the non-pāṇinian grammarians were completely aware of the issues discussed in the महाभाष्य, and that the influence of the महाभाष्य is irrefutable on these grammars. Most of the cases where the changes were made to the सूत्रपाठ on the basis of a वार्त्तिक or any statement by पतञ्जलि are implemented by the कातन्त्र, चान्द्र, जैनेन्द्र and शाकटायन in their own सूत्रपाठ (see section 2, 3 and 4 in this paper). This specific data of variations in the rules reiterates the fact that there was a close communication and constant interaction among pāṇinian and non-pāṇinian traditions. If we analyze the data in NPBhSAP and the कातन्त्र, चान्द्र, जैनेन्द्र and शाकटायन in the light of some of the previous work done by scholars, there are some conclusions

[8] इषेरुदितः शब्विकरणस्य ग्रहणम्। इष गतौ इत्यस्य इष्यति। इष आभिक्ष्ण्ये इष्णाति। J. 5.2.75; उदितो ग्रहणादिह न भवति इष्यति इष्णाति। S. 4.2.57; उकारग्रहणं इष्यति इष्णाति। C. 6.1.105

we can revisit. Bronkhorst (1983:370-71) tried to establish chronology of the चान्द्र grammar and काशिकावृत्ति specifically on the basis of A. 7.3.77 इषुगमियमां छः, A. 6.1.157 पारस्करप्रभृतीनि च सञ्ज्ञायाम्, and A. 6.1.115 प्रकृत्यान्तःपादमव्यपरे. He tries to argue in the same article that the काशिकावृत्ति deviates from the original text of the अष्टाध्यायी far more than what is known on the basis of these variations. However arriving at any conclusion like this is delusional considering the complexity of manuscript transmission of traditional Sanskrit texts. These kinds of conclusions lose their ground when new evidences are discovered. For example; a new evidence in case of A.1.1.17—18, i.e. it is a single rule in the Sahara manuscripts of the काशिकावृत्ति, presented by Kulkarni and Kahrs (2015) reveals the complexity of the transmission of the काशिकावृत्ति. NPBhSAP provides a new evidence in case of 4.2.43 where it seems that the काशिकावृत्ति has two different readings for this rule. The discrepancy in the काशिकावृत्ति regarding A. 8.3.99—100 and its relation with the चान्द्र, the corrupt reading of A. 8.2.18 found in some manuscripts of the काशिकावृत्ति and its resemblance with the कातन्त्र, or inserting the pre-verb उप in A. 6.1.137 and its resemblance with the कातन्त्र and शाकटायन, strengthens the fact that more and more evidence is needed to grasp a constructive picture of how much all of these traditions are closely related, and whether they use a common resource or not. By discovering a small text like NPBhSAP, the whole matter of variations of the अष्टाध्यायी rules is opened once again. It also reveals the reality that conclusions based on the printed editions have limitations. At this occasion, we would like to highlight the need of good critical editions of the important Sanskrit grammatical texts in order to derive genuine conclusions.

## References


1. श्रीमद्भगवत्पतञ्जलिमुनिनिर्मितं पाणिनीयव्याकरणमहाभाष्यम्: एतद्व्याख्यानभूत उपाध्यायकैयटप्रणीतो भाष्यप्रदीपस्तद्व्याख्यानभूतो नागेशभट्टविरचितो भाष्यप्रदीपोद्द्योतः; vol. 3, D. Sivadatta Kudala and Raghunatha Sastri. (eds.), तृतीयाध्यायात्मकम्, Nirnaya Sagara Press, Mumbai, 1937.
2. श्रीमद्भगवत्पतञ्जलिमुनिनिर्मितं पाणिनीयव्याकरणमहाभाष्यम्: एतद्व्याख्यानभूत उपाध्यायकैयटप्रणीतो भाष्यप्रदीपस्तद्व्याख्यानभूतो नागेशभट्टविरचितो भाष्यप्रदीपोद्द्योतः; vol. 4. चतुर्थपञ्चमाध्यायव्याख्यानभूतम्, Bhargava Sastri Joshi (ed.), Nirnaya Sagara Press, Mumbai, 1942.
3. श्रीमन्महर्षिपतञ्जलिविरचितं व्याकरणमहाभाष्यम्: श्रीमदुपाध्यायकैयटप्रणीतेन भाष्यप्रदीपेन श्रीमन्नागेशभट्टविरचितभाष्यप्रदीपोद्द्योतोद्भासितेन समुल्लसितेनः; vol. 6, Dadhiram Sharma, (ed.) सप्तमाष्टमाध्यायव्याख्यानभूतम्. Nirnaya Sagara Press, Mumbai, 1950.
4. *An Annotated English Translation of the Samanvayadiś*, Yiming Shen, 232nd Annual Meeting of American Society, March 18–21, 2022. Massachusetts, Boston, 2022.
5. *A study of ganapāthas in the printed editions of the Kāśikāvṛtti*, Balasaheb Wagh and Malhar Kulkarni, Paper presented at the 17 World Sanskrit Conference, University of British Columbia. Vancouver, 2018

6. *Bhāṣyāsammatāṣṭādhyāyīpāṭha: A work on variations in the sūtras of the Aṣṭādhyāyī*, śabdānugamaḥ, Tanuja Ajotikar, Anuja Ajotikar and Peter M. Scharf, Indian Linguistic studies in honor of George Cardona, vol. I, Vyākaraṇa and śābdabodha. edited by Peter M. Scharf. The Sanskrit Library, Providence, RI, USA. pp. 1–49, 2021

7. *Cāndravyākaraṇa of Candragomin, Part I*, K. C. Chatterji (ed.), Deccan College Postgraduate & Research Institute, Poona, 1953

8. *Cāndravyākaraṇa of Candragomin. Part II*, K. C. Chatterji (ed.), Deccan College Postgraduate & Research Institute, Poona, 1961

9. *Der Grammatiker Pāṇini*, Lorenz Franz Kielhorn, Nachrichten von der königlichen, Gesellschaft der Wissenschaften zu Göttingen: 185–99. [Reprint: Rau 1969: 188–202.], 1885.

10. *Jainendra Vyākraṇa with Jainendramahāvṛtti*, Shambhunath Tripathi and Chaturvedi Mahade. (eds.) Uttarapradesha: Bharatiya Jnanapitha, Kashi (Banaras), 1956.

11. *Kāśikā: a commentary on Pāṇini's grammatical aphorisms by Pandita Vāmana and Jayāditya* 2 vols, Bala Shastri (ed.), Medical Hall Press, Varanasi, 1876-1878

12. *Kāśikā: a commentary on Pāṇini's grammar by Vamana & Jaya¯ditya* 2 vols, Aryendra Sharma, Khanderao Deshpande, and D. G. Padhye (eds.), Sanskrit Academy Series 17, 20. Sanskrit Academy, Osmania University, Hyderabad, 1969-1970.

13. *Kāśikāvṛtti and Cāndravyākaraṇa: A Comparison of the Pratyāhārasūtra Section*, Émilie Aussant, In Studies in the Kāśikāvṛtti. The Section on Pratyāhāras, Critical Edition, Translation and Other Contributions. edited by Pascale Haag and Vincenzo Vergiani, Anthem Press, London, pp.191-214, 2011

14. *More on the sources of the Kāśikā*, Johannes Bronkhorst, In Problems in Vedic and Sanskrit Literature (Ganesh Umakant Thite Felicitation Volume). (ed.) Maitreyee Deshpande, New Bharatiya Book Corporation, Delhi, pp. 47-54, 2004

15. *Notes on the Mahābhāṣya: 6. the text of Pāṇini's sūtras, as given in the Kāśikāvṛtti, compared with the text as known to Katyāyana and Patañjali*, Lorenz Franz Kielhorn, Indian Antiquary 16: 178–84. [Reprint: Rau 1969: 226–232.], 1887.

16. *Nyāsaparākhyā Kāśikāvivaraṇapañjikā*, Sriramacandrudu Pullela and Vithaladevuni Sundarasharman, (eds.), 2 vols. Sanskrit Academy Series 33, 35, Sanskrit Academy, Osmania University, Hyderabad, 1985-86.

17. *On the history of Pāṇinian grammar in the early centuries following Patañjali*, Johannes Bronkhorst, Journal of Indian Philosophy; Jan 1, 1983; 11, Periodicals Archive Online pg. 357—412, 1983 (https://www.researchgate.net/publication/263466921)

18. *On uñaḥ uṁ̃ and the evidene for one undivided sūtra in the text of the Kāśikāvṛtti*, Malhar Kulkarni and Eivind Kahrs, Nayoga Studies in Indian Culture and Buddhism : Sambhasha, 32 1-13, 2015-03-31, 2015.

19. *Sanskrit grammatical schools: A first overview*, Émilie Aussant, Śabdānugamaḥ, Indian Linguistic studies in honor of George Cardona, vol. I, Vyākaraṇa and śābdabodha, (ed.) Peter M. Scharf. The Sanskrit Library, Providence, RI, USA. pp. 467—480, 2021

20. *Śākaṭāyana vyākaraṇa*, Shambhunath Tripathi (edi.), Bharatiya Jnanapitha Prakashana, Varanasi, 1971

21. *Sūtra Paraphrases in the Cāndravyākaraṇavṛtti, the Kāśikāvṛtti, and the Mahāvṛtti: The Interpretation of Ablative Case in the Ātmanepada and Parasmaipada Sections*, Ben-Dor Sharon, Proceedings of the 17th World Sanskrit Conference, Vancouver, Canada, July 9-13 2018, Section 3: Vyākaraṇa. edi.: Malhar Kulkarni and Peter Scharf, 2019

22. *The Cāndravyākaraṇa: Some questions*, Johannes Bronkhorst, Indian linguistic studies: festschrift in honour of George Cardona, (ed.) Madhav M. Deshpande and Peter E. Hook. Delhi: Motilal Banarsidass. pp. 182–201, 2002

23. *The influence of Cāndra and Kātantra on Kāśikāvṛtti*, P. Vishalakshi, Hoshiarpur: Vishvabandhu Institute of Sanskrit, Indological Journal, Punjab University. vol. 19. pp. 45-49, 1981.

24. *The Kātantra with the commentary of Durgasimha edited with notes and indexes. Fasciculi I—II*, Julius Eggeling, Bibliotheca Indica: A collection of oriental works, Series no. 297—298, Stephen Austin and Sons, Calcutta, 1874

25. *The Mahābhāṣya and the Kāśikāvṛtti: A case study*, Saroja Bhate, Studies in the Kāśikāvṛtti. The Section on Pratyāhāras, Critical Edition, Translation and Other Contributions. (ed.) Pascale Haag and Vincenzo Vergiani, Anthem Press, London, pp. 141-152, 2011

26. *The Padamañjarī by Haradatta Miśra: a commentary on the Kāśikā of Vāmana and Jayāditya*, Sriramacandrudu Pullela and Vithaladevuni Sundarasharman, (eds.), 2 vols. Sanskrit Academy Series 25, 26, Sanskrit Academy, Osmania University, Hyderabad, 1981

27. *The Vyākaraṇamahābhāṣya of Patañjali*, Lorenz Franz Kielhorn (ed.) First edition; Vol. 1 second edition revised. 3 vols, Government Central Book Depot, Bombay, 1883–1892.

28. *Zum sūtrapāṭha des Cāndravyākaraṇa: Studien zum Cāndravyākaraṇa IV*, Thomas Oberlies, Jaina Itihāsa Ratna: Festschrift für .Gustav Roth zum 90. Geburtstag, ed. by Ute Hüsken, Petra Kieffer- Pülz, and Anne Peters, pp. 379–95. Indica et Tibetica 47, Indica et Tibetica Verlag, Marburg, 2006

# 'मक्किभट्टः' कश्चन अपूर्वः व्याख्याकारः

बालचन्द्रकृष्णभट्टः

सारांश

मक्किभट्टः चतुर्दशे शतके विद्यमानः कश्चन पण्डितप्रवरः। एषः नानाशास्त्रेषु पारङ्गतः आसीत्। अयं रघुवंशस्योपरि विवरणम्, सिद्धान्तशेखरस्योपरि गणितभूषणम्, बृहद्धास्करीयस्योपरि गणितविलासम् इति व्याख्यानत्रयं रचयामास। गणितविलासाभिधं व्याख्यानमेतावता नोपलब्धम्। मक्किभट्टकृतानि व्याख्यानान्यस्य विद्यावैशद्यं परिचाययन्ति। केषुचित् संशोधकेषु हेमाद्रिरेव मक्किभट्टः इति सम्भ्रमोऽपि दृश्यते। परं तु अनयोः व्याख्यानाध्ययनेन उभावपि पृथग्भूतावित्यपि मनीषायां निश्चितिः दृढीभवति।

(कूटशब्दाः – गणितभूषणम्, मक्किभट्टः, हेमाद्रिः, सिद्धान्तशेखरः, गणितविलासः)

.....

विभाति संस्कृतसाहित्यप्रपञ्चे व्याख्याकाराणां मूलकृतामिव महोन्नतं स्थानम्। मूलग्रन्थस्य अर्थगाम्भीर्यं स्वारस्यादिकं च सम्यगवगन्तुं व्रततेरुपघ्नतरुरिवोपकुरुते व्याख्यानम्। व्याख्यानसाहित्येषु सूक्ष्मेक्षिका यदि प्रसार्यते तर्हि तस्य नानाप्रकारत्वं स्फुटतयावभासते। किञ्चन केवलं मूलमनुवदति, अन्यं मूलं वैशद्येन निरूपयति, अपरं मूलस्याभिप्रायं सविस्तरं निरूपणेन सह क्वचित्तत्सम्बद्धमन्यं विषयमपि बोधयति, इतरं मूलस्यार्थविस्तृतेस्सह स्वाभिप्रायप्रकटनमपि करोतीत्येवं व्याख्याकाराणां नानात्वमिव व्याख्यानस्यापि नानारूपत्वं द्रष्टुं विलोक्यते। अत एव कदाचिन्मूलकृतामप्यधिकप्रसिद्धिं वहन्ति व्याख्याकारा इत्येतन्नातिशयोक्तिः।

आदिकविना महर्षिवाल्मीकिना विरचितं श्रीमद्रामायणमुपजीव्य विरचितेषु संस्कृतकाव्येषु कालिदासविरचितं रघुवंशम् इतरापेक्षया सर्वोपरि मुकुटमणिवद्राजते। कालिदासस्य सप्तसु काव्यरत्नेषु अन्यतममिदं रघुवंशम्। काव्यमिदं सूर्यवंशस्य राज्ञां चरित्रं वर्णयति। दिलीपादारभ्य अग्निवर्णपर्यन्तं रघुकुलस्य राज्ञां कथात्र न्यरूपि कविकुलतिलकेन। इदं काव्यं सर्वगुणभूयिष्ठं सत् रसिकानां मुहुर्मुहुः पठनास्वादनविषयं सञ्जातमित्येतद्दिनमणिप्रभेव स्फुटम्। प्रतिपदरसस्यन्दिनः काव्यस्यास्य गुणप्रकर्षादेव अहमहमिकया अस्मिन् व्याख्यानिरूपणरुचिं प्राचीकटन्ननेके विपश्चिदपश्चिमाः सूरयः। अतः अद्यावधि प्रायः उपचत्वारिंशत्सङ्ख्याकाः व्याख्याः अस्योपरि विरचिताः संशोधकैः नामाङ्किताः इति शृणुमः। तत्र वल्लभदेवस्य पञ्जिकाव्याख्या, हेमाद्रेः दर्पणव्याख्या, मल्लिनाथस्य सञ्जीवनीव्याख्या, चारित्रवर्धनस्य शिशुहितैषिणीव्याख्या, दिनकरस्य सुबोधिनीव्याख्या, अरुणगिरिनाथस्य रघुवंशप्रकाशिकाव्याख्या इत्याद्याः प्रमुखा लोके विश्रुता विद्यन्ते। तत्रापि पण्डितप्रवरस्य मल्लिनाथस्य सञ्जीवनीव्याख्या सर्वोपरि चकास्ति। एता अतिरिच्य काचिद्व्याख्येन्दिन्दिरा अगणितेवाथवा अतिविरलैरेव संशोधकपुष्पलावैः कटाक्षीकृता रघुवंशसुममरन्दं सहृदयलोकदिगन्तेषु गुञ्जन्ती विवरणाभिधाना विलसति। अस्या मनोहारिण्या व्याख्याया रचयिता वर्तते श्रीमान् मक्किभट्टः इति।

पण्डितप्रकाण्डोऽयं मक्किभट्टः महाकवेः कालिदासस्य रघुवंशस्योपरि रघुवंशविवरणमिति, ज्योतिश्शास्त्रस्य श्रीपतिभट्टविरचिते सिद्धान्तशेखरस्योपरि गणितभूषणमिति, अपि च आर्यभट्टस्य प्रधानशिष्येण भास्कराचार्येण लिखितस्य बृहद्भास्करस्योपरि गणितविलासनामकं व्याख्यानमिति[1] त्रयं व्याख्यानग्रन्थमलीलिखदिति ज्ञायते। एतेषु त्रिषु व्याख्यानेषु रघुवंशविवरणं गणितभूषणम् इति व्याख्यानद्वयं समुपलभ्यते। गणितविलासनामकं लिखितमासीदिति केवलं गणितभूषणव्याख्यायाम् उल्लेखो दृश्यते बहुत्र।[2] परन्तु तस्य हस्तप्रतिः एतावता नोपलब्धा। रघुवंशस्योपरि लिखितं व्यख्यानं मातृकायां समुपलभ्यते। तद्व्याख्यानं मक्किभट्टेन केवलं चतुर्दशसर्गपर्यन्तमेव लिखितमासीत्।

---

1 S.I.L.H. Volume. 1, page number- 412

2 सि. शे. ग्रन्थपरिचयभागः

पञ्चदशसर्गतः नवदशसर्गपर्यन्तं ज्ञानेन्द्रगिरिनाम्ना केनचिद्व्याख्यात्रा टीका विलिख्य तद्व्याख्यानं सम्पूरितम्।[3] एतज्ज्ञानेन्द्रगिरेः नवदशसर्गस्य व्याख्यानान्ते द्रष्टुं शक्यते। यथा –

'मक्किभट्टैः कृतव्याख्या नीलमन्दिरसम्भवैः
आचतुर्दशसर्गान्ता रघुवंशप्रदीपिकाः।
आपञ्चदशसर्गात्तु ज्ञानेन्द्रगिरिभिः परं
पूरिता रघुवंशस्य व्याख्या कृतिपदं स्फुटा॥
ओं नमो वासुपूज्याय नमः।
श्री मङ्गलमस्तु श्रोतृव्याख्यातृणामिति सर्वं भद्रम्।'[4]

इति ज्ञानेन्द्रगिरीणां रघुवंशस्य नवदशसर्गस्य व्याख्यानस्यान्तिमे भागे मातृकासु उपलभ्यते। अनेन स ज्ञानेन्द्रगिरिः आत्मीयां व्याख्यां मक्किभट्टस्य व्याख्यायाः पूरयित्रीं ब्रूत इति स्पष्टं भवति।

बृहद्भास्करस्योपरि मक्किभट्टेन लिखितं गणितभूषणं नामकं व्याख्यानं प्रथमाध्यायतः चतुर्थाध्यायस्य पञ्चसप्ततितम(७५)श्लोकपर्यन्तमेवोपलभ्यते।[5] गणितविलासाभिधानं नाम्नैव जीवितं विद्यते। नैतावता मातृकारूपेण क्वापि दृग्गोचरीभूतम्।

एतादृशः मक्किभट्टः कस्मिन् देशे लब्धजन्मा? कः कालोऽस्य? जीवितस्यास्य अवधिः कियान्? पितरौ गुरवश्च के? विद्योपलब्धिः कीदृशी? इत्येवं क्षणे क्षणे शेमुषीतरङ्गिण्यां समुत्पद्यमानानेकानुयोगतरङ्गाणां समेषां समाधानसार्थक्यं नोपलभ्यते। तथापि भागधेयवशाल्लब्धे अनेन विरचितव्याख्याने केचन अंशाः स्पष्टा भासन्ते अन्ये केचन अनुमन्तव्याः।

## मक्किभट्टस्य देशः

अस्य मक्किभट्टस्य व्याख्यानामालोडनेन एषः दक्षिणदेशीयः तत्रापि केरलदेशस्थः आसीदिति अनुमातुं शक्यते।

- रघुवंशस्य चतुर्थे सर्गे रघोः दिग्विजयावसरे केरलदेशदिग्विजयवर्णनसमये केरलदेशस्त्रीणामलकवर्णनं तथा मुरलानदीकूले प्रवृद्धकेतकीपुष्परजसां वर्णनं दृश्यते। तत्र एषः स्वव्याख्याने श्लोकार्थं पुष्णातुं केरलदेशगतनदीतीरस्य वैशिष्ट्यं वक्ति। केरलेषु नदीतीरे प्राचुर्येण केतकवनानि दृश्यन्ते इति। यथा – 'केरलदेशे नदीतीरे केतकवनप्राचुर्येण तद्रजोबाहुल्यात् कञ्चुकव्याप्त्या च मारुतानुकूल्येन देवत्वं रघोर्द्योतितम्'[6] इति। अतः एषः केरलदेशसमुत्पन्नः स्यादिति अनुमातुं शक्नुमः।
- सिद्धान्तशेखरस्योपरि लिखिते गणितभूषणव्याख्याने अनेन प्रायः सर्वत्रापि संख्यापाठस्थले केरलोक्तरीत्या अक्षरद्वारा प्रास्ताविकैर्वचनैः संख्याः पठिताः सन्ति।[7] एदत्तद्व्याख्यानसंपादकैः कृष्णमिश्रैः (बाबुजि मिश्रः) ग्रन्थपरिचयभूमिकायामपि कटाक्षीकृतमस्ति।
- अपि चास्य रघुवंशव्याख्यानस्य विवरणाभिधानस्य मातृकाः सर्वाधिक्येन दक्षिणभारते एव लभ्यन्ते। केरलस्य त्रिपुणितुरस्थे सर्वकारीय संस्कृतमहाविद्यालयस्य ग्रन्थालये तिस्रः

3 N.C.C. Volume -18, page number- 08
4 C.S.M.L.I.O. Volume 2, part – 2, page no - 1062
5 सि. शे. ग्रन्थपरिचयभागः
6 रघुवंशविवरणव्याख्या, (S.N. 3766), GOML, Madras
7 सि. शे. ग्रन्थपरिचयभागः

मातृकाः मलयाललिप्याम्, GOML मद्रासमध्ये एका मातृका देवनागर्यां तथा धर्मस्थलस्थे श्रीमञ्जुनाथेश्वर-पाण्डुलिपिग्रन्थालये मातृकाद्वयं तिगलारिलिप्यां च एतावता लब्धमस्ति। एका प्रतिः British library, (India Office Library) London मध्ये अपि वर्तते। एवमाहत्य आधिकाः मातृकाः दक्षिणदेशेष्वेव उपलब्धाः इत्येतदपि अस्य देशः दाक्षिणात्यः इति विनिर्णेतुं अस्मान् पुष्णाति।

## मक्किभट्टस्य कालः

मक्किभट्टः चतुर्दशशतके (1377 A.D.) आसीदिति विदुषा कृष्णमिश्रेण सप्रमाणं निरूपितम्। इदं च सिद्धान्तशेखराख्यग्रन्थस्योपरि मक्किभट्टेन लिखिते गणितभूषणव्याख्याने तेन दत्तेन केनचिदुदाहरणेन निरूपितं वर्तते। मक्किभट्टस्य गणितभूषणव्याख्यया सह सिद्धान्तशेखरं सम्पाद्य एषः कृष्णमिश्रः तद्ग्रन्थस्य ग्रन्थपरिचयभूमिकायाम् एवं उल्लिखति –

'अयं (मक्किभट्टः) चैकोनत्रयोदशशत १२९९ शकाब्दे गणितभूषणाख्यां सिद्धान्तशेखरव्याख्यामकरोदिति तदुदाहरणेन ज्ञायते।'[8] इति।

ततः परं तत्रैव पादटिप्पण्यां मक्किभट्टेन दत्तमुदाहरणमपि प्रदर्शितम्। यथा – "हंसीभवेति = ४४७८= कल्पाप्दाः। सम्राट्क्षेमोऽङ्गतुष्ट इति = १६३५६२७ अहर्गणश्च। एषोऽस्माभिर्ग्रन्थव्याख्यानावसरे आनीतो द्युगणः। यद्यप्यत्रोदाहरणे आदर्शपुस्तकेऽङ्का अङ्किता न सन्ति परमेतावन्त एवाङ्काः सर्वत्रवत् केरलोक्तरीत्या भवन्तीति।"[9]

मक्किभट्टस्य पितरौ कौ नाम च तयोः किमिति कुत्रापि तेन नोल्लिखितमित्यतः तद्विषये विदुषां मौनमेव उत्तरम्। किन्त्वस्य गुरोः विषये स्वीये उभयेऽपि व्याख्याने आरम्भभागे एव एवं निगदति –

तीर्णो वेदमहार्णवस्तिलकितं वेदान्तिनां दर्शनं
पीतं व्याकरणामृतं विघटितं तज्जैमिनीयं मतम्।
क्षुण्णो न्यायमहाचलो विमृदितो बाह्यागमः सादरं
येनासौ भुवने चकास्ति यतिराट् श्रीव्यासगिर्याह्वयः॥[10]

मक्किभट्टस्य गुरुः श्रीव्यासगिरिर्नाम कश्चन यतिवरेण्यः आसीदिति ज्ञायते। अन्यत्र क्वचित् भूव्यासगिरिः श्रीव्यासधीरः[11] इति नाम्नि व्यत्यस्तता दृश्यते। यश्च सर्ववेदपारङ्गतः, सर्वविधवेदान्तशास्त्रे शिरोमणिः, व्याकरणशास्त्रस्य आमूलाग्राध्येता, जैमिनीयमतमिति विश्रुतायां मीमांसायां आमूलचूलवेत्ता, न्यायवैशेषिकशास्त्रे तत्त्वज्ञः, आगमकोविदश्च भूत्वा लोके प्रथितः आसीदिति अस्य वचनेन स्पष्टो भवति।

गुरोः स्तुतेरनन्तरं तत्रैव अग्रे आत्मानमेवं परिचाययति –

वेदव्याकरणाश्रयः सुकवितावेदान्ततर्कस्मृति-
च्छन्दोऽलङ्कृतिकाव्यनाटकपुराणाम्नायवारान्निधिः।
ज्योतिश्शास्त्रसुमन्त्रनीतिनिपुणो योगागमे निष्ठितो

8 सि. शे. ग्रन्थपरिचयभागः

9 सि. शे. ग्रन्थपरिचयभागः

10 रघुवंशविवरणव्याख्यायाः पाण्डुपत्रम्,(S.N. 369) धर्मस्थलम्, कर्णाटकम्

11 सि. शे. मक्किभट्टव्याख्योपेतः, page no 01

मक्क्याख्यो विवृणोति भट्ट ऋतवाक् रघ्वाख्यवंशं कृती[12]/सिद्धान्तसच्छेखरम् ॥[13]

इति तद्ववचनेन अयं गुरुवदेव महाप्राज्ञः आसीदिति ज्ञायते। वेदे व्याकरणे काव्यकलायां वेदान्तशास्त्रे तर्कशास्त्रे धर्मशास्त्रे छन्दश्शास्त्रे काव्यमीमांसायां पुराणे ज्योतिश्शास्त्रे नीतिशास्त्रे योगशास्त्रे च पारावारपारीणः आसीदिति स्वविद्याविस्तारं निरूपयति। रघुवंशसिद्धान्तशेखरयोः व्याख्यानावलोकनेनापि अस्य विद्वत्ता स्वात्मपरिचयः च अवितथमिति स्फुटं प्रतिभाति।

## मक्किभट्टस्य हेमाद्रितो भेदः

रघुवंशस्योपरि यथा मक्किभट्टः विवरणाभिधं व्याख्यानं व्यरचि तद्वदेव हेमाद्रिनामा सूरिप्रवरः दर्पणं नामकं व्याख्यानम् अररचत्। किन्तु अनयोः अभेदख्यातिः बहुषु पाण्डुलिपिषु वर्तमानं विदुषां भ्रमस्य मूलस्रोतो वर्तते। अस्य मूलं कारणं त्रिधा विभक्तुं शक्या।

- **हेमाद्रिमक्किभट्टयोः टीकायाः नाम्नि समानता।** - यद्यपि मक्किभट्टस्य रघुवंशव्याख्या रघुवंशविवरणमिति प्रथिता। तथापि अस्याः व्याख्यायाः नामान्तरमपि पाण्डुलिपिषु द्रष्टुं शक्यते। क्वचित् अस्य व्यख्यानस्य रघुवंशदर्पणमिति, रघुवंशप्रदीपिकेति च पुष्पिकासु दृश्यते। यथा – "इति श्रीमक्किभट्टविरचिते रघुवंशदर्पणे द्वितीयः सर्गः"।

  अयमपि सम्भ्रमस्य कारणं यत् व्याख्याननाम्नि साम्यत्वात् तत्कर्तर्यपि अभेदः प्रायः तत्समये भ्रमेण लिपिकारैः कृतः स्यात्।

- **उभयोरपि व्याख्ययोः व्यामिश्रेण लेखनम्**[14] - एकस्यामेव मातृकायां हेमाद्रिमक्किभट्टयोः व्यख्यानं व्यामिश्रितं दृश्यते क्वचित् पाण्डुलिपिषु। केरलस्य त्रिपुणितुरस्थे सर्वकारीयसंस्कृतमहाविद्यालये विद्यमाने पाण्डुलिपिद्वये इदं व्यामिश्रणं दृष्टमस्ति। तत्र विद्यमाने मातृकाद्वये आदिमसर्गचतुष्टयं यावत् मक्किभट्टस्य विवरणव्याख्यानं ततः परम् अर्थात् पञ्चमसर्गतः नवदशसर्गपर्यन्तं हेमाद्रेः दर्पणव्याख्यानं दृश्यते। त्रिपुणितुरस्थमातृकायाः प्रतिलिपिरूपत्वेन स्फुटं प्रतिभासमानायां मद्रासनगरस्थे सर्वकारीयप्राच्यपाण्डुलिपिसङ्ग्रहालये (GOML) विद्यमानायां मातृकायामपि एतादृशमेव व्यामिश्रणं रघुवंशविवरणदर्पणयोः प्रतिभासते।

- **पुष्पिकायां उभयोः एकत्वेन ख्यापनम्** - हेमाद्रिमक्किभट्टयोः एकत्वेन अवगमने इदमपि प्रधानं कारणं स्यादिति अनुमीयते। यतो हि अत्र दर्पणव्याख्यायाः पुष्पिकान्ते मक्किभट्टस्योल्लेखः दृश्यते रचयितृत्वेन। उदाहरणार्थम् –

  - इति श्रीमदीश्वरसूनुमक्किभट्टविरचितायां रघुवंशदीपिकायां एकादशः सर्गः
  - इति श्रीमक्किभट्टविरचिते रघुवंशदर्पणे रावणवधो नाम द्वादशः सर्गः

  अत्र एकादशसर्गस्य पुष्पिकायां तु ईश्वरसूनुत्वेन मक्किभट्टः निरूपितः। वस्तुतः ईश्वरसूनुरस्ति हेमाद्रिः। मक्किभट्टः कुत्रापि स्वपितरं पुष्पिकासु न स्मरति।

  अपि च क्वचित्सूचीपत्रेष्वपि उभयोर्नाम एकत्वेन दर्शितम्। अर्थात् मक्किभट्टस्य व्याख्या हेमाद्रिव्याख्यात्वेनैव परिगणिता वर्तते। तथा च IIT मद्रास् तः प्रकाशिते NCC (New

12 रघुवंशविवरणव्याख्यायाः हस्तप्रतिः, (S.N. 1012) त्रिपुणितुरम्, केरलम्

13 गणितभूषणव्याख्या, सि. शे.

14 र. द.भूमिकाभागः, Page number. 48 – रेवाप्रसादद्विवेदिभिः सम्पादितम्

Catalogus of Catalogorum) सूचीपुस्तके अपि मक्किभट्टस्य पर्यायनामत्वेन हेमाद्रिः प्रदर्शितः। यद्यपि एतैः एवं निर्णयस्वीकारे प्रायः उपर्युक्तस्य केरलीयग्रन्थालयस्य सूचीपत्रम् एव आलम्बनं स्यात्।

तदेवं हेमाद्रिमक्किभट्टयोः अभेदख्यापने एतानि कारणानि स्युरिति सप्रमाणं यथामति निरूपितम्।

किन्तु उभावपि भिन्नौ इति इतरप्रदेशेषु विद्यमानायाः रघुवंशस्य हेमाद्रिव्याख्यायाः परिशीललनेन, तथा च भाग्यवशात् कर्नाटकस्य धर्मस्थले उपलब्धे त्रयोदशसर्गात्मकस्य मक्कि-भट्टस्य रघुवंशव्याख्यानस्य परिशीलनेन च उभे अपि व्याख्याने सम्पूर्णतः भिन्ने, तद्वदेव उभावपि हेमाद्रिमक्किभट्टौ भिन्नौ इति स्फुटं प्रतीयते संशोधकानाम्। अपि च एतावता हेमाद्रेः रघुवंशदर्पणस्य प्रथमसर्गस्य व्याख्या कुत्रापि नोपलब्धा।[15] द्वितीयसर्गतः नवदशसर्गपर्यन्तं व्याख्यानमिदं समुपलभ्यते। इदं व्याख्यानं पण्डितप्रवरैः रेवाप्रसादद्विवेदिवर्यैः सम्पाद्य प्रकाशितं वर्तते। तस्मिन् सम्पादनग्रन्थेऽपि तैः हेमाद्रिमक्किभट्टयोः पार्थक्यं सप्रमाणं सविस्तरं निरूपितं न तिरोहितं प्रेक्षावताम्।

## मक्किभट्टस्य व्याख्यानस्य वैशिष्ट्यम्

- रघुवंशविवरणम् - मक्किभट्टः नानाशास्त्रविद्यावारिधिरासीदिति अस्य व्याख्यानपरिशीलनम् अस्मान् बोधयति। रघुवंशस्य व्याख्यानावसरे अमरहलायुधविश्वप्रकाशादिकोशान् उद्धरति। धर्मशास्त्रविचारेषु स्वव्याख्यानं पुष्णातुं कामन्दकचणकशुक्रादीनां नीतिवाक्यानि उद्दङ्कयति। अनेकपुराणवचनानि, महाकाव्यानां पद्यानि च प्रासङ्गिकरूपेण उदाहरति। व्याकरणन्यायशास्त्राणां सूक्ष्मांशान् काले निरूपयति। तदेवं सर्वशास्त्रपरिज्ञानं व्याख्याया अस्या रचनावसरे पूर्णतया समुपयुज्य प्रामाणिकं सहृदयोद्बोधनपरं रुचिरं रघुवंशविवरणाभिधानं व्याचख्यौ।

  वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
  जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥[16]

  रघुवंशस्य मङ्गलश्लोकस्यास्य व्याख्यानावसरे काचिन्नूतनदृष्टिरपि अनेन प्रसारिता विद्वद्भिः गोष्ठीषु तत्र तत्र स्मर्यते। वागर्थरूपयोः पार्वतीपरमेश्वरयोः नमस्काररूपमिदं मङ्गलपद्यं सुष्ठु व्याख्याय, अनुबन्धचतुष्टयादिकं सम्यङ्निरूप्य अग्रे पार्वतीपरमेश्वरशब्दं शब्दच्छलेन अन्यथापि व्याख्यातुमुद्युक्तस्सन् वदति – "॥ पार्वतीं पातीति पार्वतीपः महादेवः रमाया ईश्वरः रमेश्वरः हरिः दक्षिणामूर्तिहयग्रीवावित्यर्थः। तयोरपि वागर्थप्रतिपत्तिहेतुत्वात्सम्बन्धस्य नित्यत्वं नाभिप्रेतं इत्याद्य एवार्थः कवेरभिप्रेतः।"[17] इति।

  तदेवं वागर्थयोरधिदैवतरूपेण महद्भिः पूज्यमानयोः दक्षिणामूर्तिहयग्रीवयोरपि प्रतीतिरत्र भवतीति पार्वतीपरमेश्वरौ इति पदविग्रहमन्यथा प्रदर्श्य निरूपितवान्। अग्रे अर्थोऽयं कवेः नाभिप्रेतमित्यपि साकूतं व्यक्तीकृत्य तत्र उमाशङ्करूपार्थः एव ग्राह्य इत्यपि उदबोधयत्।

---

15 र. द. भूमिकाभागः – रेवाप्रसादद्विवेदिभिः सम्पादितम्

16 रघु॰ १.१

17 रघुवंशविवरणस्य हस्तप्रतिः, (S.N.3766) GOML, Madras

इदमेकमुदाहरणं दिग्दर्शनायात्र आवेदितम्। एतादृशमनेकं वैशिष्ट्यं व्याख्यानस्यास्य प्रतिपदमवलोकयितुं लभ्यते। अतः व्याख्यानमिदं पठितॄणां नवमधुरग्रासवन्मोदप्रदमित्यत्र नास्ति संशयः।

- सिद्धान्तशेखरस्य गणितभूषणम् - तथैव सङ्ख्यावता श्रीमतानेन मक्किभट्टेन गणितभूषणमिति व्याख्यानं ज्योतिश्शास्त्रस्य सिद्धान्तग्रन्थत्वेन प्रख्यातस्य सिद्धान्तशेखरस्योपरि विरचितम्। इदमपि व्याख्यानमपूर्णमेवोपलभ्यते। अत्र अनेन मण्डिताः अनेके विचाराः ज्योतिर्विच्चक्रं चुम्बकवदाकृष्टं वर्तते।

  भ्रममोष्णकरमण्डलान्तरं सावनानि कुदिनानि तानि वा। चन्द्रमासनिचयो दिनीकृतः सावनैर्विरहितोऽवमानि वा॥[18]

  इत्यमुं श्लोकं सावनदिननिरूपणावसरे श्रीपतिना सिद्धान्तशेखरे निरूपितम्। इदं च साधनाध्यायस्य एकोनचत्वारिंशत्तमं श्लोकं वर्तते। अस्य श्लोकस्य व्याख्यानकाले मक्किभट्टः एवं वक्ति – " भूमिः प्राङ्मुखी भ्रमति सा यावत्तावतो वारान् क्षितिजे रविणा सह सम्बध्यते तावन्ति सावनदिनानि भूदिनानीत्युच्यन्ते"[19] इति। मक्किभट्टस्य पङ्क्तिरियम् अनेकेषां ज्योतिस्सङ्ख्यावतां भ्रूविभ्रमकारणं समजायत। यतो हि अत्र व्याख्याकारः भ्रूमेः परिभ्रमणं निरूपयन् सावनदिनमानं वदन्नस्ति। यद्यपि भूभ्रमणं आर्यभट एव ऐदंप्राथम्येन निरूपितवान्। तमतिरिच्य पृथूदकस्वाम्युदयदिवाकरावपि भूभ्रमणविषये आर्यभटमनुमोदितवन्तौ।[20]

  आर्यभटः स्वीये आर्यभटीये 'प्राणेनेति कलां भूः'[21] इति वदन् एकस्मिन् प्राणकाले भूमिः एकां कलां भ्रमतीति प्रथमाध्याये वदति। परन्तु तत्पश्चादागताः ज्योतिर्विदः मतमिदं तीव्रतया अखण्डयन्। यद्यपि आर्यभटं बहुमन्यमानः भास्कराचार्योऽपि भूभ्रमणं न मन्यते। भास्करमिहिरब्रह्मगुप्तलल्लादिभिः ज्योतिर्विद्भिः आर्यभटस्य भूभ्रमणसिद्धान्तः अनादृतः खण्डितश्च। तमिमम् आर्यभटानुमोदितं भूभ्रमणसिद्धान्तं सिद्धान्तशेखरस्य व्याख्याने मक्किभट्टः अन्वमोदयत्। श्रीपतिरेव भूभ्रमणं सिद्धान्तशेखरे खण्डयति[22] परमस्य व्याख्याकारः श्लोकस्यास्य निरूपणावसरे भूभ्रमणं निरूपयतीति विदुषामाश्चर्यास्पदं समपद्यत। मक्किभट्टः भूभ्रमणविचारं कथं स्थापयतीति विज्ञातुम् अग्रिमा पूर्णा व्याख्या अस्य नोपलब्धा। अतः अन्ये विचाराः अस्य न स्पष्टतया अवगम्यन्ते।

तदेवं मक्किभट्टः कश्चन विरलो विलक्षणो व्याख्याकार इत्यत्र नास्ति संशयः। अस्य विषये इतोऽपि गभीरशोधस्यापेक्षा वर्तते।

## सङ्केताक्षरसूची

1. आर्य०- आर्यभटीयम्
2. रघु० – रघुवंशम्

---

18 सि. शे. १.३९

19 सि. शे. गणितभूषणव्याख्या, पत्रसंख्या -२५

20 आर्यभटीय - गणित एवं खगोल की विवादित किताब by- Gunakar Mule, Sandarbha Magazine(Nov-Dec-2007)

21 आर्य० श्लोकसंख्या ०४

22 सि.शे. गोलाध्यायः श्लोकसंख्या १५-१७

3. र. द. – रघुवंशदर्पणम्
4. सि. शे. – सिद्धान्तशेखरः
5. C.S.M.L.I.O – Catalogue of the Sanskrit Manuscripts in the Library of the India Office
6. N.C.C. – New Catalogue of Catalogorum
7. S.L.I.H. - Studies in Indian Literary History

## सन्दर्भग्रन्थसूची


1. आर्यभटः, आर्यभटीयम्, ब्रह्म प्रेस, एतुवा, 1906
2. कालिदासः, रघुवंशम्, मुम्बईवैभवप्रकाशनम्, मुम्बापुरी, 1922
3. डा. रेवाप्रसादद्विवेदी, रघुवंशदर्पणम्, काशीप्रसादजैसवालः, अनुशीलनसंस्थाननिदेशकः, 1973
4. ब्रह्मगुप्तः, ब्रह्मस्फुटसिद्धान्तः, Indian Institute of Astronomical and Sanskrit Research, New Delhi, 1966
5. बाबुजी मिश्रः (श्रीकृष्णमिश्रः), मिथिला सिद्धान्तशेखरः कलकत्ता विश्वविद्यालयप्रकाशनम्, 1932
6. भट्टोजी दीक्षितः, वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी, ईश्वर चन्द्र (सम्पा.), चौखम्बा प्रतिष्ठानम्, वाराणसी, 2010
7. *Catalogue of the Sanskrit Manuscripts in the Library of the India Office*, Volume 2, Julius Eggeling, London, 1887
8. *History of Classical Sanskrit Literature*, M. Krishnamachariar, TTD Press, Madras, 1937
9. *New Catalogus Catalogorum*, University of Madras, Madras, 1937
10. *Studies in Indian Literary History*, Volume -1, P.K. Gode, Singhi Jain Sastra Sikshapith, Bharatiya Vidya Bhavan, Bombay, 1953


❀❀❀

# Reflections of Abhinavagupta on Aesthetic Experience

Hari Ram Mishra

Abstract

*In Indian perspective as soon as one thinks about 'aesthetics' the mind directly goes towards the concept of rasa. Even for those who have no knowledge of complexities of this theory; from poetry to music and to dance, everything is considered to be enjoyable only when it consists of rasa. Thus, the experience of rasa automatically becomes aesthetic experience. The question arises 'Does this rasa limited only to the theatre and the poetic compositions or could it also have the other connotations? Prof. Vidya Niwas Mishra has talked about rasa since Vedic times. He traces its root in the Vāk sūkta of Ṛgveda. Vāk is the creative energy and the driving force of all creation. It is the first vibration immediately preceding the movement of creation. It is the first act of speech articulation and it is preceded by a long process of meditation so that the speech is pure and well meaning. This Vāk is the source of all poetic creation. Thus, a good poetic composition is influenced with all its qualities and lays the foundation of rasa theory. In this paper we will experience a new dimension of reality.*

*(Keywords - rasa, abhinavagupta, aesthetic, rājaśekhara, theater)*

.....

In Indian literary criticism, the discussion on aesthetic experience starts as early in the first systematized text available in this field. Bharatamuni in his *Nāṭyaśāstra*, mentions a famous dictum in which he clarifies the meaning of rasa.

na hi rasādṛte kaścidarthaḥ pravartate.
tatra vibhāvānubhāvavyabhicārisaṁyogādrasaniṣpattiḥ..

There is no meaning *(artha)* that proceeds without rasa, and what is this *rasa*? He says: *vibhāva* (determinant), *anubhāva* (consequent), and *vyabhicāribhāva* (transitory feelings) makes the completion of *rasa.*

But, Bharatamuni does not explain the meanings of the term *saṁyoga* and *niṣpatti* which creates a great problem among later theorists.

There are some basic issues concerning Bharatamuni's *rasa* theory, which paves the way for subsequent theorists to elaborate their own theories. Those issues are as follows:

1. The rasa we experience, where or in what way it exists? What is its substratum?

2. What is nature of this *rasa*? Does it contain uniqueness from other varieties of knowledge?
3. How do we come to know this *rasa*? What is the nature of aesthetic experience?

Before putting his own ingenious theory Abhinavagupta in his *Abhinavabhāratī*, cites the views of three early thinkers, namely, Bhaṭṭa Lollaṭa, Bhaṭṭa Śaṅkuka, and Bhaṭṭa Nāyaka. All these views have a particular philosophical background. It is desirable to look upon these three views which prepare a solid background for Abhinavagupta.

Quoting the view of Bhaṭṭa Lollaṭa, Abhinavagupta says:

*vibhāvādibhiḥ saṁyogo'rthāt sthāyinstato rasaniṣpattiḥ. tatra vibhāvaścittavṛtteḥ sthāyyātmikāyā utpattau kāraṇam. anubhāvāśca na rasajanyā atra vivakṣitāḥ. teṣāṁ rasakāraṇatvena gaṇanānarhatvāt. api tu bhāvānāmeva. ye'nubhāvāḥ vyabhicāriṇaśca cittavṛttyātmakatvāt yadyapi na sahabhāvinaḥ sthāyinā tathāpi vāsanātmaneha tasya vivakṣitāḥ. dṛṣṭānte'pi vyañjanādimadhye kasyacidvāsanātmakatā sthāyivat. anyasyodbhūtatā vyabhicārivat. tena sthāyyeva vibhāvānubhāvādibhirupacito rasaḥ. sthāyī bhavatvanupacitaḥ. sa cobhayorapi. mukhyayā vṛttyā rāmādau anukārye'nukartaryapi cānusandhānabalāt iti.* (Abhinavabhāratī, vol-1, p-272)

Bhaṭṭa Lollaṭa has the opinion that, "Combination of *vibhāvas*, *anubhāvas* and *vyabhicāribhāvas* with *sthāyibhāva* gives birth to *rasa.* He further analyse the combination of each constituents with *sthāyibhāva.* He mentions that among the multiplicity of *vibhāva, anubhāva,* and *vyabhicāribhāvas, vibhāvas* are the cause of the birth of the permanent emotions; the *anubhāvas* are not the cause of *rasa*, but only they make *sthāyī* observable; *vyabhicāribhāvas* remains in a state of latent impression, nourish that *sthāyī*. Hence, *rasa* is a permanent state *(sthāyibhāva)* intensified by *vibhāva*s, *anubhāva*s and *vyabhicāribhāva*s.

And where this *rasa* exists? Answering this question he says that, *mukhyayā vṛttyā rāmādau anukārye'nukartaryapi cānusandhānabalāt iti.*

This *rasa* is cognized primarily in *anukārya* (Rāma etc.), and in *anukartā* (actor) also by virtue of his power of realization *[anusaṁdhāna]* in a secondary sense.

Abhinavagupta mentions eight objections in this theory put up by Bhaṭṭa Śaṅkuka. Citing Śaṅkuka's view on *rasa*, he says:

*tasmādhetubhirvibhāvākhyaiḥ kāryaiścānubhāvātmabhiḥ sahacāriruapaiśca vyabhicāribhiḥ prayatnārjitatayā kṛtrimairapi tathānabhimanyamānairanukartṛsthatvena liṅgabalataḥ pratīyamānaḥ sthāyī bhāvo mukhyarāmādigatasthāyyanukaraṇarūpaḥ. anukaraṇarūpatvādeva ca nāmāntareṇa vya-*

*padiṣṭo rasaḥ.*

*vibhāvā hi kāvyabalānusandheyāḥ. anubhāvāḥ śikṣātaḥ. vyabhicāriṇaḥ kṛtrimanijānubhāvārjanabalāt. sthāyī tu kāvyabalādapi nānusandheyaḥ. ratiḥ śoka' ityādayo hi śabdā ratyādikamabhidheyīkurvantyabhidhānatvena. na tu vācikābhinayarūpatayā'vagamayanti. na hi vāgeva vācikam. api tu tayā nirvṛttam. aṅgairivāṅgikam. tena -*

vivṛddhātmā'pyagādho'pi duranto'pi mahānapi.
bāḍaveneva jaladhiḥ śokaḥ krodhena pīyate..
śokena kṛtaḥ stambhaḥ tathā sthito yo'navasthitākrandaiḥ.
hṛdayasphuṭanabhayārtairarditumabhyarthyate sacivaiḥ..
bhāti patito likhantyaḥ tasyā bāṣpāmbuśīkarakaṇaughaḥ.
svedodgama iva karatalasaṁsparśādeṣa me vapuṣi..

*nāpyayameva rāma iti. na cāpyayaṁ na sukhīti. nāpi rāmaḥ syādvā na vāyamiti. na cāpi tatsadṛśa iti. kintu samyaṅmithyāsaṁsayasādṛśyapratītibhyo vilakṣaṇā citraturagādinyāyena yaḥ sukhī rāmaḥ asāvayamiti pratītirastīti. tadāha -*

pratibhāti na sandeho na tattvaṁ na viparyayaḥ.
dhīrasāvayamityasti nāsāvevāyamityapi..
viruddhabuddhisambhedādavivecitasaṁplavaḥ.
yuktyā paryanuyujyeta sphurannanubhavaḥ kayā..
(ABh., vol-1, p-272)

First of all, *Śaṅkuka* explained that this drama is quite different from four types of knowledge i.e. *samyak jñāna* (right knowledge/real knowledge), *mithyā jñāna* (wrong knowledge), *sādṛśya jñāna*, *saṁśaya* (doubt).

We do not perceive that 'this actor is Rāma' *(samyak pratīti)*, 'this actor is Rāma, but suppressed in the next moment by he is not Rama' *(mithyā pratīti)*, 'is this Rama or not' *(saṁśaya)*, 'this is similar to Rāma' *(sādṛśya)*. Then, in what way we perceive the actor?

Śaṅkuka says that, "there is neither real knowledge, nor false, nor similarity and no doubt." He says that we cannot place drama under these. Then, he proposes a theory which is known as *citraturaganyāya*. Similarly, in drama although the actor is not a real Rāma, nor similar to Rāma, nor a doubt arises, and no false knowledge; then with *citraturaganyāya* we perceive actor as Rāma. Now, in this form actor (grasped as Rāma) on stage comes in our perception. Actor is very accomplished in his training of drama. Now, through proper *vibhāvas, anubhāvas* and *vyabhicāribhāvas*, and with conscious effort by actor, the

*sthāyibhāva* [permanent emotion] transforms into *rasa.* Although these *vibhāvas* etc., are artificial and unreal *[kṛtrim]*, yet they are not realised as artificial due to extra-ordinary effort of actors. *Rasa* is simply a permanent emotion *[sthāyibhāva]* and more precisely the reproduction *[anukaraṇa]* of the permanent emotion of *anukārya* Rāma etc.

Although this rasa is not present in actor, yet through his skilled presentation it appears that *rasa* is present in actor *(naṭa).*

This is the achievement of Śaṅkuka that he accepts the location of *rasa* in actor not in the things reproduced (*anukārya*/Rāma etc.).

Śaṅkuka's view has been refuted by Abhinavagupta's teacher Bhaṭṭa Tauta. Abhinavagupta cites his teacher's view in his *Abhinavabhāratī*.

It was Bhaṭṭa Nāyaka discussed aesthetic experience keeping spectator in centre. First of all, Bhaṭṭa Nāyaka creates three alternatives regarding the experience of *rasa* as follows:

1. Whether this *rasa* is perceived *[pratīyate]* i.e. an object of normal perpetual experience.
2. Whether this *rasa* actually comes into being *[utpatti].*
3. Whether this *rasa* is manifested or suggested *[abhivyajyate].*

He criticises all the three alternatives. Quoting his view, Abhinavagupta mentions:

*bhattanāyakastvāha - raso na pratīyate. notpadyate. nābhivyajyate. svagatatvena hi pratītau karuṇe duḥkhitvaṁ syāt. na ca sā pratītiryuktā. sītāderavibhāvatvāt svakāntāsmṛtyasaṁvedanāt. devatādau sādhāraṇīkaraṇāyogyatvāt. samudralaṅghanāderasādhāraṇyāt. na ca tadvato rāmasya smṛtiḥ. anupalabdhatvāt. na ca śabdānumānādibhyaḥ tatpratītau lokasya sarasatā prayuktā pratyakṣādiva. nāyakayugalakāvabhāse hi pratyuta lajjājugupsāspṛhādisvocitacittavṛttyantarodayavyagratayākāśayānekarasatvamathāpi syāt. tanna pratītiranubhavasmṛtyādirūpā rasasya yuktā. utpattāvapi tulyametaddūṣaṇam. śaktirūpatvena pūrvaṁ sthitasya paścādabhivyaktau viṣayārjanatāratamyāpattiḥ. svagatatvaparagatatvādi ca pūrvadvikalpyam.*

*tasmātkāvye doṣābhāvaguṇālaṅkāramayatvalakṣaṇena nāṭye caturvidhabhinayarūpeṇa nibiḍanijamohasaṅkaṭakāriṇā vibhāvādisādhāraṇīkaraṇātmanā'bhidhāto dvitīyenāṁśena bhāvakatvavyāpāreṇa bhāvyamāno raso'nubhavasmṛtyādivilakṣaṇena rajastamo'nuvedhavaicitryabalāddrutivistāravikāsalakṣaṇena sattvodrekaprakāśānandamayanijasaṁvidviśrāntilakṣaṇena parabrahmāsvādasavidhena bhogena paraṁ bhujyata iti.* (ABh., vol-1, p-276.)

Nāyaka explains the process of *rasānubhuti* in the terms of *bhāvanā*. Nāyaka accepts three functions in poetry, namely, *abhidhā, bhāvakatva* and *bhojakatva*. Since poetry consists of these three functions, it differs from ordinary words.

Bhaṭṭa Nāyaka suggests that with the help of *bhāvakatva*, individual characteristics of Rāma and Sītā become de-individualized. It frees the object from all relations so universalizes. After that *bhojakatva* function acts through which two qualities of the reader/spectator, namely, *rajas* and *tamas* are suppressed and *sāttvika* qualities of the soul blossoms forth. Through this *bhojakatva, rasa* is enjoyed *[bhujyate]* with a kind of enjoyment *[bhoga]* which is different from memory or direct experience and by virtue of contact between *sattva, rajas,* and *tamas*, which takes the form of melting *[druti]*, expansion *[vistāra]*, and radiance *[vikāsa]*. It rests *[viśrānta]* in its own *saṁvit*, which due to predominance of *sattva*, is pervaded by *ānanda* and *prakāśa*. This *rasa* is similar to the taste *[āsvāda]* of that Supreme *Brahman [parabrahmāsvādasavidhena]*.

Bhaṭṭa Nāyaka failed to explain the essential nature of the subjective and the objective aspects of aesthetic experience. According to him, *sādhāraṇīkaraṇa* is an act which takes the knowledge of *vibhāva* etc to an uncertain level. In poetry *(kāvya)*, it is reached when there are no blemishes and it has *guṇa* and *alaṅkāra* and in theatre it is achieved with the four kinds of acting of the actor.

Abhinavagupta draws our attention on faults in Bhaṭṭa Nāyaka explanation. He counter-argues that realization of everything is the purpose in this world; that alone is named *bhoga/bhāvanā*. Without realization or knowledge no object of this world can be put to use for anyone. If *rasa* is not to be *'pratīta'* realized then how will it become a matter of *bhoga* also. Another fault in Bhaṭṭanāyaka's explanation is that if *rasa* is neither born *(utpanna)* nor realized *(abhivyakta)* then will it be considered *nitya* or *anitya*? Also if there are three powers of words, *abhidhā, bhāvakatva* and *bhojakatva*, then how will you explain the various stages of *rasa*, and their *sattva, rajas,* and *tamas* stages? Then it will become manifold.

*Kāvyena bhāvyante rasah,* Abhivanagupta believes that if through *vibhāva*s etc the relishing knowledge of *rasa* is meant by *bhāvanā* we would accept it. But this doesn't prove Bhattnayaka's theory of *bhāvakatva*.

Abhinavagupta who is a *Śaiva* philosopher, explains *rasasūtra* through *abhivyaktivāda*. He refines the concept of *sādhāraṇīkaraṇa* and gives a psychological explanation for it. He has the view that a rich and fruitful thought can only be made on a foundation that has been prepared by our predecessors.

Hence, the doctrines of our predecessors have only being refined by Abhinavagupta, not refuted.

tasmātsatāmatra na dūṣitāni
matāni tānyeva tu śodhitāni.
pūrvapratiṣṭhāpitayojanāsu
mūlapratiṣṭhāphalamāmananti..
(ABh., vol-1, p-278)

Prefacing his own view, he says that :

*yathā hi 'rātrimāsata'. 'tāmagnau prādāt' ityādāvarthitādilakṣitasyādhikāriṇaḥ pratipattimātrādatitīvraprarocitātprathamapravṛttādanantaramadhikaivopāttakālatirkāreṇaivāste pradadānītyādirūpā saṁkramaṇādisvabhāvā yathādarśanaṁ pratibhābhāvanā vidhyudyogādibhāṣābhirvyavahṛtā pratipattistathaiva kāvyātmakādapi śabdādadhikāriṇo'dhikā'sti pratipattiḥ.* (ABh., vol-1, p-278)

When a man *[adhikārī]* hears a sentence like *ratrimāsata* [They held a sacrificial session through the night] or *tāmagnau prādāt* [He offered up into the fire] etc.; then there arise two perceptions, first is the general perception of sentence i.e. literal meaning of this sentence, then after, there arises a second perception which culminates in obtaining the desired objects through suppressing the original tense [past tense] and he thinks as "Let me hold a session" or "Let me offer up". This form of cognition is supplemented by various factors as *pratibhā, bhāvanā, vidhi* etc.

And who is *sahṛdaya*? He answers as:

*yeṣāṁ kāvyānuśīlanābhyāsavaśadviśadībhūte manomukure varṇanīyatanmayībhavanayogyatāte svahṛdayasaṁvādabhājaḥ sahṛdayāḥ.* (Locana, p-38)

The person whose mirror of heart becomes polished i.e. becomes transparent by the constant study and practice of poetry; such heart can reflects everything clearly and distinctly; such a person is known as *sahṛdaya* who is able to identify himself with the subject matter.

He starts his opinion by quoting a verse of Kālidāsa:

grīvābhaṅgābhirāmaṁ muhuranupatati syandane baddhadṛṣṭiḥ
paścārdhena praviṣṭaḥ śarapatanabhayād bhūyasā purvakāyam.
darbhairardhāvalīḍhaiḥ śramavivṛtamukhabhraṁśibhiḥ kīrṇavartmā
paśyodagraplutatvādviyati bahutaraṁ stokamurvyāṁ prayāti..

He mentions as:

*tasya ca "grīvābhaṅgābhirāmam" iti, "umāpi nīlālaka" iti, "harastu kiṁcit" ityādivākyebhyo vākyārthapratipatteranantaraṁ mānasī sākṣātkārātmikā'pahasitatattadvākyopāttakālādivibhāgā tāvatpratītirupajāyate. tasyāṁ ca yo mṛgapotakādirbhāti tasya viśeṣarūpatvābhāvādbhīta iti trāsakasyāpāramārthikatvādbhayameva paraṁ deśakālādyanāliṅgitam. tata eva 'bhīto'haṁ bhīto'yaṁ śatrurvayasyo madhyasthovā' iytādipratyayebhyo duḥkhasukhādikṛtahānādibudhyantarodayaniyamavat tayā vighnabahulebhyo vilakṣaṇaṁ nirvighnapratītigrāhyaṁ sākṣādiva hṛdaye niviśamānaṁ cakṣuṣoriva viparivartamānaṁ bhayānako rasaḥ.* (ABh., vol-1, p-279)

The first level is 'sense-level'. At this level, we hear the above quoted verses *[grīvābhaṅgābhirāmam]*. After hearing this verse, there arises its literal meaning *[vākyārtha]*. That is to say, at this level the meaning of above verses reflects in our Consciousness. Since he is an *adhikārī*, he does not rest at this first level.

After that, an 'imaginative level' comes in which there in no spatio-temporal relations as appearing in first level. That is to say, in this level the order *[krama]* and verbal relations *[lakāra]* of sentence-meaning has been eliminated. In this imaginative stage, the fearful deer which appears in our mind is totally devoid of its particularity *[viśeṣa]*. Deer which is in context is not that real deer to which *Duṣyanta* was chasing. This deer is a symbol of universal "fear". Hence, we cognize deer as "this deer is in state of fear". And also the person which is chasing is not the Real *Duṣyanta*. As a result, only "fear" *[bhayamātra]* a permanent emotion which is uncircumscribed by space and time, appears before us.

Now, the third level comes whose nature is as follows - the "fear" which appears in a general form is quite different from other types of ordinary fear. For example - there are various types of worldly fear as *bhīto'ham* [I am afraid], bhīto'yam [he is afraid], or my friend is afraid or anybody is afraid'. In such types of worldly fear, a person also becomes fearful. If such type of fear also arise in drama then the spectator would leave the theatre or rejects the poetry, but such type of fear does not arise in poetry or in drama.

This process is known as *sādhāraṇīkaraṇa* in Abhinavagupta's aesthetics. *Sādhāraṇīkaraṇa* is that process through which events, acts or characters associated with certain space or time appears before us in a general form not in a particular form.

The fourth level comes which form is as follows - the "fear" which has a general form is different from ordinary fear. This fear is totally devoid from any obstacles *[nirvighna]*. In such form this "fear" *[bhaya]* enters directly in

our heart as *bhayānaka rasa* and it appears like "this fear is dancing before our eyes".

Abhinavagupta explains the state of *ānanda/camatkāra* as a process in which *sāmājika* experiences a play. He says that a *sahṛdaya* (a man of aesthetic sensibility) experiences pleasure from a good drama on the stage. The difference between ordinary worldly pleasure and dramatic pleasure is that aesthetic experience is totally subjective. In such subjectivity, objectivity is totally lost. The basic mental states lose their objectivity. The permanent mental state *(sthāyī bhāva)* will no longer be related to the hero of drama. It is simply the revival of *vāsanā*, which has sunk back into the mind.

Abhinavagupta is mainly a *Śaiva* philosopher. Theories of *Śaiva* philosophy provides a solid background for Abhinavagupta's aesthetics. To understand Abhinavagupta's aesthetics in its entirety, it is pertinent to understand his philosophical and spiritual roots. Aesthetic theory can be studied from two points: firstly, the viewpoint of the creator and the viewpoint of the beholder. Abhinavagupta explains aesthetics from both aspects and infused them.

In his philosophical expositions, Abhinavagupta holds that Paramaśiva, the ultimate reality can be experienced only by freeing oneself from all *mala*s (impurities). Similarly, the objective dimension of the spectator has to be eliminated for getting the aesthetic experience. In this context *rasa* vighnas are described by Abhinavagupta, which are the impediments towards aesthetic experience. To eliminate these impediments, music and dance are introduced in beginning of a play. They help in attracting the viewer's attention towards the drama, freeing him from his worldly affairs. Abhinavagupta mentions when we hear a poem or see a dramatic performance; our limited saṁvid tends to unify with unlimited *saṁvid*. He quotes a verse from *Vijnānabhairava*:

gītādiviṣayāsvādāsamasaukhyaikatātmanaḥ.
yoginastanmayatvena manorūḍhestadātmatā.. (verse 73)

When a person mentally becomes one with beautiful songs and music in dramatic presentation, his heart expands and infuses all this ongoing performances within it. After infusing all, he experiences an incomparable joy whose nature cannot be explained.

Detachment from the worldly affairs (de-personalization) happens so easily in the theatric world, is achieved with great patience and practice of *sādhanā* in the ordinary world. The aesthetic experience becomes a medium to explain the spiritual experience for Abhinavagupta. His metaphysics and aesthetics are deeply interconnected that cannot be seen in isolation.

In Abhinavagupta's aesthetics, a very high position has been ascribed to poet. Commenting upon one of the *kārikā* of Ānandavardhana's *Dhvanyāloka, apāre kāvyasaṁsāre... parivartate* Abhinavagupta says that as soon as a poet ceases to be a *rasika*, the various *bhāvas* that are seen, although they transmit everyday pleasure, pain, infatuation, will not form, without the strengthening of a poet's description, a basis for the transcendent relishing of *rasa.* In poetic world, both *kavi* and *rasika* have the equal position. A poet encodes poetry infused with *rasa* and it is decoded with same intensity by a *rasika.*

Abhinavagupta mentions his *guru* Bhaṭṭa Tota in this context and quotes one of his view *nāyakasya kaveḥ śrotuḥ samāno'nuhavastataḥ*, which literally means that (in the case of rasa or aesthetic experience) the experience of the hero, the poet and the listener are similar. They have the same aesthetic experience while creating, enacting and watching/reading a particular piece of poetry.

We must mention Rājaśekhara who conceives *pratibhā* into its two components, *kārayitrī* which is related to poet and *bhāvayitrī* related to reader. The poet creates poetry with the help of *kārayitrī pratibhā* and *sahṛdayas* relish that poetry with *bhāvayitrī pratibhā.*

The experience of *rasa* evokes *camatkāra*, (generally, translated as a sense of wonder) in the heart of spectator. The term *camatkāra* draws its significance from spiritual experience. Both the mythical and the aesthetic experience needs the cessation of worldly objectivity. In both experiences, we find a new dimension of reality.

## References

1. *Abhinavagupta: An Historical and Philosophical Study*, Kanti Chandra Pandey, Chowkhamba Sanskrit Series, Varanasi, 1963.
2. *Abhinavagupta*, G.T. Deshpande, Sahitya Akademi, New Delhi, 1992.
3. *Aesthetic Rapture: The Rasādhyāya of the Nāṭyaśāstra* (two volumes), J.L. Masson and M.V. Patwardhan, Deccan College, Poona, 1970.
4. *Bhāmaha, Kāvyālaṅkāra*, Devendranatha Sharma, Patna: Bihar Rastrabhasa Parisad, 1985.
5. *Bharatamuni, Nātyaśāstra with the commentary Abhinavabhāratī of Abhinavaguptacarya*, [in four volumes: vols. 1-3 edited by M. Ramakrishna Kavi and vol. 4 by M. Ramakrishna Kavi and J. S. Pade], Baroda: Oriental Institute, 1926, 1934, 1954, 1964.
6. *Comparative Aesthetics* (vol.1). Varanasi: Chowkhamba Sanskrit Series Office, 1995.

7. *Comparative Aesthetics* (vol.2). Varanasi: Chowkhamba Sanskrit Series Office, 1972.
8. *Dhvanyāloka with Locana of Abhinavagupta*, the Bālapriyā subcommentary of Rāmasāraka, and the Divyāñjanā notes of Pt. Mahadeva Sastri, ed. Pt. Pattabhirama Shastri, Banaras: Haridas Sanskrit Series, 1940.
9. *Śāntarasa and Abhinavagupta's philosophy of aesthetics*. BORI, Poona, 1969.
10. *Śiva-Sūtras: The Yoga of Supreme Identity- Text of the Sūtras and the commentary Vimarśinī of Kṣhemarāja*, trans. Jaideva Singh, Delhi: MLBD, 2000.
11. *Śiva-Sūtra with Vṛtti*, ed. J.C. Chatterji, Srinagar: KSTS, 1926.
12. *Śiva-Sūtra with Vārttika of Bhāskara*, Vasugupta, J.C. Chatterji (ed.), KSTS, Srinagar, 1916.
13. *The Aesthetic Experience According to Abhinavagupta*, Raniero Gnoli, Chowkhamba Sanskrit Series Office, Varanasi, 1985.
14. *The Concept of Rasa: With Special Reference to Abhinavagupta*, S.C. Pande (ed.), Aryan Books International, New Delhi, 2009.
15. *The Dhvanyāloka with the Locana of Abhinavagupta*, ed. (with an introduction) Daniel H.H. Ingalls, trans. Daniel H.H. Ingalls, J.L. Masson, M.V. Patwardhan, Massachusetts: Harvard University Press, 1990.
16. *Vijñāna-Bhairava or Divine Consciousness*, trans. Jaideva Singh, Delhi: MLBD. 1979.
17. *Vijñāna-Bhairava: The practice of centring awareness*, ed. Lakshman Joo, Varanasi: Indica Books, 2002.
18. *Vyākaraṇatantra kā Kāvyaśāstra para prabhāva*, H.R. Mishra, Eastern Book Linkers, Delhi, 1994.

❀❀❀

# पण्डित विष्णु शर्मा कृत पञ्चतन्त्र के अपरीक्षितकारकम् की वर्तमान में प्रासंगिकता

कुसुमलता टेलर

सारांश

संस्कृत साहित्य में पञ्चतन्त्र नीति कथाओं का एक ऐसा ग्रन्थ है जो कि भारत में अत्यन्त प्राचीन है। पञ्चतन्त्र में सदाचार, मित्रता, शत्रु, नारी, अतिथिसत्कार, उद्योग, आचार-व्यवहार, नैतिक आदर्श आदि का रोचक वर्णन किया गया है। पञ्चतन्त्र में पाँच तन्त्र हैं – मित्रभेद, मित्रलाभ, सन्धिविग्रह, लब्धप्रणाश तथा अपरिक्षितकारक। प्रत्येक तन्त्र में मुख्य कथा एक ही है जिसको पुष्ट करने के लिए अन्य अनेक उपकथाएं दी गई हैं। इस लेख में वर्तमान समाज में अपरीक्षितकारकम् की प्रासङ्गिकता को दर्शाया गया है।

(कूटशब्द – पञ्चतन्त्र, विष्णुशर्मा, नीति ग्रन्थ, कथासाहित्य, अपरीक्षितकारक)

.....

संस्कृत विश्व की प्राचीनतम भाषा होने के कारण यह सभी भाषाओं की जननी के नाम से विख्यात है। वेद संस्कृत भाषा में होने के कारण संस्कृतभाषा को देव भाषा भी कहा जाता है। संस्कृतं नाम दैवी वागन्वाख्याता महर्षिभिः।[1]

संस्कृत साहित्य में कथा साहित्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है पञ्चतन्त्र कथा साहित्य का ही एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है जिसमें व्यवहार, नीति और राजनीति की शिक्षा प्रदान की गई है।

संपूर्ण संस्कृत कथा साहित्य को स्वरूप की दृष्टि से दो भागों में विभक्त किया गया है[2] -

1. उपदेश परक नीतिकथाएँ।
2. मनोरञ्जनात्मक लोककथाएँ।

डॉ. कपिल देव द्विवेदी ने कथाओं को चार प्रकार का माना है[3] - अद्भुत कथा, लोक कथा, कल्पित कथा और पशु कथा।

1. लोककथा - यह कथाएँ मनोरञ्जनात्मक होती हैं। इनके पात्र मनुष्य होते हैं। इन मनोरञ्जनात्मक लोक कथाओं का वृहत सङ्ग्रह संस्कृत में विद्यमान है।[4]
2. नीतिकथा - नीतिकथाएँ उपदेशात्मक होती हैं। इनके पात्र पशु पक्षी होते हैं। नीति कथाओं का उद्देश्य रोचक कथाओं द्वारा धर्म, अर्थ और काम का उपदेश देना है।

इन कथाओं का प्रतिपाद्य विषय सदाचार, राजनीति तथा व्यवहारिक ज्ञान प्रदान करना है।

पञ्चतन्त्र संस्कृत नीति कथा साहित्य का अत्यन्त प्राचीन व महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें नीति की बड़ी मनोहर व शिक्षाप्रद कहानियाँ है। पञ्चतन्त्र के लेखक पण्डित विष्णु शर्मा हैं। इसका उल्लेख पञ्चतन्त्र के कथामुख में मिलता है। पण्डित विष्णु शर्मा भारतीय नीति शास्त्र में प्रवीण, प्रखर बुद्धि एवं मनीषी विद्वान थे। उन्होंने प्राचीन नीति शास्त्र का पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया था। जब राजा अमरशक्ति ने अपने तीनों पुत्रो के लिए पण्डित विष्णुशर्मा से कहा कि यदि आप मेरे पुत्रों को

---

1 काव्या., 1/33

2 संस्कृत साहित्य का इतिहास (लौकिक खण्ड) डॉ. प्रीति प्रभा गोयल, प्रकाशक राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर, पृ.सं. 238

3 वही, पृ.238

4 वही, पृ.243

राजनीति में असाधारण कर देंगें तो मैं आपको 100 गांवों का शासन दे दूँगा। तब पण्डित विष्णु शर्मा ने कहा कि - "नाहं विद्याविक्रयं शासनशतेनापि करोमि।"[5] फिर भी तुम्हारे पुत्रों को यदि छः मास में नीतिशास्त्र को जानने वाला ना बना दूँ तो मैं अपने नाम का परित्याग कर दूँगा अर्थात् उस दिन से विष्णु शर्मा नहीं कहलाऊंगा। अधिक क्या मेरी ऐसी गर्जना सुनिए। मैं कोई धन का लोभी नहीं रहा हूं। सभी इन्द्रियाँ विषय से हटे हुए का तथा अस्सी वर्ष की अवस्था वाले का धन से कोई प्रयोजन नहीं रहा है किन्तु तुम्हारी कामना की पूर्ति के लिए (विद्या की देवी) सरस्वती का मनोरञ्जन करूंगा। तो राजन् आज का दिन लिख ले यदि मैं छः मास में तुम्हारे पुत्रों को नीति शास्त्र में असाधारण ज्ञान वाला नहीं कर दूँ तो ईश्वर मुझे स्वर्ग का मार्ग ना दिखलाए।[6] राजा ने प्रसन्न होकर अपने पुत्रों को पण्डित विष्णु शर्मा को सौंप दिए। विष्णु शर्मा भी उनको लेकर उनके लिए मित्रभेद, मित्रसम्प्राप्ति, काकोल्लूकिय, लब्धप्रणाश और अपरिक्षितकारक नामक इन पाँच तन्त्रों की रचना करके इन राजपूतों को पढ़ाया। राजपुत्र भी कहे हुए समय में राजनीति शास्त्र में पारङ्गत हो गए। तब से यह पञ्चतन्त्र पृथ्वी पर बालकों के लिए प्रसिद्ध व श्रेष्ठ ग्रन्थ हो गया।

पञ्चतन्त्र का रचनाकाल 300 ईसवी के आसपास का माना जाता है।[7] पण्डित विष्णु शर्मा ने पाँच तन्त्रों की रचना की जो पञ्चतन्त्र के नाम से प्रसिद्ध हुआ, वे तन्त्र हैं -

1. मित्रभेद - यह पञ्चतन्त्र का प्रथम भाग है इसमें मित्र से भेद सम्बन्धित पशु-पक्षियों की कहानियाँ हैं।
2. मित्रसम्प्राप्ति - यह पञ्चतन्त्र का द्वितीय तन्त्र है। इस भाग में अपने सामर्थ्य को समृद्ध करने के लिए उपयोगी व्यक्तियों से कैसे मित्रता की जाए इस विषय से सम्बन्धित कहानियाँ हैं।
3. काकोलूकिय - यह पञ्चतन्त्र का तृतीय तन्त्र है इसमें कवि ने कूटनीति की शिक्षा से सम्बन्धित कहानियाँ प्रस्तुत की है।
4. लब्धप्रणाश - नामक चतुर्थ तन्त्र में बुद्धि को स्थिर रखकर कार्य में सफलता कैसे प्राप्त की जाएँ इस विषय से सम्बन्धित कहानियाँ हैं।
5. अपरीक्षितकारक - इस तन्त्र में पण्डित विष्णु शर्मा ने बिना ठीक देखे, बिना ठीक जाने, बिना ठीक सुने, बिना अच्छी तरह परीक्षा किए कोई कार्य नहीं करना चाहिए से सम्बन्धित कहानियाँ दी हैं। पञ्चतन्त्र के प्रत्येक तन्त्र में एक मुख्य कथा है तथा उससे सम्बन्धित कई उपकथाएँ हैं। जिनमें पशु-पक्षियों के माध्यम से नीति, सदाचार व लोक व्यवहार की शिक्षा दी गई है। पञ्चतन्त्र की रचना में कवि ने गद्य और पद्य दोनों का प्रयोग किया है। गद्य में कथा है तो पद्य में एक लघु छन्द में मार्मिक ठोस व गम्भीर शब्दों में अपनी बात कही है। अपरीक्षितकारक पण्डित विष्णु शर्मा द्वारा लिखित पञ्चतन्त्र का अन्तिम व पाँचवा तन्त्र है। इस तन्त्र में मुख्य क्षपणक कथा के साथ साथ चौदह उपकथाएँ हैं। 98 श्लोकों के माध्यम से धर्म, राजनीति और नीति सम्बन्धित शिक्षाएँ प्रदान की है।

---

5 अपरीक्षितकारक, डॉ. कर्ण सिंह, साहित्य भण्डार, शिक्षा साहित्य के मुद्रक एवं प्रकाशक, सुभाष बाजार, मेरठ 250002, पृ.सं. 10

6 वही, पृ.10

7 वही, पृ.4

## अपरीक्षितकारक की कथाएँ [8]

1. **क्षपणक कथा** - यह मुख्य कथा है। इस कथा में सेठ मणिभद्र का पद्मनीधि को मारते हुए देखकर एक नाई ने उसका अनुकरण बिना सोचे समझे व किसी परीक्षा किए बगेर अनेक जैन सन्यासियों को लालच देकर अपने घर बुलाकर उनके सिर पर डण्डे मारना शुरू कर देता है जिससे कुछ सन्यासियों की मृत्यु हो जाती है और कुछ बेहोश हो जाते हैं। जिसके कारण नाई पर सन्यासियों को मारने का दोष लगता है। न्यायाधीशों के द्वारा उसे कारण पूछने पर उसके द्वारा मणिभद्र सेठ का अनुकरण करना बताया गया। न्यायाधीशों द्वारा अनुचित कार्य करने पर नाई को मृत्युदण्ड दिया जाता है।

2. **ब्राह्मणी नकुल कथा** - इस कथा में एक ब्राह्मणी द्वारा नेवले को पुत्रवत् पाला जाता है। किन्तु वह उस पर कभी विश्वास नहीं करती है इसलिए वह अपने पुत्र को अकेला नहीं छोड़ती। एक बार वह ब्राह्मण के भरोसे अपने पुत्र को छोड़कर जल भरने चली जाती है। ब्राह्मण लोभवश पुत्र को छोड़ भिक्षा लेने चला जाता है। पीछे से एक सर्प आता है। नेवला सर्प को मार देता है। घर आने पर ब्राह्मणी देखती है कि नेवले का मुँह लाल हो रखा है। ब्राह्मणी समझती है कि नेवले ने पुत्र को मार दिया है। इसलिए वह बिना कुछ सोचे समझे, बिना कुछ देखे, जल का घड़ा नेवले पर डाल देती है। नेवला मर जाता है। घर के अन्दर जाकर देखती है कि पुत्र सुरक्षित है और बाद में वह बहुत पछताती है।

3. **लोभाविष्ट चक्रधर कथा** - यह कथा चार निर्धन ब्राह्मण पुत्रों की कथा है जो घर छोड़कर अवन्ती देश उज्जैन की तरफ जाते हैं वहां उनकी मुलाकात भैरवानन्द योगी से होती है। वे उनको एक एक वर्तिका देकर हिमालय की ओर प्रस्थान करने को कहते हैं। योगी ने यह भी बताया कि जहाँ जिसकी वर्तिका गिरेगी वहां उसको खजाना प्राप्त होगा। एक एक करके ब्राह्मण की वर्तिका गिरती रही और उन्हें एक को ताँबा एक को चाँदी एक को सोना प्राप्त हुआ। जिसको सोना प्राप्त हुआ उस मित्र ने चौथे ब्राह्मण पुत्र को भी कहा कि सोने से बढ़कर और क्या है तुम भी यहां से सोना प्राप्त कर लो और घर चलो लेकिन वह अतिलोभ के कारण इससे भी अधिक हीरों का खजाना मिले अतः वह आगे गया। किन्तु अन्त में उसे चक्रधर बनना पड़ा और बाद में वह अपने लोभ के कारण बहुत पछताया।

4. **सिंहकारक मूर्खब्राह्मण कथा** - चार ब्राह्मण थे उनमें से तीन शास्त्रज्ञानी ब्राह्मण थे किन्तु व्यवहारिक ज्ञान से बिल्कुल शून्य थे। उन में से चौथा ब्राह्मण व्यवहारिक ज्ञान में निपुण किन्तु अशास्त्रज्ञ था। चारों धनोपार्जन के लिए घर से निकले। रास्ते में उन्हें एक सिंह का कंकाल मिला। एक ने कंकाल को इकठ्ठा किया एक ने सिंह के कंकाल को जोड़ा तीसरा उसको अपने ज्ञान से जीवित करने ही वाला था कि चौथा जो अशास्त्रज्ञ किन्तु व्यवहारिक ज्ञान में निपुण था अपने मित्रों से कहा कि ऐसा मत करो। पर वे उस की बात नहीं माने। तब उसने कहा ठहरो और वह पेड़ पर चढ़ जाता है। इस बात पर तीनों शास्त्रज्ञ हँसते हैं किन्तु जैसे ही वे शेर को जीवन प्रदान करते हैं शेर उन तीनों को खा जाता है। शेर के जाने के पश्चात वह चौथा ब्राह्मण पुत्र भी अपने घर चला जाता है।

5. **मूर्ख पण्डित कथा** - चार ब्राह्मण अपनी शिक्षा समाप्त करके गुरु से दिक्षा प्राप्त कर वापस अपने घर की ओर लौट रहे थे। उन्होंने शिक्षा तो प्राप्त की थी किन्तु लोक व्यवहार से बिल्कुल शून्य थे। उनमें से एक रास्ते में एक नदी पर डूबने लगता है तो तीनों में से एक

[8] वही, पृ.15-30

ने अपनी पुस्तक खोलकर देखी और वह पढ़ता है कि डूबते का सिर काट देना चाहिए और वह अपने मित्र का सिर काट देते हैं। बचे वे तीनों अपने घर की ओर लौटने लगे। राह में अनेक लोगों ने उनका आदर सत्कार किया। उन्हें अलग अलग अपने घर पर भोजन के लिए निमन्त्रित किया। भोजन में एक को सेवई दूसरे को चौडी रोटी और तीसरे को मालपुआ परोसा गया। भोजन करने से पूर्व उन्होंने अपनी अपनी पुस्तके निकाली और देखा कि उनको परोसा गया भोजन उचित नहीं है और वह बिना खाए ही उठ गए। लोग उनकी इस बात पर हँसने लगे और उनको भूखा ही जाना पड़ा।

6. **मत्स्य मण्डूक कथा** - एक बार सहस्रबुद्धि और शतबुद्धि नामक दो मत्स्य थे और एकबुद्धि नामक एक मेंढक था तीनों सरोवर में रहते थे इसलिए वे आपस में मित्र थे। एक बार उन्होंने सरोवर पर आए हुए धीवर की बात सुनी कि वे अगले दिन आएंगे और उन्हें पकड़ कर ले जाएंगे। सहस्रबुद्धि और शतबुद्धि नामक मत्स्य को अपनी बुद्धि पर विश्वास था कि वे किसी भी तरह से धीवर से बच जाएंगे। एकबुद्धि मेंढक सरोवर छोड़कर दूसरे सरोवर पर चला गया। दूसरे दिन धीवर आया और जाल फैलाया जिसमें सहस्रबुद्धि और शतबुद्धि नामक मत्स्य भी फँस गए। एकबुद्धि नामक मेढक जब धीवर को सहस्रबुद्धि और शतबुद्धि मत्स्य को अपने कन्धे पर लटकाकर ले जाते देखा तो मेढक ने कहा कि भाग्य अनुकूल होने पर एकबुद्धि नामक मेंढक भी बच जाता है और प्रतिकूल भाग्य होने पर सहस्रबुद्धि और शतबुद्धि नामक मतस्य भी मारे जाते हैं। कुछ दिनों बाद एकबुद्धि मेंढक पुनः उसी सरोवर में आकर रहने लगता है।

7. **रासभ शृगालकथा** - एक बार एक गधा और गीदड़ मित्र थे। वे रोजाना रात को एक ककड़ी के खेत में आकर मिलते ककड़िया खाते और आनन्द लेते थे। गधा अपनी आदत के कारण मीठा गीत गाना चाहता था और प्रशंसा प्राप्त करना चाहता था। गीदड़ उसे गाने से मना करता है कि खेत का रखवाला जाग न जाए और हम दोनों की पिटाई न कर दे। लेकिन गधा उसकी बात नहीं मानता। गीदड़ चुपके से खेत से निकल जाता है। गधे के रेकने से खेत का रखवाला जाग जाता है और उसकी खूब पीटाई करता है। उसके गले में ऊखल बाँधकर सो जाता है।

8. **मन्थरक कौलिक कथा** - एक बार एक मन्थरक नाम का जुलाहा था जङ्गल में वृक्ष काटने गया जैसे ही उसने वृक्ष को काटने का निश्चय किया कि वृक्ष पर रहने वाला यक्ष ने उससे कहा कि इस वृक्ष को मत काटो। मैं तुम पर प्रसन्न हूँ। जो माँगना चाहते हो माँग लो। मन्थरक ने कहा कि मैं तुमको मेरे घर वालों से पूछ कर फिर बताऊंगा। मन्थरक ने इस बात को अपने मित्र नाई को बताता है और पूछता है कि मुझे यक्ष से क्या माँगना चाहिए? नाई उसे राज्य माँगने को कहता है। यही बात वह अपनी पत्नी से भी पूछता है। पत्नी ने कहा कि हम जुलाहा हैं अतः तुम अपने लिए दो हाथ और एक सिर अतिरिक्त माँग लो जिससे तुम दुगुना काम कर पाओगे। मन्थरक बिना कुछ सोचे समझे मित्र की बात न मानकर पत्नी की बात मानकर यक्ष से पत्नी का कहा हुआ माँग बैठता है। यक्ष जैसे ही तथास्तु कहता है उसके दो अतिरिक्त हाथ और एक अतिरिक्त सिर हो जाता है। मन्थरक जब प्रसन्न होकर के पुनः घर लौट रहा होता है तो लोग उसे राक्षस समझ कर पत्थर मार मार कर उसे मार देते हैं।

9. **सोमशर्मपितृकथा** - एकबार एक ब्राह्मण के भीख माँग माँग कर लाये गये सत्तू से घड़ा भर गया था। तब वह इसे बेचकर बकरी, गाय, भैंस, घोड़ी, सोना, मकान आदि खरीदने की कल्पना करने लगता है। फिर वह विवाह करेगा तब उसका पुत्र होगा और जब उसकी

पत्नी उसके पुत्र को नहीं सम्भालेंगी तो वह उस पर लात से प्रहार करेगा। जैसे ही वह लात मारता है तभी उसका सत्तु से भरा घड़ा फूट जाता है।

10. **चन्द्रभूपति कथा -** एकबार एक राजा ने अपने राज्य में बन्दर और भेड़ें पाल रखी थी। भेडों के समूह में से एक भेड़ रोजाना रसोईघर में चुपके से जाकर खा पी आती थी। जिसके कारण रसोईया परेशान था। इस कारण उसके हाथ में जो कुछ आता वह उस पर फेंक देता था। बन्दरों का सेनापति राजनीति और चाणक्य नीति को जानने वाला था और उसने सोचा कि यदि रोजाना यही होता रहा तो एक दिन हमारा अन्त निश्चित है। अतः उसने अपने भाई बन्धुओं को भी राजघराना छोड़ने को कहा। लेकिन किसी ने उसकी बात नहीं मानी। अतः बन्दरों का सेनापति राजघराना छोड़कर किसी जङ्गल में चला गया। एक दिन रसोइए ने आग से जलती लकड़ी भेड़ पर फेंक दी जिसके कारण घुडशाला में आग लग गई। कई घोड़े अग्नि में जलकर मर गए और जो जीवित थे उनका इलाज करने के लिए वैद्य ने बन्दरों की चर्बी बतायी। राजा ने बन्दरों को मारने का आदेश दे दिया जिसके कारण सिपाहियों ने अनेक बन्दरों को मारना शुरू कर दिया। बन्दरों की चर्बी से घोड़े ठीक हो गए। बहुत वर्षों बाद बन्दरों का सेनापति पुनः राजघराने आया तो उसे अपने वंश के बन्दर नहीं मिले। समय बितने पर उसको बन्दरों के नाश का कारण पता चला। बन्दर ने राजा से बदला लेने की ठानी। बन्दर घूमता हुआ एक सरोवर में पहुँचा वहां उसे ज्ञात हुआ की यहाँ पर एक राक्षस रहता है और वह रत्नमाला से सभी को सरोवर में बुलाता है और वह उसे खा जाता है। बन्दर राक्षस से दोस्ती करता है। बन्दर राक्षस से कहता है कि यह रत्नमाला मुझे दे दो मैं तुम्हारे लिए भोजन लाऊंगा। बन्दर रत्नमाला गले में धारण कर राजा के यहाँ पहुँचता है। राजा पूछता है यह रत्नमाला कहाँ से लाए? बन्दर कहता है कि जो सरोवर में स्नान करता है उसे यह रत्नमाला प्राप्त होती है। राजा लालच में आकर परिवार सहित उस सरोवर में स्नान के लिए जाता है। राजा का पूरा परिवार सरोवर में स्नान करने जाता तो है परन्तु बाहर नहीं निकलता है तो राजा के पूछने पर बन्दर कहता है कि आपने जिस प्रकार मेरे वंशजों का मेरे परिवार वालों का नाश किया था वैसे ही मैंने आपके परिवार वालों से बदला ले लिया।

11. **विकाल वानर कथा -** भद्रसेन नाम का एक राजा था जिसकी कन्या पर एक राक्षस आसक्त था। एक बार आधी रात के समय राक्षस को खड़ा देख कर राजकुमारी ने एक योजना बनाई कि एक अन्य राक्षस मुझे प्रतिदिन सताता है। राक्षस यह बात सुनकर कि दूसरा राक्षस कौन है? जो इस का हरण करता है। राक्षस उसको देखने के लिए घोड़े का रूप धारण कर अश्वशाला में छुप जाता है। तभी एक अश्वचोर आकर घोड़े के रूप में छीपे राक्षस पर बैठ जाता है। राक्षस चोर को अन्य राक्षस समझकर जङ्गल की तरफ ले जाता है। चोर को जब पता चलता है कि यह कोई राक्षस है तब वह राक्षस से दूर होने के लिए प्रयास करता है। चोर एक पेड़ पर लटक जाता है। दूसरी तरफ राक्षस भी उसी पेड़ पर छिप जाता है। उसी पेड़ पर एक बन्दर रहता है जो कि राक्षस का मित्र होता है। बन्दर राक्षस को कहता है कि यह तो मनुष्य है तुम इसे मार डालो। तब वह चोर बन्दर की लटकती पूंछ को काट खाता है। बन्दर का चेहरा देख कर राक्षस वहाँ से भाग जाता है।

12. **अन्धक-कुब्जक-त्रिस्तनी-कथा -** राजा मधुसेन के यहाँ त्रिस्तनी कन्या का जन्म हुआ। ब्राह्मणों के परामर्शानुसार `यदि राजा इस कन्या का मुह देख लेता है तो उसकी मृत्यु निश्चित है'। इसलिए राजा सिपाहियों द्वारा उसे नगर के बाहर छोड़ देने का आदेश देते

हैं। समय आने पर उसका एक अन्धे से राजा के आदेशानुसार विवाह हो जाता है और धन आदि देकर उसे नगर छोड़ने को कह दिया जाता है। अन्धे के साथ उसका मित्र एक कुबडा भी रहता है। वे बचपन के मित्र होते हैं। विवाह होने के पश्चात अन्धा कुबड़ा और वह त्रिस्तनी कन्या साथ रहते हैं। त्रिस्तनी कन्या का पति अन्धा होने के कारण कुबड़ा उस कन्या का भोग करता था और वे चाहते थे कि किसी प्रकार अन्धे की मौत हो जाए। एकबार कुबड़ा जहरीला साँप लाकर त्रिस्तनी कन्या से उसको मत्स्य के बहाने खिलाने की कोशिश करता है जिससे अन्धे की मृत्यु हो जाए। किन्तु विषैले सर्प के पकने के धुएँ से अन्धे की आँखें ठीक हो जाती है और वह किसी को बताता नहीं है और वह देखता है कि यह मुझे मारने की कोशिश कर रहे हैं। जब कुबड़ा घर आता है तो वह त्रिस्तनी कन्या का भोग करने लगता है। यह देख कर अन्धे को क्रोध आ जाता है और वह त्रिस्तनी कन्या को कुबड़े पर फेकता है जिसके कारण त्रिस्तनी कन्या का एक स्तन वक्ष के अन्दर चला जाता है और कुबडा भी ठीक हो जाता है।

13. **राक्षस गृहित ब्राह्मण कथा** - एक बार एक ब्राह्मण को राक्षस पकड़ लेता है और उसके कन्धों पर बैठ जाता है और आगे चलने को कहता है ब्राह्मण डर के कारण राक्षस की बात मान लेता है और वह आगे चलता है चलते चलते ब्राह्मण उससे उसके इतने कोमल पैर क्यों है? कारण पूछता है। तब राक्षस उसे बताता है कि वह गीले पैर पृथ्वी पर नहीं रखता है। एक सरोवर पर राक्षस नहाता है। ब्राह्मण को यह पता चल जाता है कि राक्षस पृथ्वी पर गीले पैर नहीं रखेगा और वह अपनी जान बचा कर वहाँ से भाग जाता है।

14. **भारुण्डपक्षी कथा** - एक बार एक पेट और दो मुँह वाला भारूण्ड पक्षी था। एक मुख सदा स्वादिष्ट मीठे फल खाता तथा दूसरे मुख को सदा भूखा ही रहना पड़ता। भूखा मुख वाला उसको कहता कि हमेशा अकेले मत खाओ कभी कभी मुझे भी कुछ फल खाने को दिया करो। पर वह उस मुख की कभी नहीं सुनता। दूसरा मुख सदैव बिना खाये ही रहता। एक बार दूसरे कण्ठ को एक विषफल मिल जाता है और वह पहले मुख को दिखाता हुआ कहता है कि यह फल मैं खा रहा हूँ मीठे फल खाने वाला मुख उसे मना करता है कि तुम उसे मत खाओ क्योंकि हमारी मृत्यु हो जाएगी पर वह उसकी नहीं सुनता है और वह फल खा जाता है और दोनों कण्ठों की मृत्यु हो जाती है।

15. **ब्राह्मण कर्कट कथा** - किसी नगर में एक ब्राह्मण यात्रा पर जा रहा था। जब वह अकेले ही यात्रा करने जा रहा था तो उसकी माँ ने एक केकड़ा कर्पूर की पुड़िया में बाँधकर उसके थैले में रखती हुई कहती है कि यह तुम्हारी यात्रा में तुम्हारा साथी होगा। यात्रा के मार्ग में कड़ी धूप होने के कारण वह एक पेड़ के नीचे सो गया। तभी पेड़ के समीप एक साँप आया। साँप को क्योंकि कर्पूर की सुगन्ध बहुत प्रिय होती है अतः उसने कर्पूर की पुड़िया को खा गया। पुडिया में केकड़ा होने के कारण वह सर्प मर गया। ब्राह्मण उठा और अपने मार्ग पर चल दिया।

पण्डित विष्णु शर्मा द्वारा लिखित अपरीक्षितकारक की कहानियों से जो शिक्षाएँ प्राप्त होती हैं वे आज भी प्रासङ्गिक हैं। पण्डित विष्णु शर्मा ने पञ्चतन्त्र के द्वारा महिलारोप्यनगर के राजा अमरशक्ति के तीनों पुत्रों को राजनीति में निपुण बनाने के लिए जिस ग्रन्थ की रचना की वह अत्यन्त शिक्षाप्रद ग्रन्थ था वह ग्रन्थ और उसकी शिक्षाएँ न केवल राजकुमारों के लिए थी अपितु सम्पूर्ण देश के लिए सम्पूर्ण विश्वके लिए समस्त छात्रों के लिए हैं। यह ग्रन्थ सम्पूर्ण विश्व में कसौटी पर खरा उतरा है। इस ग्रन्थ की रचना कर छात्रों को जो शिक्षाएँ दी है वे तत्कालीन समय के लिए ही उपयोगी नहीं थी

अपितु वे वर्तमान में भी उतनी ही उपयोगी है व प्रासङ्गिक है। यदि हम आज के छात्रों का अवलोकन करें तो उनमें निम्न समस्याएँ दृष्टिगत हो रहीं हैं -

- लोक व्यवहार का ज्ञान न होना ।
- लालच करना अथवा लोभी प्रवृत्ति होना।
- बिना सोचे समझे कार्य करना।
- केवल किताबी ज्ञान को महत्त्व देना।
- अच्छे मित्र न होना व मित्र की बात न मानना।
- प्रश्न नहीं करना ।
- जो है उसमें संतुष्ट न होना ।
- स्वयं पर भरोसा न करना।
- भाग्य पर विश्वास न करना ।
- अकेले जाना, अकेले कार्य करना, अकेला खाना, सबके साथ नहीं रहना आदि।

इस तरह की अनेक समस्याएँ हम छात्रों में वर्तमान में देख सकते हैं। पण्डित विष्णु शर्मा ने तत्कालीन समय में अपरिक्षितकारक ग्रन्थ के द्वारा हमें यह बताया है कि अगर हम इस तरह के ग्रन्थों को छात्रों को पढाएँ, इनका ज्ञान प्रदान करें, ऐसे ग्रन्थों से उनको शिक्षित करें तो हमें छात्रों में इस तरह की समस्याएँ प्राप्त ही नहीं होंगीं। यदि समस्याएँ हैं तब भी हम इस तरह के साहित्य द्वारा इन परेशानियों को दूर कर सकते हैं। पण्डित विष्णु शर्मा ने अपने ग्रन्थ में कहानियों के द्वारा तो शिक्षाएँ दी है साथ ही साथ इसमें जो श्लोक हैं उनके द्वारा भी गागर में सागर के द्वारा हम छात्रों को शिक्षा दे सकते हैं। ये श्लोक वर्तमान में भी उतनी ही प्रासङ्गिकता रखते हैं जो तत्कालीन समय में थी।

कुदृष्टं कुपरिज्ञातं कुश्रुतं कुपरीक्षितम्।
तन्नरेण न कर्तव्यं नापितेनात्र यत्कृतम्।।[9]

अर्थात् बिना ठीक देखे बिना अच्छी तरह जाने बिना अच्छी तरह सुने और बिना ठीक ठीक परीक्षा किए जो कार्य नाई ने किया वह किसी अन्य मनुष्य के द्वारा नहीं किया जाना चाहिए।

यदि वर्तमान में भी देखें तो आज के बालक एवं युवा बिना कुछ जाने पहचाने किसी का दिया हुआ कुछ भी खा लेते हैं। बिना जाने पहचाने वे किसी के साथ चले जाते हैं इसलिए कुछ का अपहरण कर उनके माता पिता से मोटी रकम की माँग की जाती है।

वर्तमान समय के विद्यार्थियों की एक समस्या यह भी है कि कक्षा में या अन्य कहीं प्रश्न नहीं करते। प्रश्न के अभाव में वे जो कुछ पाना चाहते हैं या सिखना चाहते हैं वे सीख नहीं पाते हैं जिससे छात्रों को नुकसान उठाना पड़ता है जो छात्र प्रश्न करते हैं वे आगे बढ़ जाते हैं। पण्डित विष्णु शर्मा ने तत्कालीन समय में राक्षस गृहीत ब्राह्मण कथा के माध्यम से ही यही ज्ञान प्रदान करना चाहते हैं।

अपरीक्ष्य न कर्तव्यं कर्तव्यं सुपरीक्षितम्।
पश्चाद्भवति सन्तापो ब्राह्मण्या नकुलं यथा।।[10]

---

9 अपरी., श्लोक 1

10 वही, श्लोक 17

अर्थात पण्डित विष्णु शर्मा कहते हैं कि बिना परीक्षा किए कोई कार्य नहीं करना चाहिए। अच्छी प्रकार से जाँच करके ही कार्य करना चाहिए अन्यथा बाद में दुःख होता है जिस प्रकार ब्राह्मणी का नेवले के विषय में हुआ।

अतिलोभो न कर्तव्यो लोभ नव परित्यजेत्।
अतिलोभाऽभिभूतत्य चक्रं भ्रमती मस्तके।।[11]

अर्थात् मनुष्य को अपने जीवन में अधिक लालच नहीं करना चाहिए और नहीं उसको लालच सर्वथा छोड़ना चाहिए। यदि अधिक लालच करेंगे तो उसके सिर पर पहिया (चक्र) घूमता रहता है।

अर्थात् जो छात्र मोबाइल पर गेम खेलते हैं और मोबाइल से पैसा मिलने पर यह गेम खेलना बढ़ा देते हैं जिससे उनको अधिक पैसा मिले। किन्तु अधिक पैसा मिलने के लोभ में वे खेलते ही रहते हैं और कभी कभी ऐसी स्थिति आती है उनको आत्महत्या तक करनी पड़ती है।

आज के विद्यार्थी अंग्रेजी मीडियम स्कूल में पढ़ते हैं। वे फराटेदार अंग्रेजी तो बोल लेते हैं किन्तु उन्हें मातृभाषा में कुछ पूछा जाए तो वे कहेंगे क्या मतलब? इसका क्या मतलब? इस तरह उन्हें केवल किताबी ज्ञान है व्यावहारिक ज्ञान नाम मात्र है।

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा मित्रोक्तं न करोति यः।
स एव निधनं याति यथा मन्थरकौलिकः।।[12]

पण्डित विष्णु शर्मा मन्थरककौलिक की कहानी के द्वारा यह शिक्षा देना चाहते हैं कि आज के समय में संयुक्त परिवार के अभाव में परिवार छोटे होने के कारण सन्तान इकलौती होने के कारण बच्चा घर पर अकेला बैठा रहता है और उसके कोई दोस्त भी नहीं होते। पण्डित विष्णु शर्मा यह शिक्षा बच्चों को ही नहीं अपितु बड़ों को भी देना चाहते हैं कि अकेले मत खाओ, अकेले मत घूमो, मित्र बनाओ और मित्रों की बात मानों तभी नई पीढ़ी हम को देखकर यह कार्य कर पाएगी।

यो लौल्यात्कुरुते कर्म नैवोदर्कमवेक्षते।
विडम्बनाम्वाप्नोति स यथा चन्द्रभूपतिः।।[13]
कलहान्तानि हर्म्याणि कुवाक्यान्तं च सौह्रदम्।
कुराजान्तानि राष्ट्राणि कुकर्मान्तम यशो नृणाम्।।[14]

अर्थात् पारस्परिक झगड़े से घर का विनाश हो जाता है बुरे वाक्य कहने से मित्रता नष्ट हो जाती है कुराज्य से राष्ट्र नष्ट हो जाते हैं इसी तरह कुकर्म करने से व्यक्तियों का यश भी नष्ट हो जाता है।

जीर्यन्ते जीर्यतः केशा दन्ता जीर्यन्ति जीर्यतः।
जीर्यतश्चक्षुषी श्रोत्रे तृष्णैका तरुणायते।।[15]

---

11 वही, श्लोक 21
12 वही, श्लोक 56
13 वही, श्लोक 67
14 वही, श्लोक 70
15 वही, श्लोक 77

वृद्ध होते हुए व्यक्ति के बाल जीर्ण हो जाते हैं जीर्ण होते हुए के दान्त भी जीर्ण हो जाते हैं जीर्ण होते हुए के नेत्र और कान भी जीर्ण हो जाते हैं किन्तु इनके और अन्य इन्द्रियों तथा शरीर अवयवों के जीर्ण (शक्तिहीन) होने पर भी उसकी एकमात्र तृष्णा (कामना लिप्सा) युवती जवान बनी रहती है।

एकः स्वादु न भुञ्जीत नैकः सुप्तेषु जागृयात्।
एको न गच्छेदध्वानं नैकशचार्थान्प्राचिन्तयेत्।।[16]

इस श्लोक के द्वारा पण्डित विष्णु शर्मा यह कहना चाहते हैं कि अकेले मत खाओ। किन्तु आज का समय ऐसा नहीं रहा आज तो विद्यार्थी स्वयं ही ऑनलाइन आर्डर करते हैं और पिज्ज़ा बर्गर आदि मंगाकर अकेले ही खा जाते हैं।

आज के छात्र वर्ग को भाग्य पर बिल्कुल भरोसा नहीं है वह केवल कर्म पर विश्वास करते हैं और कर्म पर विश्वास करने के कारण शीघ्रता पूर्वक कार्य कर देते हैं जो उनको नहीं करना चाहिए अगर वह थोड़ा समय रुक जाए तो उनको अवश्य सफलता मिल सकती है।

मन्त्रे तीर्थे द्विज देवज्ञे भेजे गुरौ।
यादृशी भावना यस्यसिद् र्भवति तादृशी।।[17]

अर्थात् (वेद) मन्त्रों में तीर्थ में ब्राह्मण में देव (हरि शिव) आदि भगवान में ज्योतिष में औषध में गुरु में जिस व्यक्ति की जिसके प्रति श्रद्धा अथवा भावना होती है वैसी ही उसको सफलता प्राप्त होती है।

यदि जीवन में हमें सफलता प्राप्त करनी है तो किसी एक में श्रद्धा अवश्य रखनी होगी तभी हमें सफलता प्राप्त होगी।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि पञ्चतन्त्र का यह अपरीक्षितकारक नामक तन्त्र तत्कालीन समाज व छात्र वर्ग के लिए उपयोगी था पर वह आज भी उतना ही महत्त्वपूर्ण व उपयोगी है। किन्तु इसकी उपयोगिता व प्रासङ्गिकता तभी सिद्ध हो पाएगी जबकि छात्र वर्ग को इसका अध्ययन कराएंगे। इसका महत्त्व बताएंगे। इसके उपदेश सुनाएंगे। जब छात्र वर्ग इसको जान लेगा तभी इसकी शिक्षाओं को वह ग्रहण कर पाएगा। छात्रवर्ग जब इसकी शिक्षाओं को समझकर वह धारण करेगा तभी वर्तमान में इसकी प्रासङ्गिकता पूर्णरूपेण सिद्ध हो पाएगी।

## सङ्केताक्षरसूची

1. अपरी. - अपरीक्षितकारक
2. काव्या. - काव्यादर्श

[16] वही, श्लोक 95
[17] वही, श्लोक 98

## सन्दर्भग्रन्थसूची

1. अपरीक्षितकारक, डॉ. कर्ण सिंह, साहित्य भण्डार, शिक्षा साहित्य के मुद्रक एवं प्रकाशक, सुभाष बाजार, मेरठ
2. आचार्यदण्डिना विरचितः काव्यादर्श, पण्डितरङ्गाचार्यशास्त्रिणा विरचितया प्रभाख्यया व्याख्यया समेतः, भण्डारकरप्राच्यविद्यासंशोधनमन्दिरम्, पूना, 1938
3. श्रीविष्णुशर्मसंकलितं पञ्चतन्त्रम्, श्रीवेङ्कटेश्वर प्रेस्, मुम्बई, 1910
4. संस्कृत साहित्य का इतिहास (लौकिक खण्ड), डॉ. प्रीति प्रभा गोयल, प्रकाशक राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर, 2019

❀❀❀

# Portrayal of the character of Draupadī in Bhaṭṭanārāyaṇa's Veṇīsaṃhāra

Karabi Sarmah

Abstract

*Veṇīsaṃhāra is a famous drama written by renowned playwright Bhaṭṭanārāyaṇa, an acclaimed playwright in the field of Sanskrit literature. The storyline of Veṇīsaṃhāra has been taken from Mahābhārata by Vyāsa. Draupadī, one of the courageous characters from the Mahābhārata, is portrayed as the protagonist of the drama. Bhaṭṭanārāyaṇa has redrawn the storyline of Veṇīsaṃhāra in his own style although he keeps the Mahābhārata as the base reference. Through this paper an attempt has been made to reflect upon the manner in which Bhaṭṭanārāyaṇa has portrayed the character of Draupadī in Veṇīsaṃhāra. In addition to that, an analysis is also done to show how the original character of the Mahābhārata are recreated Bhaṭṭanārāyaṇa, one of the renowned Sanskrit litterature of post-mahābhārata times.*

*(Keywords : Veṇīsaṃhāra, Mahābhārata, Draupadī, protagonist, recreation)*

.....

## Introduction

The Sanskrit term *kāvya* generally denotes poetical composition or poetry. Etymologically *kāvya* signifies a work done by a poet.[1] Therefore, poetry is the expression of a poet who expresses his ideas, feelings or emotions through words. *Kāvya* technically means poetical composition with an organized plot by a single author.[2] Regarding the definition of a *kāvya* the Sanskrit poets, especially the rhetoricians have furnished their divergent views in their respective works. Bhāmaha has said that words along with meaning constitute poetry.[3] Paṇḍitarāja Jagannātha in his *Rasagaṅgādhara* gives the definition of *kāvya* as *ramaṇīyarthākapratipādakaḥ śabdaḥ kāvyam.*[4] That is the words possessing good *(ramaṇiya)* meaning called *kāvya.* It can be said that poetry is that which can arrest the attention of the connoisseur through nice words. Vāmana has said that a description which is full of *alaṃkāra* is accepted to be a piece of

1 kaveḥ karma kāvyam, vide, Commentary on Vakroktijivita I.2, ed. By Susil Kumar De with the commentary of Kuntaka, Firma K.L. Mukhopadhyay, Calcutta, 3rd edn., 1961, p.3

2 Williams, Monier, A Sanskrit English Dictionary, p.280

3 Śabdārthau sahitau kāvyam (Kāvya., I.16)

4 Rasagangādhara, Ch. I, ed.& trans. by Sandhya bhaduri with the commentary of Nāgeśa Bhaṭṭa, Ānana I, Sanskrit Pushtak Bhandar, Calcutta, p. 2

*kāvya.*[5] But Ānandavardhana has argued that it is nothing but *dhvani* i.e. suggestion itself that is more charming than the expressed sense. He has accepted *dhvani* as the soul of poetry[6] and said that it is called the best poetical composition in which the suggested sense shines more than the expressed one. But the rhetorician Viśvanātha Kavirāja, after refuting all the views of his predecessors furnished his opinion and affirms in this regard that without rasa a sentence cannot be called poetry as it is the soul of it without which mere unification of words and meaning becomes lifeless. The other elements such as *alaṃkāra, dhvani* etc. are for the upliftment of the poetry only.

In Sanskrit literature, all the forms of poetical composition like *mahākāvyas, khaṇḍakāvyas, nāṭakas, campūkāvyas* etc. are known as *kāvya.* Therefore, the field of Sanskrit kāvya is very wide. The Sanskrit kāvya or literary composition is classified broadly into two catagories viz. *śravyakāvya* and *dṛśyakāvya. śravyakāvya* is made for just listening (reading also) whereas *dṛsyakāvya* is meant for dramatic representation. Viśvanātha Kavirāja in his *Sāhityadarpaṇa* observes that *dṛśyakāvyas* are fit for dramatization and *rūpaka* is the general name for drama in Sanskrit.[7] Again, *śravyakāvya*s are suitable specifically for listening.[8]

The Sanskrit *dṛśyakāvya*s are again divided into various categories and sub-categories. In *Sāhityadarpaṇa*, Viśvanātha establishes ten varieties of *rūpaka* and eighteen varieties of *uparūpaka.*[9]

The first variety of *rūpaka* is known as *nāṭaka. Nāṭaka*s occupy a significant place in Sanskrit literature. The scholars have also said about the greatness of the nāṭakas - *"kāvyeṣu nāṭakaṃ ramyaṃ".* There are so many dramas in the realm of Sanskrit literature. The scholars have divided the dramas into three groups belonging to three periods, with the master poet Kālidāsa as the central figure, from whom one can look backwards and forwards. These heads are -

---

5 kāvyaṃ grāhyamalaṃkārāt (Kā.su.vṛ., I.1.1)

6 Kāvyasyātmā dhvaniḥ (Dhva., I.1)

7 dṛśyaṃ tatrāvineyaṃ tadrūpāropāttu rūpakaṃ (Sāhitya., VI,1)

8 śravyaṃ śrotavyamātraṃ.... (Ibid., VI, 313)

9 The ten divisions of the rūpakas and uparūpakas are as follows -
natakamatha prakaraṇṃ bhānavyāyogasamavakāradimāḥ.
īhāmṛgānkavīthyaḥ prahasanamiti rūpakāṇi daśa..
nāṭikā troṭaṃ goṣṭhī saṭṭaṃ nāṭyarāsakaṃ.
prasthānollāpyakāvyāni prengkhaṇaṃ rāsakaṃ tatha..
sanglāpakaṃ srīgaditaṃ ca vilāsikā.
durmallikā prakaraṇī hallīśo bhāṇīketi ca..
aṣṭadaśa prāhurūparūpakāṇi manīṣiṇaḥ.
vinā viśeṣaṃ sarveṣaṃ lakṣma nāṭakavanmataṃ.. (Ibid., VI, 3-6)

- The plays before Kālidāsa.
- The plays of Kālidāsa
- The plays after Kālidāsa

## The Veṇīsaṃhāra

The *Veṇīsaṃhāra* of Bhaṭṭanārāyaṇa is a play after Kālidāsa. It belongs to the class of successful *nāṭakas*. This is only the available work written by Bhaṭṭanārāyaṇa. He is believed to be lived in later half of 7th or the beginning 8th century A.D. and it has been assumed that the date of composition of the *Veṇīsaṃhāra* fall in the latter half of the 7th or first quarter of the 8th century A.D.. The title of the drama *Veṇīsaṃhāra* means the tying up or rearrangement of the loose disheveled mass of hair. It bears the reference of the vow of Bhīmasena, which forms the central topic of the drama. It is essentially a heroic play. The plot is mainly taken from the *Mahābhārata* and covers the period which elapses between the return of the *Pāṇḍava*s to Indraprastha after their thirteen years exile and Yudhiṣṭhira's accession to the throne after the great war. The predominant sentiment of the drama is the heroic or *vīra*. The name is suggested by an incident related in the latter part of the *Sabhāparva* of the *Mahābhārata*. It is stated there that after Draupadī had been stacked and in gambling, she was dragged by hair into the assembly by Duḥśāsana at Duryodhana's bidding. Stung almost to madness by the outrageous insult, Bhīma vowed that he would kill all the *Kaurava*s, drink the blood from the bosom of Duḥśāsana and dipping his hand in Duryodhana's gore would tie up Draupadī's hair. The theme is described in six acts.

## The Character of Draupadī in the Veṇīsaṃhāra

Though there are many plays available in Sanskrit literature and almost all those have woman characters, like - Sitā, Urvaśi, Mālavikā etc., it is for the first time Bhaṭṭanārāyaṇa brought Draupadī into the stage through his *Veṇīsaṃhāra*. Draupadī, the brave woman, is the heroine of the *Mahābhārata*. She is one of the most powerful, imposing and fascinating personalities in the *Mahābhārata*. Her personality pervades throughout the *Mahābhārata*. In our society the life of a woman is not straight forward like that of man. Woman has to passes her life in different roles throughout her life stages, like - as a daughter, as a daughter-in- law, as a wife, as a mother, as a mother-in-law etc. besides these all she is a woman. The life of Draupadī in the *Mahābhārata* is also no exception. She plays all these roles nicely and proved herself a competent in every aspect of life. She is a good daughter, loving and dutiful wife, knowledgeable queen. Her steadfast devotion to duty, spirit of self sacrifice, fortitude, courage,

capacity for hard work, presence of mind, perseverance, endurance, thirst for knowledge, wisdom to discriminate between right and wrong and strength to fight against injustice, truth, modesty, forgiveness, softness and harshness as the occasion demanded etc. are always attract even the women of modern era. In the *Veṇīsaṃhāra* though Draupadī is placed as the heroine, but, here Draupadī does not have all these qualities. She has been projected as queen and wife only. It is because Bhaṭṭanārāyaṇa does not take the whole story of the *Mahābhārata*. So it is not possible to reflect all the qualities of Draupadī only through a portion of *Mahābhārata* as the character of Draupadī pervades throughout the *Mahābhārata*.

In drama's heroines are generally divided into three kinds - *svīyā, parakīyā* and *sādhāraṇā*[10] according to their relationship with the respective heroes. Each of these is again classified according to their nature. Draupadī being the wife of *Pāṇḍava*s belong to the type called *svīyā*,[11] and by nature she can be nothing else but *pragalbhā*.[12] So far there is no discrepancy between the dramaturgies and Bhaṭṭanārāyaṇa's portrayal. But when one come down to a close examination of the play, it is found Draupadī as depicted in this drama to be standing out as a unique figure in the whole of Sanskrit dramatic literature. The *Veṇīsaṃhāra* as well all know is not a play with love as its theme. Nor can one designate it as a political play like the *Mudrārākṣasa* of Viśākhādatta, nor it is a social play like the *Cārudatta* of Bhāsa. The *Veṇīsaṃhāra* contains all the elements of all the above mentioned types combined, evenly or unevenly as the case may be. It is the story of the battle between the brother princess of the *Kuru* family and it is hatred and self-pity that predominate in the actions of all the characters. Draupadī, the heroine, seems to lead in this characteristics venture. She enters the scene with tears streaming from her eyes and her heart burning with anger and desire for revenge. The character of Draupadī is mentioned once in the First Act and nothing is known of her till the Sixth Act, except an incidental mention of her name in the prelude to the Third Act. But behind the movement of the story Draupadī is there in the whole theme of the *Veṇīsaṃhāra*.

## Draupadī's Role in the Development of the Plot

It is already stated that in the whole *Veṇīsaṃhāra*, the appearance of Draupadī is seen only in two acts, the First and the Sixth one. But without her

---

10 atha nāyikā tribhedā svā'nyā sādhāranā strīti... (*Ibid.*, III, 56)

11 Vinayārjavādiyuktā gṛhakamaparā patibratā svīyā... (*Ibid.*, III, 53)

12 Smarāndhā gāḍatārūṇyā samastakovidā.
bhāvānnatā darabrīḍa pragalbhākrāntanāyakā.. (*Ibid.*, III, 60)

presence the story cannot revolve. She is the reason for what the dramatist could plot out a play of six acts. The meaning of the title *Veṇīsaṃhāra* itself passes information to the audience that the story will surely be the tying up or rearrangement of the loose disheveled mass of hair of a lady, what is none other than Draupadī. In this drama the character of Draupadī is unique in nature. She is the fuel of the whole drama. Though she has not appeared in the stage in every act but spectator or reader feel her existence everywhere. The main or ultimate goal of the drama is fulfillment of a wish related to Draupadī. All other characters are seen to help in achieving the goal. In the First Act she appears with her long hair loose with complaints of more insult from the wife of Duryodhana.[13] She was on tears while she entered the stage for the first time. A princess of royal blood by birth, endowed with the most matchless beauty, she is subjected to humiliations of the worst type inspite of her valiant husbands. Her miseries seem to have even changed her princely disposition. But her character is not like other princess. That is why her happiness and satisfaction is reflected by the fact when Bhīma argues that the fight is never an unreasonable one and hence they should go for it. Bhīma's desire to grind the *Kauravas* to dust in battle and quaff blood from the breast of Duḥśāsana and pound the thigh of Suyodhana with his mace[14] makes Draupadī even happier and more satisfied. She always inspires Bhīma's anger and provoked him for war. She expresses her feelings to Bhīma by stating that her hair is aroused only when Bhīma is on indifferent mood but not when he is in anger.[15] Bhīma after listening to the words of inspiration told her to consider herself as one whose insult is avenged. All these imply the importance of the character Draupadī in the development of the content of the drama. Bhānumatī's insult on Draupadī adds up boost on Bhīma's anger and makes him more enthusiastic for taking up the vow. She helps in reminding Bhīma about his commitment as she addressed Draupadī as queen and stated that Bhīma is supposed to tie up Draupadī's hair with his hands red with the greasy clotted and thick blood of Suyodhana.[16] That is the key point of the drama from where the actual story begins. The First Act itself gives a clear picture that the following acts will also be centred at the character of Draupadī. Draupadī well understands that the whole war is going to happen as the result of all the tormentation she had suffered in the past. Draupadī, showed her care for her husbands when she advised them not to move about heedless in the battlefield as she knew it well that all her husbands were on fire

13 ayi yājñasenī pañcagrāmāḥ prārthyanta iti srūyate.
tatkasmādidānīmapi te keśa na saṃyamyante. (Veṇī., I, p.20)

14 Veṇī., I, p. 15

15 nātha, udāsīneṣu yuṣmāsu mama manyurna punaḥ kupiteṣu (*Ibid.*, I, p.18)

16 *Ibid.*, I, p. 21

because of the insult that was offered to her by the *Kauravas*.[17]

From Second Act to the Fifth Act, the character of Draupadī has not been found in the stage. But one can feel her existence. All the acts or the story proceeds only to fulfill her wish of giving proper punishment to the *Kauravas* for their evil deeds. In the last act the reader or the viewer gets interacted with the character of Draupadī.

Anyone goes through the drama, from the name itself and through the all first five acts it is understood that there is a need of the character of the heroine in the last scene though she was not present in the other acts except the first one. The audience forgets the main character Draupadī in between the First and Sixth acts. The dramatist shows his cleverness by bringing back the character of Draupadī again to the scene in the Sixth Act as without her the drama cannot get completion. He uses the character of heroine in developing a sequel of the drama with a flow so that it gets adjusted with the plot. Draupadī's presence in the Sixth Act happens along with that of Yudhiṣṭhira. The dramatist does not bring her character all of a sudden so that audience may not reject her entry. But her presence in the last act of the story seems she is present there throughout the whole play. While the demon gives the sad news of the death of Bhīma, Draupadī's presence on the stage is a must in that situation as the fight of Bhīma and Duryodhana is to happen only because of her. It is the need of the story to convey the news to Draupadī and look for her reactions. The dramatist draws the attention of the reader towards Draupadī by plotting her character as an ideal wife as she is ready to sacrifice her life along with Yudhiṣṭhira.[18] This incident adjusts her character as a dutiful consort but dramatist has avoided this for the final goal of the drama where Draupadī's presence is mandatory. As the name itself explains the possible ending of the drama so her must needed presence helps in the advancement of the story towards the end. Thus as a reader or viewer of the *Veṇīsaṃhāra* one can easily understands the need of the character of Draupadī in the development of the play and Bhaṭṭanārāyaṇa uses her character nicely to make his plot more interesting. It has been observed that nowhere her character has presented without any references. He stretches out the story through six acts with involvement of the main heroine Draupadī only in the first and last act.

## Conclusion

Though Draupadī is the heroine of the play Veṇīsaṃhāra, her ap-

17 *Ibid.*, I, p. 26

18 arya kurū dārūsaṃcayam. prajvālyatāṃ citā. tvarate me hṛdayaṃ nāthaṃ prekṣitum. (*Ibid.*, VI, p. 150)

pearance is restricted to two acts only i.e. First Act and Sixth Act. The dramatist keeps her character as the central one. The title of the drama itself throws light to the fact that the character of Draupadī is an inseparable one in the plot. He tries to reflect the toughness of the mind of a lady through Draupadī. As a wife of five *Pāṇḍava*s, this lady shows here courage and valour. The sweet relationship between her and Bhīma as shown in the epic *Mahābhārata* had been also shown in the *Veṇīsaṃhāra*. Draupadī tries to achieve her silent dream of a war with the *Kaurava*s and it is projected by her provocation to Bhīma. Though she is a follower of the *Dharmarāja* Yudhiṣṭhira still she has been shown as much closer to Bhīma in the emotional aspect of life. The qualities like – love, care, emotions are also present in her character.

## Abbreviations

1. Kāvya. - Kāvyalaṃkāra
2. Kā.su.vṛ. - Kāvyalaṃkārasutravṛtti
3. Dhva. - Dhvanyāloka
4. Sāhitya. - Sāhityadarpaṇa
5. Veṇī. - Veṇīsaṃhāra

## References


1. *A Sanskrit English Dictionary*, Monier Williams, Munshiram Manoharlal Publishers Pvt. Ltd., Delhi, 2011.
2. *Dhvanyāloka*, Anandavardhana, Ramasagara Tripathi (ed.), Motilal Banarasidass Publishers Private Limited, Delhi, 1963.
3. *Kāvyalaṁkāra*, Bhamaha, C. Sankara Rama (ed.), Sri Balamanorama Press, Madras, 1956.
4. *Kāvyālaṁkārasūtravṛttiḥ*, Vamana, Srikrshnamuri (ed.). Sri Vani Vilas Press, Srirangam, 1909.
5. *Mahābhārata*, Vyasa, Ramanarayanadatta Sastri (trns. & ed.), Vol. 1- 6., Gita Press. Gorakhpur, No 2070. 16th Reprint.
6. *Rasagangādhara*, Jagannatha, Durgaprasad & Vasudeva Laxman (eds.), 3rd ed., Tukaram Javaji, Bombay, 1916.
7. *Sāhitya Darpaṇa*, Visvanatha, Durgaprasada Dvivedi (ed.). 6th ed., Pandurang Jawaji, Bombay, 1936.
8. *Vakroktijivita*, Kuntaka, Susil Kumar De (ed.), 3rd ed., Firma K.L. Mukhopadhyay, Calcutta, 1961.

9. *Veṇīsaṁhāra*, Bhattanarayana, A B Grajendragadkar (ed.), 3rd ed. 1922.

10. *Veṇīsaṁhāra*, Bhattanarayana, Dr. Chowkhamba Jha (ed.) 4th ed., Krishnadas Academy, Varanasi, 2010.

11. *Veṇīsaṁhāra*, Bhattanarayana, M R Kale (trns. & ed.), 1st ed., Motilal Banarasidass Publishers Private Limited, Delhi, 2004

12. *Women in Sanskrit Dramas*, Ratnamayidevi Dikshit, Mehar Chand Lachhman Das, Delhi, 1964

❀❀❀

# उपक्रमन्यायविमर्शः

देबनाथ पाल

सारांश

मीमांसायाम् आचार्येण जैमिनिना वेदवाक्यार्थसंशयनिरसनार्थं सूत्रद्वारा संग्रथिताः न्यायाः। ते हि न्यायाः मुख्यतो द्विधा - वाक्यार्थतात्पर्यनिर्णायकरूपाः, अनुष्ठेयकृत्यसंशयनिवारकरूपाश्च। तत्र वाक्यार्थतात्पर्यनिर्णायकेषु न्यायेषु अन्यतमः उपक्रमन्यायः। प्रस्तुतेऽस्मिन् प्रबन्धे उपक्रमन्यायस्य स्वरूपमादौ समालोचितं ततः कुत्र कुत्र उपक्रमन्यायः प्रवर्तते कुत्र कुत्र तन्न प्रवर्तते के वा तत्प्रतिबन्धका इति प्रदर्श्य अन्ते शास्त्रान्तरेषु तस्य प्रयोगः प्रदर्शितः।

(कूटशब्दाः – उपक्रमः, कांस्यभोजिन्यायः, वाक्यशेषात्, अङ्गगुणविरोधन्यायः, अपच्छेदन्यायः)

.....

मीमांसादर्शने समुल्लिखितेषु वाक्यार्थतात्पर्यनिर्णायकेषु न्यायेषु उपक्रमन्यायः अन्यतमः। उपक्रमोपसंहारयोरुपक्रमः प्रबलः असङ्गातविरोधित्वादिति खलु न्यायस्यास्य निर्गलितार्थः। तद्यथा ज्योतिष्टोमे "प्रजापतिर्वा इदमेकमासीत्। स तपोऽतप्यत। तस्मात् त्रयो वेदा असृज्यन्त। अग्निर्वायु-रादित्यः ते तपोऽतप्यन्त। तेभ्यस्तेपानेभ्यस्त्रयो वेदा असृज्यन्त। अग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेद आदित्यात् सामवेदः"[1] इत्युपक्रम्य उपसंहारे - "उच्चैर्ऋचा क्रियते, उपांशु यजुषा, उच्चैः साम्ना"[2] इत्याम्नातम्। अनयोरुपक्रमे यत् वाक्यम् अग्न्यादिदेवागतत्वरूपस्तुतिपरकत्वाद् अर्थवादसंज्ञकम् उपसंहारस्थञ्च उच्चैस्त्वरूपाप्राप्तार्थप्रापकत्वाद् विधिसंज्ञकम्। किञ्चात्र पुनः जागर्ति संशयो यद् उच्चैर्ऋचा क्रियते इत्यादिना वाक्येन विधीयमानस्य उच्चैस्त्वादेः उद्देश्यभूतेन ऋगादिपदेन किं मुख्यार्थभूतानाम् मन्त्रत्वव्याप्यानाम् ऋक्त्वाद्यवच्छिन्नवाचकानाम् उद्देश्यत्वं प्रतिपाद्यते आहोस्वित् त्रयो वेदा असृज्यन्त इत्याद्युपक्रमस्थेन अर्थवादेन लक्षणया गुणीभूतस्य ऋग्वेदादिविहितकर्माङ्गभूतस्य मन्त्रमात्रस्य उद्दे-श्यत्वमिति।

न चात्र विध्येकवाक्यतयार्थवादानामात्मलाभात् अप्राप्तार्थप्रापकत्वेन विधेर्मुख्यत्वात् तदुद्दे-शस्वर्गादिपदानां निःसन्दिग्धत्वात् तदनुसारेणैव गुणीभूतार्थवादगतवेदशब्दस्य लक्षणया ऋगादिम-न्त्रपरत्वेन ऋगादिमन्त्राणामेव उद्देश्यत्वमुपपन्नमिति वाच्यम्, विधेरप्राप्तार्थप्रापकत्वेन मुख्यत्वेऽपि इह विधेरर्थवादाननुगुणार्थकत्वात् एकवाक्यताविरहापत्तिप्रसङ्गात्।

तस्माद् अन्त्यः पक्ष एव ज्यायान्। कथमिति चेदत्रेदं वक्तुं शक्यं विधिवाक्यस्य श्रवणात् पूर्वमेव उपक्रमस्थितस्य अर्थवादस्य असङ्गातविरोधित्वेन निर्णीतत्वहेतोः तदवस्थायां तद्गतवेदशब्दः स्वार्थे निश्चितोऽस्ति। अपरतः उपसंहारस्थितो विधिस्तु उपक्रमं प्रति विरोधी भवति। एवं यद्यपि विधेरर्थवादापेक्षया प्राधान्यं प्रसिद्धं तथापि सङ्गातविरोधित्वेन विधिरिह गौणतां भजते। अर्थवादस्त्विह विध्यपेक्षया गुणभूतोऽपि अजातविरोधित्वेन मुख्यतां भजते। मुख्यापेक्षया प्रधानस्य बलवत्त्वं तदैव उपपद्यते यदा प्रधानस्य स्वरूपं सिद्धं स्यात्। परन्तु इह विधेः अर्थवादाननुगुणार्थकत्वे एकवाक्यता-भावात् लब्धात्मकत्वाभावाद् बलवत्त्वमेव न युज्यते। तस्मादृगादिपदानां वेदार्थकत्वं लक्षणया अङ्गीकृत्य अर्थवादैकवाक्यतापन्नः भवेद् विधिः। एवमुपक्रमस्य अजातविरोधित्वेन उपसंहारापेक्षया प्राबल्यं सिद्धं भवति। तदुक्तम् अप्पयदीक्षितेन तदीये उपक्रमपराक्रमग्रन्थे – "उपक्रमे वेदानां प्रस्तावेन वेदसंस्पर्शेन किञ्चिद्विधास्यत इत्यवगम्यते, किन्तद्विधेयमित्येतावदनवगतमपेक्षितञ्च विध्युद्देशादृह्यत इति, विध्युद्देशस्थितानामप्यृगादिशब्दानामवगतविषयत्वात्। तस्मात्तैर्लक्षणया वेदानां ग्रहणमि"[3]ति।

---

1 शत., 11.5.8.3

2 तत्रैव 11.5.8.3

3 उप., p. 03

प्रसङ्गेऽस्मिन् प्रमाणपदवीम् अध्यास्ते "वेदो वा प्रायदर्शनात्"[4] इति जैमिनीयं सूत्रम्। तच्च कथमिति चेदत्रेदं वक्तुं शक्यं यत् प्रोपसृष्टाद् गत्यर्थकादिण्धातोः घञा निष्पन्नत्वात् सूत्रस्थः प्रायशब्दः उपक्रमार्थकः। दर्शनादित्यस्य तु श्रवणादित्यर्थः। तेनास्य शब्दप्रमाणविषयकत्वं सूच्यते। एवम् ऋगादिशब्दानां लक्षणया वेदपरत्वमेवाङ्गीकार्यम् उपक्रमस्थिते अर्थवादवाक्ये वेदशब्दश्रवणादिति खलु न्यायस्यास्य निर्गलितार्थो भवति।

उपक्रमन्यायस्य प्रयोगः श्रौतवाङ्मये बहुत्र दरीदृश्यते। तेषु प्रसिद्धस्थलेषु अश्वदाननिमित्तकेष्टिस्थलम् अन्यतमम्। तथाहि "प्रजापतिर्वरुणायाश्वमनयत्, स स्वां देवतामार्च्छत्, स पर्यदीर्यत, स एतं वारुणं चतुष्कपालमपश्यत्, तन्निरवपत्, ततो वै स वरुणपाशादमुच्यत, वरुणो वा एतं गृह्णाति योऽश्वं प्रतिगृह्णाति यावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णीयात्तावतो वारुणांश्चतुष्कपालान्निर्वपेत्"[5] इति श्रुतिः वर्तते। वस्तुतः प्रजापतिः वरुणायाश्वं प्रादात्। अश्वदानात् प्रजापतिर्वरुणग्रहमवाप। वरुणग्रहेण जलोदरव्याधिना वा पीडितस्य तस्योदरं विदीर्णमभवत्। स प्रजापतिः वारुणान् चतुष्कपालान् ददर्श, तान् अन्वतिष्ठत्, ततः अनुष्ठानेन वरुणपाशाद् मुमुचे। एवं वरुणस्तं गृह्णाति योऽश्वं प्रतिगृह्णाति, स वारुणीष्टिं कुर्यात्, तेन स वरुणपाशान्मुक्तो भविष्यतीति खलु सन्दर्भस्यास्य सरलार्थो भवति। अत्र जागर्ति संशयो यद् इयमिष्टिः किं प्रतिग्रहीतुः उत दातुरिति।

नन्वस्य च संशयस्य किं बीजमिति चेदत्रेदं वक्तुं शक्यं यत् उपक्रमे प्रजापतिर्वरुणायाश्वं दत्तवान् इति उल्लिख्य तदनु स इति तच्छब्देन तं प्रजापतिमेव परामृश्य ततो वै स वरुणपाशादमुच्यत इति प्रजापतेः एव वरुणपाशान्मुक्तिरुल्लिखिता। तदनु विधिवाक्ये यावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णाति इत्यनेन प्रतिग्रहीतुः इष्टिः समाम्नाता। एवम् उपक्रमोपसंहारयोः अर्थभेदात् किं प्रतिग्रहीतुरियमिष्टिः उत दातुरिति संशयो जायते। तस्य च संशयस्य नाशः उपक्रमन्यायानुसारेणैव शक्यसम्भवः। तच्च कथमिति चेदत्रेदं वक्तुं शक्यं यदर्थवादापेक्षया विधिः यद्यपि प्रबलतरस्तथापि अर्थवादः औपक्रमत्वादिह अजातविरोधी। तस्मादर्थवादस्य यथाश्रुतार्थ एवेह ग्राह्यः। वरुणाय इत्यत्र सम्प्रदाननिर्देशाद् अत्राश्वस्य दाता प्रजापतिः प्रतिग्रहीता च वरुणः इति सिद्ध्यति। किञ्च चतुर्थीनिर्देशात् स स्वां देवतामार्च्छदित्यत्र तच्छब्देन प्रजापतिरेव परामृष्टो न वरुणः इति लभ्यते। एवञ्च पर्यदीर्यत इत्यत्रापि तच्छब्देन प्रजापतेरेव परामर्शो जायते। एवं यथाश्रुतार्थे अभ्युपगम्यमाने प्रतिग्रहीता वरुणः एव वरुणपाशमवाप, स एव वारुणीष्टिद्वारा पाशान्मुक्त इति व्याहतार्थापत्तिर्दुर्निवार्या। तद् यथा मा भूत्तदर्थमुपक्रमानुसारेण औपसंहारः प्रतिगृह्णीयादिति शब्दः प्रयोजकव्यापारबोधकत्वेनेह अभ्युपेयः। तथा सति प्रतिगृह्णीयादित्यस्य प्रतिग्राहयेदित्यर्थः सम्पद्यते। तस्मान्नेयमिष्टिः प्रतिग्रहीतुः किन्तु दातुरेवेति सङ्गच्छते। एवमत्रोपसंहारार्थं उपक्रमानुसारेणैव व्याख्यातः।

ननूपक्रमन्यायस्य कस्तर्हि विषयः कुत्र कुत्रासौ न प्रयुज्यते इति चेदत्रेदं वक्तव्यं यत् शब्दप्रमाणविषयके एकवाक्यतापन्ने एकस्मिन् विषये यत्र पूर्वोत्तरयोर्विरोध आपद्यते तत्रायं प्रवर्तते, नान्यत्र। एवं यत्र पूर्वोत्तरयोरविरोधस्तत्रायं न प्रवर्तते। तदुदाहरणं यथा कांस्यभोजिन्यायः। यथा मया नित्यं गुरूच्छिष्टं भोक्तव्यं, कांस्यपात्रे च भोक्तव्यमिति नियमवतो विनेयस्य गुणीभूतस्य शिष्यस्य नियमभङ्गाय तदनुरोधेन अनियतपात्रभोजिना मुख्यभूतेन गुरुणापि अविरोधात् कांस्यपात्रे भोजनं विधीयते तद्वत् "अक्ताः शर्करा उपदधाति, तेजो वै घृतमि"[6]ति घृतनियमे न हि विध्युद्देशो विरुध्यते अर्थवादोऽपि अनुगृह्यते। अतोऽविरोधात् कांस्यभोजिन्यायेन उपक्रमस्थविध्युद्देशस्य प्रधानस्यापि उपसंहारस्थगु-

4 मी.सू., 3/3/2

5 तैत्ति.सं., 2/3/12

6 तैत्ति.ब्राह्म., 3/12/5/12

णीभूतार्थवादानुसारेण "सन्दिग्धेषु वाक्यशेषात्"[7] इति न्यायमनुसृत्य सन्देहापाकरणद्वारा घृतरूपार्थे संकोचो जायते इति।

न च पुनः "अक्ताः शर्करा उपदधाति" इत्युपक्रमस्थेन अक्ता इत्यनेन अविशेषात् यत्किञ्चिदञ्जनसाधनद्रव्यस्य विधिना निर्णीतत्वात् उपसंहारस्थस्य तेजो वै घृतमिति अर्थवादस्य स्तावकत्वादुपलक्षणत्वमभ्युपेत्य उपक्रमन्यायसङ्गतिसम्भवात् संकोचाभावात् नार्थवादस्येह सन्दिग्धार्थनिर्णये प्रामाण्यमिति वाच्यम्, विधेः द्रवद्रव्यसामान्यत्वेन प्रवृत्तौ घृतरूपविशेषग्रहणेन उपपत्तौ नैराकाङ्क्ष्यात् तैलाद्याक्षेपत्वे प्रमाणाभावात् उपक्रमस्याविरोधेन उपपत्तिसम्भवात् उपसंहारस्थार्थवादस्योपलक्षणत्वे प्रमाणाभावात् विनिगमनाविरहाभावात् पूर्वोत्तरयोरुभयोरन्यथानयनासम्भवाच्च।तस्मात् विध्यर्थवादयोरेकवाक्यत्वेन एकविषयत्वेन एकविषयत्वस्यावश्यकत्वाच्च युक्तं वाक्यशेषस्य सन्दिग्धार्थनिर्णये प्रामाण्यमिति।

एवं विध्यपेक्षितविषयस्य अर्थवादेन नियमनं युक्तमिति घृतेनैवाञ्जनमिति सिद्धान्तः। प्रोक्तविषयपर्यालोचनेन एतदवसीयते यत् उपक्रमन्यायः पूर्वोत्तरयोरविरोधे यथा न प्रवर्तते तथैवोभयोः विनिगमकत्वहेतोः अन्यथानयनासम्भवस्थलेऽपि न प्रवर्तते।

किञ्चोपक्रमानुसारेण नयने क्रियमाणे उपसंहारस्य दौर्बल्यं यत्र निश्चितं तत्रैवायं प्रवर्तते। यत्र पुनः उपसंहारस्य दौर्बल्यमनिश्चितं तथा बहुत्वमपि दृश्यते, तत्र नायं प्रसरेत्। तत्र भूयोऽनुग्रहन्यायस्यावकाशः। तथाहि सूत्रितं जैमिनिना - "विप्रतिषिद्धधर्माणां समवाये भूयसां स्यात् सधर्मत्वमि"[8]ति। तस्मात् एकेन सह विरोधे बहूनां बहूनामनुग्रहो विधेय इति प्रस्तुतन्यायस्य निर्गलितार्थः। तद्यथा "अथैषः श्येनः। अभिचरन् यजेत"[9] इत्यादौ उपक्रमस्थश्येनशब्दस्य पक्षिविशेषे रूढत्वादिह गुणविधित्वं स्वीक्रियते चेत् "यथा श्येनो आददीतैवमेवैनमेतेनादत्ते"[10] इत्यर्थवादे स्वस्यैव स्वोपमानापत्तिः सुदुर्वारा स्यात्। न चात्र पुनः गगनं गगनाकारमित्यादिवत् अनन्वयालङ्कारद्वारा श्येनोऽयमिति पदयोः अवस्थाभेदेन उपमानोपमेयत्वमुपकल्प्य सङ्गतिः शक्यसम्पादा इति वाच्यम्, तथात्वे उपक्रमस्थस्य एकस्य श्येनशब्दस्य मुख्यार्थपरिरक्षणार्थमर्थवादगतानां बहूनां पदानां उपमानान्तराभावलक्षकत्वापत्तिप्रसङ्गात्। नेयमिष्टापत्तिः। तस्मात् अर्थवादस्थानां बहूनां पदानां शक्यार्थपरिरक्षणार्थमेकस्मिन् विधिनिष्ठे श्येनपदे आशङ्कितोपस्थितमृतिजनकत्वरूपगुणयोगात् गौणीवृत्त्या यागनामधेयत्वमङ्गीकार्यम्।

न केवलमेतद् एवमङ्गगुणविरोधन्यायस्थलेऽपि उपक्रमन्यायो न प्रवर्तते। तथाहि सूत्रितं जैमिनिना अङ्गगुणविरोधे तादर्थ्यादि[11]ति। अङ्गगुणेन प्रधानगुणविरोधे प्रधानगुणानुग्रह एव न्याय्यः, अङ्गानां प्रधानार्थत्वादिति। तद्यथा "य इष्ट्या पशुना सोमेन वा यजेत सोऽमावास्यायां पौर्णमास्यां वा"[12] इति दीक्षणीयेष्ट्यादीनामङ्गानां प्रधानस्य सोमस्य च बहुदिनव्यवहितत्वात् उभयोः पर्वकालत्वसम्पादनासम्भवात् किं पर्वणि सोमः अपर्वणि दीक्षणीया उत तद्विपरीतमिति संशये जाते प्रस्तुतन्यायबलात् सोमस्य पर्वकालत्वं विधीयते, दीक्षणीयायाः प्रधानभूतसोमसादृण्यार्थकत्वाद् इति। तस्मात्

---

7 मी.सू., 1/4/21

8 तत्रैव., 12/2/24

9 षड्विंश., 4.2.1-2, p.142
(मीमांसाग्रन्थेषु 'श्येनेनाभिचरन् यजेत' इति पाठः उपलभ्यते)

10 तत्रैव., 4.2.3, p.143
(मीमांसाग्रन्थेषु 'यथा वै श्येनो निपत्यादत्ते, एवमयं द्विषन्तं भ्रातृव्यं निपत्यादत्ते' इति पाठः उपलभ्यते)

11 मी.सू., 12.2.27

12 मैत्रा.सं., 3.4.5

यत्र अङ्गप्रधानभावो न विद्यते तत्र एकवाक्यतापन्ने स्थले उपक्रमन्यायः प्रवर्तते। तदाशयः परिस्फुटः कृतः खण्डदेवाचार्येण तदीये मीमांसाकौस्तुभे। तदुक्तं तेन "ननु सत्यं उपक्रमापेक्षया तत्प्रतिबद्धात्मलाभोपसंहारस्य दौर्बल्यम्, प्रतिबन्ध एव तु इह उपक्रमस्थेनापि अर्थवादत्वात् अङ्गभूतेन प्रधानभूतस्य विधेरशक्यसंपादः। अत एव यत्र न अङ्गप्रधानभावः, तत्रैव एकवाक्यतादौ इति परस्य प्रथमोपस्थितापेक्षया दौर्बल्यम्, यथा 'यो होता सोऽध्वर्यु'रित्यादौ। प्रकृते तु यथैव य इष्ट्या इत्यादौ उपसंहारस्थस्यापि प्रधानभूतस्य सोमस्य धर्मानुग्रहस्तथैव विधेरपीति चेत्। सत्यं प्रधानभूतस्योपसंहारस्थस्यापि प्राबल्यम्, न त्विह तथा, प्रधानभूतस्य उच्चैः क्रियते इत्यस्य विधेः विरोधाभावात्। विरुद्धस्य च क्रगादिपदस्य न विध्यन्तर्भावः, उद्देश्यघटकत्वाप्रमापणात्। अतो नायम् अङ्गगुणविरोधन्यायस्य विषयः। अतएव यत्रोत्तरस्यापि पूर्वाविरोधेन कार्यान्तरपरत्वासम्भवः, तत्र परस्यापि शक्यार्थपरत्वात् तस्य प्राधान्यात् अङ्गगुणविरोधन्यायः अपवादकः उपक्रमन्यायस्य। यथा य इष्ट्या इत्यादौ"[13] इति।

न च पुनः अस्योपक्रमन्यायस्य "मुख्यं वा पूर्वचोदनाल्लोकवत्"[14] इति मुख्यन्यायाभेदविषयकत्वं वाच्यम्, उपक्रमस्य एकवाक्यताविषयत्वेन वाक्यार्थतात्पर्यनिर्णायकत्वात् मुख्यन्यायस्य अङ्गप्रधानविरोधज्ञानसापेक्षत्वेन अनुष्ठानकालीनसंशयनिवारकत्वाद् उभयोर्भिन्नविषयत्वादिति। तच्च कथमिति चेदत्रेदं वक्तव्यं यत् मुखमाद्यं जघन्यमन्त्यम्। तयोर्विरोधे मुख्यमेव ग्राह्यं यदि तत् प्रधानमात्रसमर्थकमपि स्यात् इति खलु मुख्यन्यायस्य निर्गलितार्थः। तद्यथा "आग्नावैष्णवमेकादशकपालं निर्वपेत्"[15], "सरस्वतीमाज्यस्य यजेत" इति यागद्वये विहिते अमावास्यायां उपांशुयागपक्षे तद्विकारे सारस्वते अभिमर्शने वृद्धिप्रकाशकवृधन्वत्याज्यभागानुवाक्याप्राप्तौ अग्नीषोमीयविकारे च आग्नावैष्णवे अभिमर्शने वृत्रहननप्रकाशकवार्तघ्न्यनुवाक्यप्राप्तौ मुख्यत्वात् प्रस्तुतन्यायानुसारेण आग्नावैष्णवकल्पः सारस्वते प्रसज्यते। अत्रेदमुल्लेख्यं यत् इह सूत्रे पूर्वसूत्रात् विप्रतिषिद्धधर्माणाम् समवाये च इति पदद्वयमनुवर्तते। तुल्यबलयोर्विरोधो विप्रतिषेधः। तस्मात् प्रधानयोर्विरोधे मुख्यानुसरणं सम्भवति। न त्वङ्गप्रधानयोः विप्रतिषेधोऽस्ति, प्रधानानुसारित्वाद् अङ्गानाम् अतुल्यबलत्वात्। तस्मात् आद्यात्मकमुख्यानुग्रहरूपाभिन्नविषयत्वेऽपि अङ्गप्रधानविरोधसापेक्षत्वरूपभिन्नविषयत्वात् सत्यपि सादृश्ये उभयोर्विवक्तविषयत्वं सुस्थिरम्।

उपर्युक्तविषयपर्यालोचनेन एतदवसीयते यत् पूर्वोत्तरविरोधग्रस्तेषु सापेक्षेषु कांस्यभोजिवाक्यशेषभूयोऽनुग्रहाङ्गगुणन्यायाविषयेषु एकवाक्यतापन्नस्थलेषु उपक्रमन्यायः प्रवर्तते इति सिद्धम्।

प्रसङ्गे अस्मिन् उल्लेख्यं यद् उपक्रमोपसंहारयोर्कतरः प्रबलः कतरो दुर्बल इति विषये वर्तते महती विमतिः। तत्र अप्ययदीक्षितादयः केचित् विपश्चितः उपक्रमस्य प्राबल्यमातिष्ठन्ते। अपरतः व्यासतीर्थादयः द्वैतिनः मीमांसकाः उपसंहारप्राबल्यमामनन्ति। ते उपक्रमप्रावल्यं न सहन्ते। तदुक्तं तर्कताण्डवे अनुव्याख्याने च -

उपक्रमादिलिङ्गानां बलीयो ह्युत्तरोत्तरम्।
श्रुत्यादौ पूर्वपूर्वं च ब्रह्मतर्कविनिर्णयात्॥[16]

इत्युपक्रमादीनां परबलीयस्त्वमुक्तम्।

---

13 मी.कौ., 3.3, p- 315
14 मी.सू., 12.2.25
15 काठ., स्था-10, अनु-1-2, म-1-3, p-86
16 अनु., ३/४/१८१

न्यायविवरणे चोपक्रमप्रामाण्यार्थमेवोपसंहारानुसारित्वमङ्गीकर्तव्यं व्याख्यानस्य पश्चात्तनत्व-नियमादित्युपसंहारस्योपक्रमात् प्राबल्ये हेतुरुक्तः। टीकायामपि तदनुरोधेनोपक्रमादुपसंहारो बलीयान् व्याख्यानरूपत्वादित्युक्तम्"[17] इति।

अस्येदमेव तात्पर्यं यत् कस्यचित् वाक्यस्य आद्यभागात् कश्चिदर्थो यदि बुद्धिस्थः स्यात् तदा तद्विरोधिनः अन्त्यभागस्य सार्थक्यप्रतिपादनाय अन्त्यभागः आद्यभागस्य व्याख्यानमिति कल्प्यते। एवं लोके अपि दृश्यते यत् गामानाय, बलीवर्दमानय इत्यादिषु स्थलेषु बलीर्वदमानय इति खलु व्याख्यानं भवति आद्यस्य गामानय इति वाक्यस्य। विषयेऽस्मिन् ते प्रमाणत्वेन "पौर्वापर्ये पूर्वदौर्बल्यं प्रकृतिवत्"[18] इति अपच्छेदन्यायमेव प्रमाणत्वेन उपस्थापयन्ति।

नन्वेवमुपक्रमोपसंहारयोः कस्य प्राबल्यं कस्य वा दौर्बल्यमिति चेदत्रेदं वक्तव्यं यत् यत्र पूर्व-परयोर्विरोधः सापेक्ष्यत्वञ्च परिलक्ष्यते तत्र उपक्रमस्य प्राबल्यं यत्र पुनः उभयोर्नैरपेक्ष्यं तत्र उपंसहारस्य प्राबल्यम्। तदुक्तं तन्त्रवार्तिके भट्टकुमारिलेन -

पौर्वापर्यबलीयस्त्वं यत्र नाम प्रतीयते।
अन्योन्यनिरपेक्षाणां यत्र जन्म धियां भवेत्।।

ये हि भिन्नवाक्यगताः परस्परनिरपेक्षाः विरोधिनोऽर्थाः श्रूयन्ते तेषां पूर्वस्य उत्तरानुपमर्देनैव लब्धात्मकत्वात् उत्तरस्य पूर्वोपमर्देन विना आत्मलाभानुपपत्तेः पौर्वापर्यबलीयस्त्वन्यायो भवति। यत्र तु एकवाक्यता परस्परापेक्षाणां श्रवणं, न तत्र एतद् भवति"[19] इति। तस्मादुपक्रमन्यायस्थले वाक्यार्थतात्पर्यनिर्णायकत्वहेतोः पूर्वोत्तरयोरुभयोः परस्परसापेक्ष्यं यथापेक्ष्यते तथैव एकवाक्यता अपि। अपरतः अपच्छेदन्यायस्थले अनुष्ठानकालीनसंशयनिवारकत्वहेतोः पूर्वोत्तरयोः मिथोनैरपेक्ष्यं यथा अपेक्ष्यते तथैव एकवाक्यताभावोऽपि इति विषयभेदात् भिन्नमुभयोर्प्रवृत्तिस्थलम् इति।

एवमुपक्रमन्यायस्य प्रयोगः न केवलं श्रौतवाङ्मये एव सीमायितः किन्तु आर्षवाङ्मये अपि दृक्पथमुपयाति। अमुमेव न्यायं द्वारीकृत्य द्वैतिनः प्रत्यक्षमिथ्यात्वश्रुतिविरोधे प्रत्यक्षस्य प्रामाण्यमुप-स्थापयन्ति। तदुक्तं शास्त्रसिद्धान्तलेशसंग्रहे "ननु चोपक्रमाधिकरणन्यायेन असङ्गातविरोधित्वात् प्रत्यक्षमेव आगमात् बलीयः किं न स्यादि"[20]ति। तदेवाशयं परिष्कुर्वता प्रोक्तं के.टि. पाण्डुरङ्गि-महोदयेन तदीये "Utilization of Mīmāṁsā nyāya in Vedānta" इति शीर्षके प्रबन्धे "The point that is of importance here is: The Dualists argue that the relation between perception and mithyātvaśruti must be viewed in the light of the above maxim. Perceptual cognition of the world arises earlier and it is not opposed to anything because at the time of its origination, the knowledge arising from the mithyātvaśruti which is opposed to it has not arisen. Hence it is asañjātavirodhi. The knowledge arising from the mithyātvaśruti, however, at the time of origination itself, has perceptual cognition opposed to it. Hence, it is sañjātavirodhi. According to the maxim arrived at in the upakramādhikaraṇa, the initial cognition, since it is asañjātavirodhi is more powerful than the latter cognition

17 तर्क., p-322
18 मी.सू., 6.5.54
19 तर्क., 3.3.2, p-819
20 शास्त्र., p-234

of mithyātvaśruti which is sañjātavirodhi. Hence, perceptual cognition invalidates the knowledge arising from mithyātvaśruti"[21] इति।

किञ्च एनमेव न्यायमुपजीव्य विशिष्टाद्वैतिनः निर्गुणसगुणश्रुतिविरोधे सगुणस्य प्राबल्यं प्रख्यापयन्ति। तदुक्तं न्यायामृते व्यासतीर्थाचार्येण "तस्मात् सगुणत्वनिर्गुणत्वयोर्विरोधेन समुच्चयायोगाद्, अनुष्ठान इव च वस्तुनि विकल्पासम्भवाद्, एकेनान्यस्य प्रतीतार्थत्यागरूपे बाधे वक्तव्ये निर्गुणवाक्यस्यैव स युक्तः, न तु प्रबलस्य सगुणवाक्यस्य। तस्य प्राबल्यं च उपक्रमाधिकरणन्यायेनाऽनुपसंज्ञातविरोधित्वाद्, लिङ्गात् श्रुतेरिव शीघ्रगामित्वाच्च"[22] इति स्यादि'ति। तदेवाशयं परिष्कुर्वता प्रोक्तं के.टि. पाण्डुरङ्गिमहोदयेन तदीये "Utilization of Mīmāṃsā nyāya in Vedānta" इति शीर्षके प्रबन्धे "In Viśiṣṭādvaita this nyāya is utilized to establish that saguṇaśruti prevails over nirguṇaśruti. It is already pointed out that the comprehension of saguṇaśruti has to preceed that of nirguṇaśruti. There is no opposition of nirguṇaśruti at that stage. The position is of the nature of asaṃñjātavirodha. The comprehension of saguṇaśruti prevents taking the nirguṇaśruti at their face value"[23] इति।

न केवलमेतत् ब्रह्मसूत्रे 'जगद्वाचित्वात्'[24] इति सूत्रव्याख्यानावसरे वाचस्पतिमिश्रेण भामत्यामुपक्रमन्यायः समाश्रितः। तत्र 'ब्रह्म ते ब्रवाणि' इति उपक्रमे ब्रह्माधिधानात् उपसंहारस्थे 'सर्वान् पाप्मनोपहत्य सर्वेषां च भूतानां शैष्ठ्यं स्वाराज्यं पर्येति य एवं वेद' इति वाक्ये सर्वशब्द भूयस्त्वार्थकत्वेन उपक्रमन्यायानुसारेण व्याख्यातः। तदुक्तं तत्र "उपक्रमानुरोधेन चोपसंहारे सर्वशब्दः सर्वान् पाप्मन इति च सर्वेषां भूतानामिति चापेक्षिकवृत्तिर्बहून् पाप्मनो बहूनां भूतानामित्येवं परो द्रष्टव्यः। एकस्मिन् वाक्ये उपक्रमानुरोधादुपसंहारो वर्णनीयः"[25] इति।

एवं ब्रह्मपुराणस्थे अष्टावर्धद्रव्यविषये अयं न्यायः समाश्रितः। तथाहि -

एष तेऽर्ध इति प्रोच्य तेभ्यो दद्यादथाष्टधा।
जलं क्षीरं दधि घृतं तिलतण्डुलसर्षपान्॥
कुशाग्राणि च पुष्पाणि दत्वाचामेत्ततः स्वयम्॥[26]

इति श्लोके अष्टधा इति उपक्रमानुरोधेन जलमिति उपसंहारस्थं पदं प्रस्तुतन्यायेन क्षीराद्यष्टद्रव्योपेतजलत्वेन व्याख्यातम्। तदुक्तं वीरमित्रोदयस्य श्राद्धप्रकाशे "अष्टधेति उपक्रमात् क्षीराद्यष्टद्रव्योपेतं जलं देयमिति प्रतीयते"[27]।

---

21 Pandurangi, K. T. Purvamimamsa from an Interdisciplinary Point of View. (New Delhi : Project of History of Indian Science, Philosophy and Culture, 2006) p.394-395.

22 न्या., Vol-III, p. 158

23 Pandurangi, Ke T. Purvamimamsa from an Interdisciplinary Point of View. (New Delhi : Project of History of Indian Science, Philosophy and Culture, 2006) p 402

24 ब्रह्म., 1/4/16

25 ब्रह्म.शाङ्कर., Vol-I, p.499

26 वीर.-श्राद्ध., Vol-IX, p.212

27 तत्रैव p.212

## सङ्केताक्षरसूची

1. अनु. - अनुव्याख्यानम्
2. उप. -उपक्रमपराक्रम
3. काठ.- काठकसंहिता
4. तर्क. - तर्कताण्डवम्
5. तैत्ति.सं - तैतिरीयसंहिता
6. तैत्ति.ब्राह्म. - तैत्तिरीयब्राह्मणम्
7. न्या.- न्यायामृतम्
8. ब्रह्म. - ब्रह्मसूत्रम्
9. ब्रह्म.शाङ्कर. - ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम्
10. मी.कौ. - मीमांसाकौस्तुभ
11. मी.सू. - मीमांसासूत्रम्
12. मैत्रा.सं. - मैत्रायणीसंहिता
13. वीर.श्राद्ध. - वीरमित्रोदय-श्राद्धप्रकाश
14. शत. - शतपथब्राह्मणम्
15. शास्त्र. - शास्त्रसिद्धान्तलेशसङ्ग्रह
16. षड्विंश. - षड्विंशब्राह्मणम्

## References


1. *Brahmasūtraśāṅkarabhāṣyam* (Vol-I), Swami Yogindrananda (ed.), Chowkhamba Vidya Bhavan, Varanasi, 2005.
2. *Kāṭhaka-Saṃhitā*, B. S. Sātavalekara (ed.), Swadhyaya Mandala, Aundh (Near Mumbai), 1943.
3. *Kṛṣṇayajurvedīyam Taittirīyabrāhmaṇam*, Jamuna Pathak (ed.), Vol. 1, Chowkhamba Sanskrit Series, Varanasi, 2021.
4. *Maitrāyaṇī Saṃhitā*, B. S. Sātavalekara (ed.), Swadhyaya Mandala, Aundh (Near Mumbai), 1941.
5. *Mīmāṃsādarśana with Commentary of Sabara Swami* (1–3 Chapters), Ratnagopāla Bhaṭṭa (ed.), Vidya Vilasa Press, Benaras, 1910.
6. *Mīmāṃsākaustubhaḥ (An Exhaustive Commentary of Jaiministuras by Khaṇḍadeva)*, Chinnawaswami Shastri (ed.), Vol. 2, Chowkhamba Sanskrit Series, Benaras, 1929.

7. *Nyāyāmṛtam* (Vol-III), K.T. Pandurangi (ed.), Dvaita Vedanta Studies & Research Foundation, Bangalore, 1996.
8. *Purvamimamsa from an Interdisciplinary Point of View*, K. T. Pandurangi, Project of History of Indian Science, Philosophy and Culture, New Delhi, 2006.
9. *Ṣaḍviṃśa Brāhmaṇa with Vedārthaprakāśa of Sayana*, B. R. Sharma (ed.), Kendriya Sanskrit Vidyapeetha, Tirupati, 1983.
10. *Śāstrasiddhāntaleśasaṃgraha*, S. R. Krishnamurti Sastri and N. Veezhinathan (ed.), Srimad Appayya Dikshithendra Granthavali Prakasana Samiti, Secunderabad, 1973.
11. *Śuklayajurvedīya Śatapathabrāhmaṇa* Vol-3 (Mādhyandinī śākhā), Swami Satyaprakash Saraswati, Vijaykumar Govindram Hasanand, Delhi, 2019.
12. *Tantravarttika: A Comm. on Sabara's Bhasya on the Purvamimamsa Sutras of Jaimini* by Kumārila Bhaṭṭa. Ganganatha Jha (ed.), Sri Satguru Publ, Delhi, 1983.
13. *Tarkatāṇḍavam*, K.T. Pāṇḍuraṅgi (ed.), Vol-2, Dvaita Vedanta Studies and Research Foundation, Bangalore, 2003.
14. *The Tantravārtikam: A Gloss on Sabara Swami's Commentary on the Mimamsa Sutras*, Kumārila, Bhaṭṭa. T. Gangadhara (ed.), Chowkhamba Sanskrit Book Depot, Benares, 1903.
15. *Upakramaparākrama*, A. Subrahmaṇyaśāstri and Trinātha Śarmā (ed.), Kāsīhindūviśvavidyālaya, Vārāṇasī, 1973.
16. *Vīramitrodaya-Śrāddhaprakāśa* (Vol-IX), Padmāprasāda Upādhyāya (ed.), Chowkhamba Sanskrit Series Office, Varanasi, 1935.
17. *Yajur Veda Taittiriya Samhita: English Translation and Notes* (In 4 Volumes). R. Kashyap (ed.), Sakshi Sri Aurobindo Kapali Sastry Institute of Vedic Culture, Bengaluru, 2011.

❀❀❀

# असिद्धवति लाघवसमीक्षणम्

अनिलकुमारसन्मुखः

सारांश

असिद्धवदत्राऽभात् सूत्रेणानेन प्रोक्तेन आचार्येण कति सूत्राणि लघुकृतानि इति अस्य लेखनस्य उद्देश्यम्। सूत्राणि तु क्रमेण संसाधितानि आचार्येण। पुनः वयं कथं तत्र सूत्रेषु परस्परं संसिद्धेषु अपि तत्र लाघवमुपयामः ? अन्यच्च यत्र सूत्राणाम् उत्सर्गापवादत्वम् एकविषयात् संसाधितम् आचार्येण तत्र एकविषयसमूहसूत्राणां प्रकरणमिति नाम्ना निर्दिष्टम्। यत्र एक एव विषयः एकेनैव सूत्रेण प्रोक्तः तस्य विशिष्टसूत्रमिति नाम्ना निर्दिष्टः। समानप्रकरणसूत्रमध्ये असिद्धवत् न स्यात्, भिन्नभिन्नप्रकरणयोः मध्ये एव असिद्धवत् स्यादिति। महाभाष्यकाशिकादिग्रन्थान् दृष्ट्वा यान्युदाहरणानि प्राप्तानि तेषामाधारेण षोडशसूत्राणां लाघवमिति दर्शितम्।

(कुञ्जिकाशब्दाः - असिद्धवत्, लाघवम्, प्रकरणम्, विशिष्टसूत्रम्)

.....

असिद्धवदत्राऽभात्[1] इतः आरभ्य आङ् इति अभिविधित्वात् अध्यायपादपरिसमाप्तिपर्यन्तं सूत्रविहितकार्येषु असिद्धवत् भवति। एकसूत्रविहितकार्यत्वात् सूत्रान्तरविहितकार्ये प्राप्यमाणे पूर्वसूत्रविहितकार्यम् असिद्धं भवतीति अर्थः।

## ननु किं विना असिद्धवता कार्यस्य सिद्धिर्न भवति वा ?

अवश्यं भवति परन्तु तस्मात् पूर्वं कृतकार्यात् (लक्षणात्) अन्यस्मात् सूत्रात् विधौ वा निषेधे जायमाने तस्य इष्टसिद्धिं परिग्रहीतुं नूतनसूत्रस्य आवश्यकता भवेत्। एवं नूतनसूत्रस्य अनुच्चारणादेव आचार्यः इष्टसिद्धिं साधयति। अर्थात् आचार्यः एकेनैव सूत्रेण (असिद्धवदत्राभात्) एकशतत्रिपञ्चाशत्सूत्रेषु इष्टसिद्धिं साधयति।

तत्र असिद्धवत् कार्यम् 'शाधि' पश्यामः, उत्सर्गाय (पूर्वसूत्राय) कृतम् असिद्धवत्।

शाधि - शासुँ अनु शिष्टौ धातोः उकारस्य इत्सञ्ज्ञा लोपश्च। शास्-धातोः लोट्-लकारस्य मध्यमपुरुषैकवचने सिप्-प्रत्ययः। सिपः स्थाने हि-आदेशः सेर्ह्यपिच्च[2] सूत्रेण। शास्+हि इत्येवं स्थितौ असिद्धवत् प्रकरणे शा हौ[3] हुझल्भ्यो हेर्धिः[4] इत्येते सुत्रे प्राप्नुतः। शासः शा भावः, हेः धि भावः कार्ये प्राप्ते, परत्वात् हेः धि-भावः प्रथमः, शास्+धि। धि-भावे सति उत्सर्गसूत्रस्य शासः शा-भावः हौ परतः। हेः अभावात् शा-भावः अप्राप्तः। अनेन अनिष्टसिद्धिः शास्धि इति स्यात्। एवमनिष्टसिद्धिः न स्यादिति आचार्यः असिद्धवदत्राऽभात् इति सूत्रं विदधाति। अनेन सूत्रेण हि-भावे कृते धि-भावः असिद्धवत् स्यादिति परामर्शेन पुनः तत्र हेः दर्शनम्। तेन पुनः उत्सर्गसूत्रं 'शा हौ' प्राप्नोति, तत्र शासः शा-भावो भवति। तस्मात् 'शाधि' इति इष्टसिद्धिर्भवति।

विमर्शः - सम्पूर्णाष्टाध्याय्यां पूर्वसूत्रं परसूत्रम् इत्यनयोः अपेक्षायां परसूत्रमेव आचार्यः इच्छति नियमञ्च करोति। पूर्वसूत्रं न स्यादिति। परन्तु एतदेव एकं प्रकरणं यत्र आचार्यः परसूत्रं कृत्वापि उत्सर्गं वाञ्छति। तदर्थं वार्तिककारः भाष्यकारश्च वदतः असिद्धवचनम् उत्सर्गलक्षणभावार्थमिति। एवमेव पूर्वत्रासिद्धम्[5] सूत्रविषयेऽपि वर्तते, किञ्च समाधानम्नैवम्! तत्र एवमस्ति, पूर्वसूत्रं परसूत्रं द्वयोः प्राप्तिः समानवेलायां वर्तते, तत्र पूर्वसूत्रमेव स्यादिति नियमं करोति। पूर्वसूत्रं सिद्धं स्यात् परसूत्रं

---

1 अष्टा., 6.4.22

2 तत्रैव., 3.4.87

3 तत्रैव., 6.4.35

4 तत्रैव., 6.4.101

5 तत्रैव., 8.2.1

सर्वथा असिद्धं स्यादिति। एवम् एतद्द्वयोः भेदः अस्ति। अत्र असिद्धवदत्राऽभात् सूत्रविषये परसूत्र-कार्याऽनन्तरमपि पूर्वसूत्रस्याऽपि कार्यं जायते। किन्तु पूर्वत्रासिद्धं सूत्रविषये एवं नास्ति। कृतकार्ययोः पूर्वमेव=प्राप्तवेलायामेव पूर्वस्यैव कार्यं स्यादिति नियमकरणम् एवं भेदः अवगन्तव्यः इति।

इदानीमग्रे आदेशलक्षणप्रतिषेधार्थम्[6] इत्यस्य उदाहरणं पश्यामः।

आगहि - आङ् पूर्वकः गम्-धातुः तस्मात् सिप् प्रत्ययः, आ+गम्+सिप्, सिपः 'सेर्ह्यपिच्च' इत्यनेन हिः आदेशः, आ+गम्+हि इत्यत्र असिद्धवत् प्रकरणस्य 'अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्या-दीनामनुनासिकलोपो झलि क्ङिति'[7] इति सूत्रेण झलि परतः 'म्' इत्यस्य अनुनासिकस्य लोपो भवति चेत् तत्र रूपम् आगहि स्यात्। किन्तु अत्र स्थितौ अपि तत्प्रकरणस्य अन्यदेकं सूत्रं प्राप्नोति। अतो हेः[8] एतत् सूत्रं हेः लोपं करोति। तेन आग इत्येतद् अशुद्धं रूपं भवेत्। तत्र प्रकृतसूत्रेण 'असिद्धव-दत्राभात्' इति सूत्रेण अनुनासिकलोपस्य असिद्धवद्भावे अनदन्तत्वात् 'अतो हेः' इति सूत्रं न प्रवर्तते। तेन आगहि इत्येवं शुद्धरूपं सिद्ध्यति।

सारांशः - आगहि इत्यत्र मकारलोपाऽनन्तरम् अदन्तत्वाद् हेः लोपादेशलक्षणं प्राप्तम् अतः तत्प्रतिषेधार्थम् आदेशलक्षणप्रतिषेधार्थम् इति उक्तम्।

तस्माद्वार्तिककारेण उक्तवचनं कृतार्थं सम्पद्यते असिद्धवचनमादेशलक्षणप्रतिषेधार्थमुत्सर्गल-क्षणभावार्थश्चेति॥

## असिद्धवतां सूत्राणां कार्यानुसारि प्रकरणम्

1. नकारलोपप्रकरणम्
    - श्नान्नलोपः ॥6.4.23॥
    - अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति ॥6.4.24॥
    - दंशसञ्जस्वञ्जां शपि ॥6.4.25॥
    - रञ्जेश्च ॥6.4.26॥
    - घञि च भावकरणयोः ॥6.4.27॥
    - स्यदो जवे ॥6.4.28॥
    - अवोदैधौद्म्प्रश्रथहिमश्रथाः ॥6.4.29॥
2. नकारलोप विभाषा च प्रकरणम्
    - नाञ्जेः पूजायाम् ॥6.4.30॥
    - क्त्वि स्कन्दिस्यन्दोः ॥6.4.31॥
    - जान्तनशां विभाषा ॥6.4.32॥
    - भञ्जेश्च चिणि ॥6.4.33॥
3. अनुनासिकलोपनिषेधौ आत्वादेशप्रकरणम्
    - अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झलि क्ङिति ॥6.4.37॥
    - वा ल्यपि ॥6.4.38॥

---

6 महा., 6.4.22

7 अष्टा., 6.4.37

8 तत्रैव., 6.4.105

- न क्तिचि दीर्घश्च ॥6.4.39 ॥
- गमः क्वौ ॥6.4.40 ॥
- विड्वनोरनुनासिकस्यात् ॥6.4.41 ॥
- जनसनखनां सञ्झलोः ॥6.4.42 ॥
- ये विभाषा ॥6.4.43 ॥
- तनोतेर्यकि ॥6.4.44 ॥
- सनः क्तिचि लोपश्चास्यान्यतरस्याम् ॥6.4.45 ॥

4. यकारलोप प्रकरणम्
    - यस्य हलः ॥6.4.49 ॥
    - क्स्य विभाषा ॥6.4.50 ॥
5. णिलोपप्रकरणम्
    - णेरनिटि ॥6.4.51 ॥
    - निष्ठायां सेटि ॥6.4.52 ॥
6. इडादौ निपातप्रकरणम्
    - जनिता मन्त्रे ॥6.4.53 ॥
    - शमिता यज्ञे ॥6.4.54 ॥
7. अयादिप्रकरणम्
    - अयामन्तल्वाय्येत्न्विष्णुषु ॥6.4.55 ॥
    - ल्यपि लघुपूर्वात् ॥6.4.56 ॥
    - विभाषाऽपः ॥6.4.57 ॥
8. दीर्घप्रकरणम्
    - युप्लुवोर्दीर्घश्छन्दसि ॥6.4.58 ॥
    - क्षियः ॥6.4.59 ॥
    - निष्ठायामण्यदर्थे ॥6.4.60 ॥
    - वाऽक्रोशदैन्ययोः ॥6.4.61 ॥
9. ईत्वैत्वेत्वप्रकरणम्
    - ईद्यति ॥6.4.65 ॥
    - घुमास्थागापाजहातिसां हलि ॥6.4.66 ॥
    - एर्लिङि ॥6.4.67 ॥
    - वाऽन्यस्य संयोगादेः ॥6.4.68 ॥
    - न ल्यपि ॥6.4.69 ॥
    - मयतेरिदन्यतरस्याम् ॥6.4.70 ॥
10. अडाड् प्रकरणम्
    - लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः ॥6.4.71 ॥
    - आडजादीनाम् ॥6.4.72 ॥

- छन्दस्यपि दृश्यते ॥6.4.73 ॥
- न माङ्योगे ॥6.4.74 ॥
- बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि ॥6.4.75 ॥

11. इयङादेशप्रकरणम्
    - अचिश्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ ॥6.4.77 ॥
    - अभ्यासस्याऽसवर्णे ॥6.4.78 ॥
    - स्त्रियाः ॥6.4.79 ॥
    - वाऽम्शसोः ॥6.4.80 ॥
12. यणादेशप्रकरणम्
    - इणोयण् ॥6.4.81 ॥
    - एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य ॥6.4.82 ॥
    - ओः सुपि ॥6.4.83 ॥
    - वर्षाभ्वश्च ॥6.4.84 ॥
    - न भूसुधियोः ॥6.4.85 ॥
    - छन्दस्युभयथा ॥6.4.86 ॥
    - हुश्नुवोः सार्वधातुके ॥6.4.87 ॥
13. ऊत्वप्रकरणम्
    - ऊदुपधायाः गोहः ॥6.4.89 ॥
    - दोषो णौ ॥6.4.90 ॥
    - वा चित्तविरागे ॥6.4.91 ॥
14. ह्रस्वदीर्घप्रकरणम्
    - मितां ह्रस्वः ॥6.4.92 ॥
    - चिण्णमुलोर्दीर्घश्छन्दसि ॥6.4.93 ॥
    - खचि ह्रस्वः ॥6.4.94 ॥
    - ह्लादो निष्ठायाम् ॥6.4.95 ॥
    - छादेर्घेऽद्व्युपसर्गस्य ॥6.4.96 ॥
    - इस्मन्त्रन्क्विषु च ॥6.4.97 ॥
15. उपधालोपप्रकरणम्
    - गमहनजनखनघसां लोपः क्ङित्यनङि ॥6.4.98 ॥
    - तनिपत्योश्छन्दसि ॥6.4.99 ॥
    - घसिभसोर्हलि च ॥6.4.100 ॥
16. धि आदेशप्रकरणम्
    - हुझल्भ्यो हेर्धिः ॥6.4.101 ॥
    - श्रुशृणुपृकृवृभ्यश्छन्दसि ॥6.4.102 ॥
    - अङितश्च ॥6.4.103 ॥

17. लुक्हिलुक् च प्रकरणम्
    - चिणो लुक् ॥6.4.104 ॥
    - अतो हेः ॥6.4.105 ॥
    - उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात् ॥6.4.106 ॥
18. विकल्पोकारलोपप्रकरणम्
    - नित्यं करोतेः ॥6.4.108 ॥
    - ये च ॥6.4.109 ॥
19. अत्वात्वलोप-ईत्वेत्वादेशप्रकरणम्
    - श्नसोरल्लोपः ॥6.4.111 ॥
    - श्नाभ्यस्तयोरातः ॥6.4.112 ॥
    - ई हल्यघोः ॥6.4.113 ॥
    - इद् दरिद्रस्य ॥6.4.114 ॥
    - भियोऽन्यतरस्याम् ॥6.4.115 ॥
    - जहातेश्च ॥6.4.116 ॥
    - आ च हौ ॥6.4.117 ॥
    - लोपो यि ॥6.4.118 ॥
20. एत्वादेशप्रकरणम्
    - घ्वसोरेद्धावाभ्यासलोपश्च ॥6.4.119 ॥
    - अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि ॥6.4.120 ॥
    - थलि च सेटि ॥6.4.121 ॥
    - तृफलभजत्रपश्च ॥6.4.122 ॥
    - राधो हिंसायाम् ॥6.4.123 ॥
    - वा जॄभ्रमुत्रसाम् ॥6.4.124 ॥
    - फणां च सप्तानाम् ॥6.4.125 ॥
21. तृ आदेशप्रकरणम्
    - अर्वणस्त्रासावनञः ॥6.4.127 ॥
    - मघवा बहुलम् ॥6.4.128 ॥
22. सम्प्रसारणप्रकरणम्
    - वसोः सम्प्रसारणम् ॥6.4.131 ॥
    - वाह ऊठ् ॥6.4.132 ॥
    - श्वयुवमघोनामतद्धिते ॥6.4.133 ॥
23. अन्नन्त अकारलोपप्रकरणम्
    - अल्लोपोऽनः ॥6.4.134 ॥
    - षपूर्वहन्धृतराज्ञामणि ॥6.4.135 ॥
    - विभाषाङिश्योः ॥6.4.136 ॥

- न संयोगाद्वमन्तात् ॥6.4.137 ॥
- अचः ॥6.4.138 ॥
- उद ईत् ॥6.4.139 ॥

24. आत्वलोपप्रकरणम्
    - आतो धातोः ॥6.4.140 ॥
    - मन्त्रेष्वङ्यादेरात्मनः ॥6.4.141 ॥
    - ति विंशतेर्डति ॥6.4.142 ॥
25. टिलोपप्रकरणम्
    - टेः ॥6.4.143 ॥
    - नस्तद्धिते ॥6.4.144 ॥
    - अह्नष्टखोरेव ॥6.4.145 ॥
26. तद्धते लोपप्रकरणम्
    - हलस्तद्धितस्य ॥6.4.150 ॥
    - आपत्यस्य च तद्धितेऽनाति ॥6.4.151 ॥
    - क्यच्व्योश्च ॥6.4.152 ॥
    - बिल्वकादिभ्यश्छस्य लुक् ॥6.4.153 ॥
27. इष्ठन् कार्यप्रकरणम्
    - तुरिष्ठेमेयःसु ॥6.4.154 ॥
    - टेः ॥6.4.155 ॥
    - स्थूलदूरयुवह्रस्वक्षिप्रक्षुद्राणां यणादिपरं पूर्वस्य च गुणः ॥6.4.156 ॥
    - प्रियस्थिरस्फिरोरुबहुलगुरुवृद्धतृप्रदीर्घवृन्दारकाणां प्रस्थस्फवर्बंहिगर्वर्षिवृन्दाः ॥6.4.157 ॥
    - बहोर्लोपो भू च बहोः ॥6.4.158 ॥
    - इष्ठस्य यिट् च ॥6.4.159 ॥
    - ज्यादादीयसः ॥6.4.160 ॥
    - र ऋतो हलादेर्लघोः ॥6.4.161 ॥
    - विभाषर्जोश्छन्दसि ॥6.4.162 ॥
    - प्रकृत्यैकाच् ॥6.4.163 ॥
28. प्रकृतिभावप्रकरणम्
    - इनण्यनपत्ये ॥6.4.164 ॥
    - गाथिविदथिकेशिगणिपणिनश्च ॥6.4.165 ॥
    - संयोगादिश्च ॥6.4.166 ॥
    - अन् ॥6.4.167 ॥
    - ये चाऽभावकर्म्मणोः ॥6.4.168 ॥
    - आत्माध्वानौ खे ॥6.4.169 ॥
    - न मपूर्वोऽपत्येऽवर्म्मणः ॥6.4.170 ॥

29. निपातनप्रकृतिभावप्रकरणम्
    - ब्राह्मोऽजातौ ॥6.4.171 ॥
    - कार्म्मस्ताच्छील्ये ॥6.4.172 ॥
    - औक्षमनपत्ये ॥6.4.173 ॥
    - दाण्डिनायनहास्तिनाययननाथर्वणिकजैह्माशिनेयवाशिनायनिभ्रौणहत्यधैवत्यसारवैक्ष्वाकमैत्रेयहिरण्मयानि ॥6.4.174 ॥
    - ऋत्व्यवास्त्व्यवास्त्वमाध्वीहिरण्मयानिच्छन्दसि ॥6.4.175 ॥

## विशिष्टसूत्राणां कार्याणि

| क्र.सं | सूत्रम् | कार्यम् |
|---|---|---|
| 1 | शास इदङ्हलोः ॥6.4.34 ॥ | इत्वादेशः |
| 2 | शा हौ ॥6.4.35 ॥ | शाऽदेशः |
| 3 | हन्तेर्जः ॥6.4.36 ॥ | जाऽदेशः |
| 4 | आर्धधातुके ॥6.4.46 ॥ | अधिकारसूत्रम् |
| 5 | भ्रस्जोरोपधेयोरमन्यतरस्याम् ॥6.4.47 ॥ | आर्धधातुके रमागमः |
| 6 | अतो लोपः ॥6.4.48 ॥ | आर्धधातुके अत्वलोपः |
| 7 | स्यसिच्सीयुट्तासिषु भावकर्मणो रूपदेशेज्झनग्रहदृशां वा चिण्वदिट्च ॥6.4.62 ॥ | चिण्वदिडागमः |
| 8 | दीङोयुडचि क्ङिति ॥6.4.63 ॥ | युडागमः |
| 9 | आतोलोपइटि च ॥6.4.64 ॥ | आत्वलोपः |
| 10 | इरयो रे ॥6.4.76 ॥ | रे आदेशः |
| 11 | भुवो वुग् लुङ्लिटोः ॥ 6.4.88 ॥ | वुगागमः |
| 12 | लोपश्चाऽस्यान्यतरस्यां म्वोः ॥6.4.107 ॥ | विकरण उकारान्तस्य विकल्पेणलोपः |
| 13 | अत उत् सार्वधातुके ॥6.4.110 ॥ | अकारस्य उकारादेशः |
| 14 | न शसददवादिगुणानाम् ॥6.4.126 ॥ | एत्व निषेधसूत्रम् |
| 15 | भस्य ॥6.4.129 ॥ | भ संज्ञाधिकारसूत्रम् |
| 16 | पादः पत् ॥6.4.130 ॥ | पदादेशः |
| 17 | ओर्गुणः ॥6.4.146 ॥ | गुणादेशः |
| 18 | ढे लोपोऽकद्वाः ॥6.4.147 ॥ | ढे लोपः |
| 19 | यस्येति च ॥6.4.148 ॥ | भस्य इकाराकारलोपः |
| 20 | सूर्यतिष्यगत्स्यमत्स्यानां य उपधायाः ॥6.4.149 ॥ | पधायकारलोपः |

येषां सूत्राणां समानकार्याणि सन्ति, यत्र तु द्वे सूत्राणि अधिकसूत्राणि वा सन्ति, तेषां सूत्राणां समुदायरूपेण प्रकरणम् इति नाम अभिहितम्। यत्र तु एकस्यैव सूत्रस्य विशिष्टविधानम् अस्ति तस्य विशिष्टसूत्रम् इति रूपेण उल्लेखः क्रियते। ससमुदाये एकस्मिन्नेव प्रकरणे असिद्धवदुदाहरणानि न परिदृश्यन्ते। भिन्नभिन्नसमुदायाभ्यां भिन्नभिन्नप्रकरणाभ्यां वा एकैकं सूत्रं मिलित्वा असिद्धवत्कार्याय तिष्ठन्ति विशिष्टसूत्रयोश्चेति।

## भिन्नभिन्नप्रकरणविशिष्टसूत्रयोश्च असिद्धवदुदाहरणानि

असिद्धवल्लक्ष्यम् आदेशलक्षणप्रतिषेधार्थमुत्सर्गलक्षणभावार्थश्च -

**1. शाधि – उत्सर्गलक्षणभावार्थम्**

| हुझल्भ्यो हेर्धिः ॥6.4.101॥ | शाहौ ॥6.4.35॥ |
|---|---|
| प्रकरणम् - 16 | विशिष्टसूत्रम् - 2 |

शास्+हि इत्यस्यां स्थितौ द्वयोः सूत्रयोः (हुझल्भ्यो हेर्धिः, शा हौ) प्राप्तयोः परत्वात् तु हुझल्भ्यो हेर्धिः सूत्रमेव प्राप्तम्। तेन हेः धि-भावः जातः शास्धि इति। तत्र असिद्धवचनत्वात् धेः पुनः हि-भावत्वात् तत्पूर्वसूत्रं शाहौ प्राप्तुं योग्यं सञ्जातम्। तेन शासः शा-भावो जातः तस्मात् शाधि इति साधुरूपं भवति॥

**2. आगहि - आदेशलक्षणप्रतिषेधार्थम्**

| अनुदात्तोपदेशवनति॰ ॥6.4.37॥ | अतो हेः ॥6.4.105॥ |
|---|---|
| प्रकरणम् - 3 | प्रकरणम् - 17 |

आ+गम्+हि इत्यस्यां स्थितौ अनुदात्तोपदेशवनति॰ सूत्रेण मकारस्य अनुनासिकस्य लोपः भवति। तेन आगहि संजातः। अनुनासिकस्य मस्य लोपत्वाद् अदन्तत्वं लक्षणं जातं तस्माद् 'अतो हेः' इति सूत्रेण हिकारलोपः प्राप्यते। तेन अनिष्टरूपम् आग इत्येतत् भवेत्। तत्र पुनः असिद्धवचनात् मकारपरिदर्शनात् अनदन्तत्वात् 'अतो हेः' इति सूत्रस्य अप्राप्तिः भवति। तेन आगहि रूपं सिद्धं भवति।

**3. जहि - आदेशलक्षणप्रतिषेधार्थम्**

| हन्तेर्जः ॥6.4.36॥ | अतो हेः ॥6.4.105॥ |
|---|---|
| विशिष्टसूत्रम् - 3 | प्रकरणम् - 17 |

**4. गतः - आदेशलक्षणप्रतिषेधार्थम्**

| अनुदात्तोपदेशवनति॰ ॥6.4.37॥ | अतोलोपः ॥6.4.48॥ |
|---|---|
| प्रकरणम् - 3 | विशिष्टसूत्रम् - 6 |

जहि गतः इत्येतयोः सिद्धिः पूर्ववदेव भवति।

**5. शामिष्यते - उत्सर्गलक्षणभावार्थम्**

| स्यसिच्सीयुट्तासिषु भावकर्मणोरुपदेशेज्झनः ॥6.4.62॥ | णेरनिटि ॥6.4.51॥ |
|---|---|
| विशिष्टसूत्रम् - 7 | प्रकरणम् - 5 |

शमि णिजन्तत्वात् धातोः लृट् लकारे स्यप्रत्यये शमि+स्य इत्यस्यां स्थितौ द्वे सूत्रे प्राप्नुतः - णेरनिटि सूत्रेण णिज्लोपः स्यसिच्॰ सूत्रेण इडागमश्च। परत्वात्तु इडागमः एव संभवति। इडागमत्वात्तु णिज्लोपः न स्यात्। तेन शामयिष्यते इति अनिष्टरूपं संभवति, तन्न जायेत इति तत्र असिद्धवचनम्। तस्मात् परसूत्रेण जातस्य इडागमस्य अदर्शनात् पुनः णेरनिटि सूत्रं प्राप्नोति। तेन णिज्लोपत्वात् शामिष्यते इति शुद्धरूपं संजायते इति॥

**6. दध्रे - उत्सर्गलक्षणभावार्थम्**

| इरयोरे ॥6.4.76 ॥ | आतोलोप इटि च ॥6.4.64 ॥ |
|---|---|
| विशिष्टसूत्रम् - 10 | विशिष्टसूत्रम् -9 |

दधा+इरे इत्यस्यां स्थितौ द्वे सूत्रे प्राप्नुतः - 'इरयोरे' सूत्रेण इरेचः रे-आदेशः 'आतो लोप इटि च' इति सूत्रेण अजादौ परतः धायाः आत्वलोपश्च। परत्वात्तु रे-आदेशः भवति। तेन दधारे इत्येतद् अनिष्टरूपं सिद्धं चेत्तत्र असिद्धवचनत्वात् पूर्वसूत्रं प्राप्नोति। तदा आकारलोपत्वाद् दध्रे इति इष्टरूपं सिद्ध्यति।

**7. अकारि - उत्सर्गलक्षणभावार्थम्**

| चिणोलुक् ॥6.4.104 ॥ | लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः ॥6.4.71 ॥ |
|---|---|
| प्रकरणम् - 17 | प्रकरणम् - 10 |

कारि+त इत्यस्यां स्थितौ द्वे सूत्रे प्राप्नुतः - चिणो लुक् अस्मात् चिण उत्तरस्य तस्य लोपः लुङ्लङ्लृङ्० अनेन सूत्रेण ते परतः धातोः अडागमः। परत्वात्तु चिणो लुक् सूत्रेण तस्य लोपः सञ्जायते तेन कारि इत्येतदनिष्टरूपं सिद्धं भवेत् अतः असिद्धवचनात् तकारस्य दर्शनात् ते इति परे मत्वा अडागमः प्राप्यते इति ॥

**8. आयन् - उत्सर्गलक्षणभावार्थम्**

| इणो यण् ॥6.4.81 ॥ | आडजादीनाम् ॥6.4.72 ॥ |
|---|---|
| प्रकरणम् - 12 | प्रकरणम् – 10 |

इण्+अन् इत्यस्यां स्थितौ द्वे सूत्रे प्राप्नुतः - इणो यण् सूत्रेण इणः यण् आदेशः, आडजादीनाम् सूत्रेण लङ् परतः इणः आडागमश्च। परत्वात्तु यण्-आदेशः। तेन यन् इति अनिष्टरूपं तत्र असिद्धवचनत्वाद् इण् अजादिदर्शनाद् आडागमः प्राप्यते इति।

**9. आसन् - उत्सर्गलक्षणभावार्थम्**

| श्नसोरल्लोपः ॥6.4.111 ॥ | आडजादीनाम् ॥6.4.72 ॥ |
|---|---|
| प्रकरणम् - 19 | प्रकरणम् - 10 |

असु+अन् इत्यस्यां स्थितौ अपि पूर्ववद् द्वे सूत्रे प्राप्नुतः - श्नसोरल्लोपः अनेन असः अकारलोपः, अनजादित्वाद् आडजादीनाम् सूत्रेण आड् न प्राप्यते। तत्र पुनः असिद्धवचनत्वाद् अकारदर्शनाद् आट् प्राप्तः इति।

**10. कुरु - उत्सर्गलक्षणभावार्थम्**

| उतश्च प्रत्ययाद ॥6.4.106 ॥ | अत उत् सार्वधातुके ॥6.4.110 ॥ |
|---|---|
| प्रकरणम् - 17 | विशिष्टसूत्रम् - 13 |

कर्+उ+हि इत्यस्यां स्थितौ द्वयोः सूत्रयोः प्राप्तिः - 'उतश्च प्रत्ययाद०' सूत्रेण हेः लुक् प्राप्तः, 'अत उत् सार्वधातुके' अनेन सूत्रेण करः अस्य उकारः प्राप्तः यदि नित्यत्वात् तु पूर्वसूत्रेण उतश्च० सूत्रेण हेः लुक् भवति चेत् कर्+उ=करु इति अनिष्टरूपं सञ्जायेत अतः अत्र असिद्धवचनम्। तेन असिद्धत्वात् हेः सार्वधातुकपरत्वात् अस्य उः सञ्जायते। तेन कुरु इति सिद्ध्यति।

**11. कुर्वः - उत्सर्गलक्षणभावार्थम्**

| नित्यं करोतेः ॥6.4.108 ॥ | अत उत् सार्वधातुके ॥6.4.110 ॥ |
|---|---|
| प्रकरणम् – 18 | विशिष्टसूत्रम् - 13 |

कर्+उ+व इत्यस्यां स्थितौ द्वे सूत्रे प्राप्ते - 'नित्यं करोतेः' सूत्रेण उकारस्य लोपः, उकार-वकारयोः परतः करः अस्य उः प्राप्तः 'अत उत् सार्वधातुके' सूत्रेण। नित्यत्वात्तु उकारलोपः तस्य असिद्धत्वात् उकारदर्शनात् 'अत उत् सार्वधातुके' सूत्रेण करः अस्य उर्भवति। तस्मात् कुर्वः इति सिद्ध्यति।

**12. कुर्यात् - उत्सर्गलक्षणभावार्थम्**

| ये च ॥6.4.109 ॥ | अत उत् सार्वधातुके ॥6.4.110 ॥ |
|---|---|
| प्रकरणम् - 18 | विशिष्टसूत्रम् – 13 |

कर्+उ+यात् इत्यस्यां स्थितौ द्वे सूत्रे प्राप्ते - 'ये च' सूत्रेण उकारस्य लोपः प्राप्नोति 'अत उत्सार्वधातुके' इत्यनेन कर् इत्यस्य अकारस्य उत्वम्, नित्यत्वात् उकारलोपे उकारान्तत्वाभावात् करः अकारस्य उत्वम् अप्राप्तम् अतः असिद्धवदत्राभात् सूत्रेण उलोपस्य असिद्धत्वात् अत उत् सार्वधातुके सूत्रेण उकारः प्राप्नोति। तदा कुर्याद् इति इष्टरूपं सिद्ध्यति।

**13. एधि - उत्सर्गलक्षणभावार्थम्**

| घ्वसोरेद्धा॰ ॥6.4.119 ॥ | हुझल्भ्यो हेर्धिः ॥6.4.101 ॥ |
|---|---|
| प्रकरणम् -20 | प्रकरणम् -16 |

अस्+हि इत्यस्यां स्थितौ परत्वात् घ्वसोरेद्धा॰ सूत्रेण हौ परतः असः सकारस्य एत्वं भवति। एत्वभावाद् अजन्तत्वाद् अझल्त्वाद् 'हुझल्भ्यो॰' सूत्रस्य अप्राप्तिः तत्र असिद्धवदत्राभात् सूत्रेण कृतकार्यस्य एत्वस्य असिद्धत्वात् सकारस्य दर्शनात् झल्त्वात् 'हुझल्भ्यो॰' इति सूत्रस्य प्राप्तिः भवति। तेन इष्टं रूपं सिद्ध्यति इति ॥

**14. भूयान् - आदेशलक्षणप्रतिषेधार्थम्**

| बहोर्लोपो भू च बहोः ॥6.4.158 ॥ | ओर्गुणः ॥6.4.146 ॥ |
|---|---|
| प्रकरणम् – 27 | विशिष्टसूत्रम् - 17 |

बहु+ईयस् इत्यस्यां स्थितौ बहोर्लोपो॰ सूत्रेण बहोः बहोश्च उत्तरस्य भू-आदेशः लोपश्च भवति। तत्र बहोः भू-आदेशः ईयसः ईकारस्य लोपः तेन भोः ऊकारस्य ओर्गुणः सूत्रेण गुणः प्राप्नोति। तेन अनिष्टरूपं सिद्ध्येत तस्मात् असिद्धत्वेन पुनः बहोर्दर्शनाद् इष्टरूपं सिद्धं भवति।

**15. सौरी - आदेशलक्षणभावार्थम्**

| यस्येति च ॥6.4.148 ॥ | सूर्यतिष्यागत्स्य॰ ॥6.4.149 ॥ |
|---|---|
| विशिष्टसूत्रम् -19 | विशिष्टसूत्रम् - 20 |

सूर्य+अ+ई इत्यस्यां स्थितौ यस्येति च सूत्रेण अणः अकारस्य लोपः प्राप्नोति नित्यत्वात्। सूर्य+ई इत्यस्यां स्थितावपि पुनः सूर्यस्य अकारलोपः भवति। सूर्य्+ई इत्यस्यां स्थितौ असिद्धत्वाद्

अणः पुनः दर्शनात् तस्य तद्धितत्वात् तद्धिते ईति परतः पुनः सूर्यस्यापि अकारदर्शनात् तत्र यकार उपधात्वात् यकारलोपो भवति।

विशिष्टः - अत्र आदेशलक्षणत्वाद् उपधाभावत्वात् कार्यस्य लोपस्य यकारस्य प्रतिषेधः स्यात् परन्तु अत्र तस्य लोपः भवति। असिद्धवचनं तु कथ्यते आदेशलक्षणप्रतिषेधार्थमिति, किन्तु अत्र आदेशलक्षणभावार्थं भवति इति।

**16. शुना - आदेशलक्षणप्रतिषेधार्थम्**

| श्वयुवमघोनामतद्धिते ॥6.4.133 ॥ | अल्लोपोऽनः ॥6.4.134 ॥ |
|---|---|
| प्रकरणम् – 22 | प्रकरणम् - 23 |

श्वन्+आ इत्यस्यां स्थितौ श्वयुव० सूत्रेण श्वनः सम्प्रसारणम्। श्+उ+अ+न्+आ इत्यस्यां स्थितौ अल्लोपोऽनः सूत्रेण श्वनः अकारस्य लोपप्राप्तिवेलायाम् असिद्धत्वात् वकारस्य दर्शनात् न संयोगाद्वमन्तात्[9] सूत्रेण संयोगवकाराद् उत्तरस्य अनः अकारस्य लोपः न स्यादिति। तस्मात् न अकारलोपः जायते। परन्तु सम्प्रसारणाच्च[10] सूत्रेण उकारे पूर्वरूप एकादेशो भवति। एतानि भवन्ति असिद्धवतः उदाहरणानि।

| प्रकरणसंख्या | 16 | 3 | 17 | 5 | 10 | 12 | 19 | 18 | 20 | 27 | 22 | 23 |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| आवृत्तिः | 2 | 2 | 4 | 1 | 2 | 1 | 1 | 2 | 1 | 1 | 1 | 1 |

Table 21.2 : प्रकरणानाम् आवृत्तसंख्या

| विशिष्टसूत्रम् | 2 | 3 | 6 | 7 | 10 | 9 | 13 | 17 | 19 | 20 |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| आवृत्तिः | 1 | 1 | 1 | 1 | 1 | 1 | 3 | 1 | 1 | 1 |

Table 21.3 : विशिष्टसूत्राणाम् आवृत्तसंख्या

असिद्धवतः एतत्प्रक्रियादर्शनाऽनन्तरं साराशः प्रस्तूयते - असिद्धवदधिकारे 153 सूत्रेषु द्वात्रिंशत् सूत्राणां कार्ये कर्त्तव्ये षोडशवारम् असिद्धवदिति प्रयोगो जातः। येन ज्ञायते यत् असिद्धवदत्राऽभात् सूत्रं न भवेत् चेत् नूतनानि षोडशसूत्राणि विधातव्यानि। तदिदानीं एकेनैव सूत्रेण इष्टसिद्धिः साध्यते। लाघवं षोडशसूत्राणाम् इत्यलं पल्लवितेन ॥

## सङ्केताक्षरसूची

1. अष्टा. – अष्टाध्यायी
2. महा. – महाभाष्यम्

## सन्दर्भग्रन्थसूची


1. अष्टाध्यायी, पाणिनिः, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, 2013.
2. काशिका - वामनजयादित्यौ, रामलाल कपूर ट्रस्ट, 1998.
3. प्रथमावृत्तिः - ब्रह्मदत्तजिज्ञासुः, रामलाल कपूर ट्रस्ट, 1966.
4. महाभाष्यम् - पञ्चमखण्डः, पतञ्जलिः, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, 1988.


❀❀❀

[9] अष्टा., 6.4.137

[10] तत्रैव., 6.1.108

# भूमिच्छिद्र विधान का आभिलेखीय साक्ष्य

सत्य प्रकाश श्रीवास्तव

सारांश

हर्ष के ताम्रपत्र लेखों में भूमिदान से सम्बद्ध जो महत्त्वपूर्ण आभिलेखीय साक्ष्य प्राप्त होते हैं उनके विषय में इस शोध पत्र में प्रकाश डाला गया है।

(कूट शब्द : भूमिदान, अभिलेख, सम्राट् हर्ष, ताम्रपत्र, भूमिच्छिद्र न्याय)

.....

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भूमिच्छिद्र विधान के अन्तर्गत कहा गया है कि परती भूमि में पशुओं के लिए चरागाहें बनवानी चाहिए। जिस भूमि को वृक्ष-लता एवं मृग आदि के लिए छोड़ दिया गया हो, ऐसे दो कोस तक फैले हुए जंगल को वेदाध्यायी ब्राह्मणों को वेदाध्ययन एवं सोमयाग के लिए दे देना चाहिए। इसी प्रकार के तपोवनों को तपस्वियों के लिए दे देना चाहिए। ऐसे ही दो कोस परिमाण के मृगवन को राजा अपने विहार के लिए तैयार कराये। उस विहारवन के दो दरवाजे हों, उसके चारों ओर खुदी हुई खाई हो, उसमें स्वादिष्ट फल, लता गुल्म एवं वृक्ष हों, वह काँटेदार पेड़ों से रहित हो, उसमें कम गहरे सरोवर हों, मनुष्यों से परिचित मृग हों, मृगया के लिए ऐसे व्याघ्र, हाथी, हथिनी तथा उनके बच्चे रखे गये हों, जिनके नख एवं दाँत न हों[1] -

अकृष्यायां भूमौ पशुभ्यो विवीतानि प्रयच्छेत्। प्रदिष्टाभयस्थावर जङ्गमानि च ब्राह्मणेभ्यो ब्रह्मसोमारण्यानि, तपोवनानि च तपस्विभ्यो गोरुतपराणि प्रयच्छेत्। तावन्मात्रमेकद्वारं खातगुप्तं स्वादुफलगुल्मगुच्छमकण्टकिद्रुममुत्तानतोयाशयं दान्तमृगचतुष्पदं भग्ननखदंष्ट्रव्यालं मार्गायुकहस्ति हस्तिनीकलभं मृगवनं विहारार्थं राज्ञः कारयेत्।

वैजयन्ती कोश के अनुसार भी भूमिच्छिद्र न्याय के अन्तर्गत कृष्यायोग्या भूः अर्थात् कृषि के अयोग्य भूमि (land unfit for cultivation) बताया गया है।

मनुस्मृति के अनुसार परती भूमि जो कृषि के अयोग्य हो, उसको दान दिया जाता है और वह दान प्राप्त कर्ता अपने परिश्रम से उसे कृषि योग्य बना देता है और उस पूरी भूमि पर उसका पूरा स्वामित्व हो जाता है।[2]

पृथोरणिमां पृथिवीं भार्यापूर्व विदो विदुः।
स्थाणुछेदस्य केदारं यथाराल्यवतोमृगम्।।

शासकों द्वारा ब्राह्मणों को भूमिदान करने का उल्लेख गुप्तकाल से ही प्राप्त होता है। दान प्राप्त कर्ता का उस भूमि पर पूरा अधिकार हो जाता था। अतः दानदाता उसकी सुरक्षा के लिए चिन्तित रहता था। इसीलिए दानकर्ता मानसिक दबाव बनाने हेतु महाभारत में उल्लिखित वेदव्यास के वचनों को उद्धृत करता है, ताकि उसमें कोई व्यवधान उत्पन्न न करे, जैसा कुमारगुप्त प्रथम के धानैदह ताम्रपत्र लेख (गुप्त संवत् 113 = 432-33 ई.) में वर्णित है[3] -

.....भ्रातृकटक-वास्तव्य छन्दोग ब्राह्मण वराह स्वामिनो दत्तं। .....उक्तञ्च भगवता द्वैपायनेन।

[स्वदत्तां परदत्तां वा। यो हरेत् वसुन्धरां]
[स विष्ठायां कृमिर्भूत्वा पितृ] भिः सह पच्यते।

---

1 कौटिलीय अर्थशास्त्रम्, भूमिच्छिद्र विधानम्, प्रकरण 18, अध्याय 2, पृ.82

2 मनुस्मृति, 9/44

3 सलेक्ट इन्स्क्रिप्शन्स, जिल्द 1, डी.सी. सरकार, कलकत्ता, 1942, पृ. 280-282

Figure 22.1 : बाँसखेड़ा ताम्रपत्र लेख

षष्टिं वर्ष सहस्राणि स्वर्गे मोदति [भू] मिदः
[आक्षेप्ता चानुमन्ता च तान्येव नरके वसेत्]

इसी प्रकार का उद्धरण कुमार गुप्त प्रथम के ही दामोदरपुर ताम्रपत्र लेख[4] (गुप्त संवत् 124 = 444 ई.) और दामोदरपुर ताम्रपत्र लेख[5] (गुप्त संवत् 128 = 447 ई.) में प्राप्त होता है, परन्तु इन अभिलेखों में भूमिच्छिद्र न्याय के अनुसार दान देने का उल्लेख नहीं है। भूमिच्छिद्र न्याय के उल्लेख के साथ वैदिक ब्राह्मणों को दान देने का विवरण सर्वप्रथम पुष्यभूति सम्राट् हर्ष के बाँसखेड़ा ताम्रपत्र लेख (संवत् 22 = 628 ई.) में प्राप्त होता है, जिसके अनुसार परमभट्टारक महाराजाधिराज श्री हर्ष ने अहिच्छत्र भुक्ति में अंगदीप विषय के अन्तर्गत पश्चिमी पथक से सम्बद्ध मर्कटसागर ग्राम में अपने पूर्वजों के पुण्य और यश की अभिवृद्धि हेतु अग्रहार के रूप में भूमिच्छिद्र न्याय से भरद्वाज गोत्रीय ब्राह्मणों ऋग्वेदी भट्ट बालचन्द्र तथा सामवेदी भट्ट भद्रस्वामी को उनके पुत्र-पौत्रादि भावी सन्ततियाँ भोग के लिए जब तक सूर्य, चन्द्र तथा पृथ्वी विद्यमान है, तब तक के लिए दान दिया। हर्ष ने इस दान को अपने हस्ताक्षर - 'स्वहस्तोमम महाराजाधिराज श्रीहर्षस्य' से प्रमाणित भी किया है[6]

परममाहेश्वरो महेश्वर इव सर्व सत्वानुकम्पी परमभट्टारक महाराजाधिराज श्री हर्षः अहिच्छ-त्राभुक्तावड्ऽगदीय वैषयिक पश्चिमपथक सम्बद्ध मर्कटसागरे ..... सर्वपरिहृतपरिहारो विषयादुद्धृतपिण्डः पुत्र पौत्रानुगश्चन्द्रार्कक्षिति समकालीनो भूमिच्छिद्र न्यायेन ..... च पु-ण्ययशोभिवृद्धये भरद्वाजसगोत्र बह्वृचच्छन्दोग सब्रह्मचारि भट्टवाल चन्द्रभट्ट स्वामिभ्यांप्रतिग्रह धर्म-णाग्रहारत्वेन प्रतिपादितो।

पुनः हर्ष ने मधुबन ताम्रपत्र लेख (संवत् 25 = 631 ई.) के अनुसार श्रावस्ती भुक्ति में कुण्डधानी विषय के अन्तर्गत सोमकुण्डिका ग्राम में अपने पूर्वजों के पुण्य और यश की अभिवृद्धि

4 वही.- पृ.283-285

5 वही.- पृ.285-287

6 बाँसखेड़ा प्लेट आफ हर्ष, इपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द 4, जी. बूलर, पृ.208-211

Figure 22.2 : मधुबन ताम्रपत्र लेख

हेतु वामरथ्य ब्राह्मण के कूट शासन को निरस्त करके भूमिच्छिद्र न्याय से सावर्णि गोत्रीय सामवेदी भट्टवाल स्वामी तथा विष्णुवृद्ध गोत्रीय ऋग्वेदी भट्ट शिवदेव स्वामी को उनके पुत्र-पौत्रादि भावी सन्ततियों के भोग के लिए जब तक सूर्य, चन्द्र तथा पृथ्वी विद्यमान हैं, तब तक के लिए दान दिया[7]

परममाहेश्वरो महेश्वर इव सर्वसत्वानुकम्पी परम भट्टारक महाराजाधिराज श्री हर्षः श्रावस्ती भुक्तौ कुण्डधानी वैषयिक सोमकुण्डिका ग्रामे ..... सम्विदितं मयं सोमकुण्डिकाग्रामो ब्राह्मण वामरथ्येन कूटशासनेन भुक्तक इति विचार्य यतस्तच्छासनं भङ्ऽक्त्वा ..... पुत्रपौत्रानुगः चन्द्रार्ककक्षिति समकालीनो भूमिच्छिद्र न्यायेन ..... सावर्णिगोत्रच्छन्दोग सब्रह्मचारि भट्टवालस्वामि विष्णुवृद्ध सगोत्र बह्वृच सब्रह्मचारि शिवदेव स्वामिभ्यां प्रतिग्रह धर्मेणाग्रहारत्वेन प्रतिपादितः।

हर्ष के मधुबन ताम्रपत्र लेख से पता चलता है कि सोमकुण्डिका ग्राम में एक वामरथ्य ब्राह्मण ने अपने कूट शासन से राजकीय भूमि पर अधिकार कर लिया था। कूट शासन से राजकीय भूमि पर अधिकार करने की परम्परा आज भी यत्र-तत्र देखने को मिलती है। सतर्क सम्राट् हर्ष ने उस वामरथ्य ब्राह्मण के कूट शासन को निरस्त करके वैदिक ब्राह्मणों को दान दे दिया। मधुबन ताम्रपत्र लेख में उल्लिखित श्रावस्ती की पहचान सर्वं ज्ञात है। कुण्डधानी विषय और सोमकुण्डिका ग्राम की पहचान डॉ. ओम प्रकाश लाल श्रीवास्तव ने क्रमशः गोरखपुर (उत्तर प्रदेश) जनपद में स्थित ढाणाकुण्ड और सोहगौरा से की है। उन्होंने हर्षचरित के कथन के आधार पर सोहगौरा में 631 ई. में हर्ष के साथ बाण और मयूर की भेंट की घटना भी प्रमाणित की है[8]

हर्ष के तीसरे ताम्रपत्र लेख का प्राप्ति-स्थान श्री विरजानन्द दैवकरणि[9] ने पंजाब के नाभा

---

7 मधुबन प्लेट आफ हर्ष, द ईयर 25, इपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द 7, एफ. कीलहार्न, पृ.155-160

8 हर्ष के मधुबन ताम्रपत्र लेख में वर्णित ग्राम सोमकुण्डिका की पहचान तथा हर्ष एवं बाण की भेंट, श्रीवास्तव, ओम प्रकाश लाल, जर्नल ऑफ द गुजरात रिसर्च सोसाइटी, जिल्द 62, 2017, पृ. 42-44

9 महाराज हर्षवर्द्धन का ताम्रपत्र और मोहर, विरजानन्द दैवकरणि, प्राचीन ताम्रपत्र एवं शिलालेख, गुरुकुल

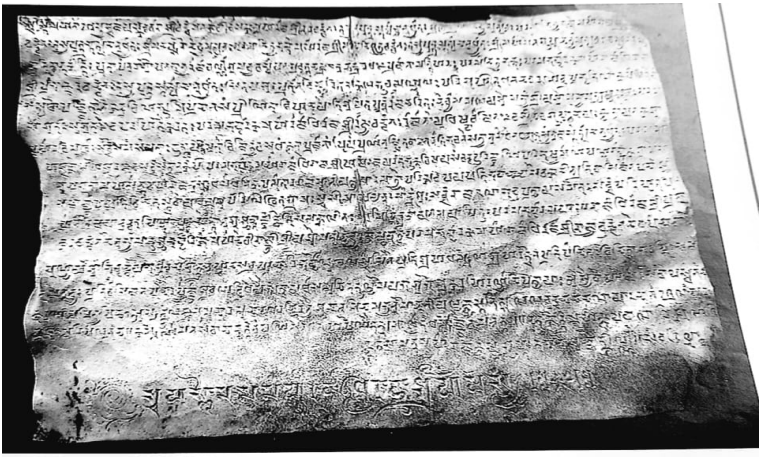

Figure 22.3 : कुरुक्षेत्र ताम्रपत्र लेख

नगर और और डॉ. आर.सी. शमा[10] आदि ने कुरुक्षेत्र बताया है। वर्तमान में यह ताम्रपत्र लेख वाराणसी में 'ज्ञानप्रवाह संस्थान' में सुरक्षित है। इस पर संवत् 53 अंकित है, जिसके अनुसार इसका समय 659 ई. निर्धारित होता है।[11]

इस ताम्रपत्र के अनुसार हर्ष ने अपने पूर्वजों के पुण्य और यश की अभिवृद्धि हेतु जयरत भुक्ति के अन्तर्गत डरिक्काणि विषय में स्थित पण्डरांगक ग्राम में भूमिच्छिद्र न्याय से भार्गव गोत्रीय बह्वृच शाखाध्यायी श्री भट्ट उलूखल स्वामी एवं उनके शिष्यों को उनके पुत्रपौत्रादि के भोग के लिए जब तक चन्द्र, सूर्य और पृथ्वी विद्यमान है, तब तक के लिए दान दिया। हर्ष ने बाँसखेड़ा अभिलेख की भाँति इस दान को भी अपने हस्ताक्षर - 'स्वहस्तोमम महाराजाधिराज श्री हर्षस्य' से प्रमाणित किया है -

परममाहेश्वरो महेश्वर इव सर्वसत्वानुकम्पी परम भट्टारक महाराजाधिराज श्री हर्षः जयरत भुक्त विषय सम्बद्ध डरिक्काणि परिभाष्यमाण पण्डराङ्गक ग्रामे ..... पुत्रपौत्रानुगश्चन्द्रार्क क्षिति समकालीनः भूमिच्छिद्र न्यायेन .....भार्गव सगोत्र बह्वृच सब्रह्मचारि भट्टोलूखल स्वामिने प्रतिग्रह धर्मेणाग्रहारत्वेन प्रतिपादितः।

इस प्रकार हर्ष के तीनों ताम्रपत्र लेख भूमिच्छिद्र विधान के महत्त्वपूर्ण आभिलेखीय साक्ष्य

---

झज्जर हरयाणा, 2009, पृ.36-41

10 न्यू कापर प्लेट आफ हर्ष, आर.सी. शर्मा, ज्ञान प्रवाह, नं. 5 (2001-2002) पृ.223-232

11 हर्ष के कुरुक्षेत्र ताम्रपत्र लेख की संशोधित तिथि संवत् 53 (659 ई.), ओम प्रकाश लाल श्रीवास्तव, कलावैभव, जिल्द 15, 2005-2006, पृ.73-75. (श्री दैवकरणि ने हर्ष के इस ताम्रपत्र लेख में उत्कीर्ण तिथि को 53 तथा शर्मा आदि ने 23 पढ़ा है। श्रीवास्तव ने भी संवत् 53 ही पढ़ा है, किन्तु दैवकरणि ने इसे विक्रम संवत् माना है, जबकि श्रीवास्तव ने 53 को हर्ष संवत् बताया है)

हैं, जिनसे पता चलता है कि हर्ष ने भूमिदान के माध्यम से वैदिक परम्परा को पुष्ट करने का महत् कार्य किया है।

## सन्दर्भग्रन्थसूची


1. कौटिलीय अर्थशास्त्रम्, वाचस्पति गैरोला (व्याख्या.), चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, 1984
2. मनुस्मृति, पं. रामेश्वर भट्ट, निर्णयसागर यन्त्रालय, मुम्बई, 1922
3. महाराज हर्षवर्धन का ताम्रपत्र और मोहर, विरजानन्द दैवकरणि, प्राचीन ताम्रपत्र एवं शिलालेख, गुरुकुल झज्जर, हरियाणा, 2009
4. हर्ष के कुरुक्षेत्र ताम्रपत्र लेख की संशोधित तिथि संवत् 53 (659 ई.), ओम प्रकाश लाल श्रीवास्तव, कलावैभव, पृ.73-75, 2005-2006
5. हर्ष के मधुबन ताम्रपत्र लेख में वर्णित ग्राम सोमकुण्डिका की पहचान तथा हर्ष एवं बाण की भेंट, ओम प्रकाश लाल श्रीवास्तव, जर्नल आफ द गुजरात रिसर्च सोसाइटी, पृ.42-44, 2017
6. *Banskhera Plate of Harsha; the year 22*, G. Buhler, in Epigraphia Indica, (ed.) E Hultzsch, Vol IV, Office of the supperintendent of Government printing, Calcutta, 1896-97
7. *Madhuban Plate of Harsha; the year 25*, F. Kielhorn, in Epigraphia Indica, (ed.) E Hultzsch, Vol VI, The director general archeological survey of India, New Delhi, 1981
8. *Select Inscriptions. Bearing On Indian History And Civilization.* Dines Chandra Sircar (ed.), Volume 1, University Of Calcutta, Calcutta, 1942


❀❀❀

# Survey of Holism and Multidisciplinary approach in Higher Education with reference to Indian Knowledge Systems

Pooja

Abstract

*In this paper, we will try to situate and analyse the elements of holism prescribed in Indian Knowledge Systems regarding teaching and learning. As an ideal of education, holism sets its teleology in the realisation of self and the multidisciplinary approach is construed as a model where different fields of learning are interconnected with one other. How the interplay of both these elements would catalyse a process to necessitate holistic development of an individual would be the focus of our paper. We would also seek to demonstrate that a multidisciplinary approach runs corollary to the ideal of holistic education in NEP 2020. Apart from fluidity in career choice, better material and social life, and participation in nation-building, NEP 2020 carries a tool in its inventory to commence a process to capacitate individuals more and more in terms of their actualization of higher human capabilities that not only would consist in acquiring higher cognitive worth, but also in the awareness of human values.*

*(Keywords: Indian Knowledge Systems, holistic, multidisciplinary, NEP 2020)*

.....

The existence of modern man is dawn and dusted with severe crisis in meaning. In the reign of social media and contemporary form of capitalist consumerism, human beings no longer remain the consumer end but have become the product themselves. In this age of alienated form of survival, the parochial state of self-identity and lived meaning that humanity founds itself with, cannot defy the parallel of Neo-Marxist idea of one-dimensional man. Herbert Marcuse in his work 'One-Dimensional Man', underlies the totalitarian and absolute influence of capitalist structural circumstances over the man's ability to critically think and decide his true needs that are already heavily informed by capitalist structure of society and media. He writes -

"One-dimensional man does not know it's true needs because its needs are not its own—they are administered, superimposed, and heteronomous; it is not able to resist domination, nor to act autonomously, for it identifies with public behaviour and imitates and submits to the powers that be. Lacking the power of authentic self-activity, one-dimensional man submits to increasingly total domination."[1]

[1] Herbert Marcuse, One-Dimensional Man

The usage of this neo-Marxist idea of a one-dimensional man highlights a certain existential opaque that might share a causal factor of prevailing one-dimensional education with it. Education being one-dimensional suggests that the ideal of education is driven towards seeing humans as another valuable form of resource. The phrase "human resources" encapsulates this very idea that human beings remain instrumental to something and not an end in itself, whether in the achievement of ends; in the achievement of candidature for appropriate citizenhood or other societal roles, material possessions, participation in social roles, or as a depository for intellectual growth. The contrary to one-dimensional educational practise is the ideal of holistic education. John P. Miller defines holistic education as that mode of the education system that attempts to "nurture the development of the whole person. This includes the intellectual, emotional, physical, social, aesthetic, and spiritual. Perhaps the defining aspect of holistic education is the spiritual"[2]. Holistic education is generally associated with spiritual quest by many. But we maintain that functionality of the term spiritualism in holistic assignment of education might unnecessarily invite the stigma of theism. In its Indian philosophical counterpart, the word spiritualism finds its translative correlative in *adhyātma.* The term spiritualism exercises a third person narrative. In the Western thinking module, spiritualism signifies an entity that a person comes to have while *adhyātma* functions as a signifier to first- person in the sense of "upon oneself" viz a viz ātmani. The term adhyātma is a composite of the prefix *adhi* and *ātman* which means upon/over oneself or for the sake of oneself i.e., ātmani and ātmaneḥ[3] respectively. In this sense, holism comprises of knowing and ultimately realising oneself. We now arrive at the discussion of the structure of holistic approach in knowledge systems. One of the purposes of higher education qua education is served when we leave the solace of seeking things in a multitude of air-tight separate compartments. The veracity of proposed system of higher education is corroborated in apprehending objects of knowledge as more connected than ever; instating the belief that knowledge constitutes not in ultimately branched segments but exists as a unified whole. Emphasis on a multidisciplinary approach runs corollary to holistic vision and it acts as an instrument to realise the latter objective. For learners, multidisciplinary structure of education can "deepen their skills as they understand to systematically select subjects as one interrelated whole rather than unrelated subjects"[4]. Knowledge, to reiterate, is a unified inter-

2 Miller, Holistic Learning and Spirituality in Education.

3 Bhāratīya Darśana Bṛhatkośa, vol. 1, pg. 124

4 Demystifying Approaches of Holistic and Multidisciplinary Education for Diverse Career Opportunities: NEP 2020 in The Indian Journal of Science and Technology, vol 15(14).

connected web. An expert having specialisation in any specific subject should know the place of the latter in this interconnected whole and should perceive and derive relations with other structures of knowledge. Let us illustrate by the example of German physicist Werner Heisenberg who is said to quote- "After the conversations about Indian philosophy, some of the ideas of Quantum Physics that had seemed so crazy suddenly made much more sense". Robert J. Oppenheimer, an American physicist is believed to have said that "access to the *Veda*s is the greatest privilege this century may claim over all previous centuries". Here, comes the acknowledgment for the purport of holism. Thus, holism as a model of education may act as a robust project to inculcate a sense of connectedness between sciences, cultures and ages. The introduction to multidisciplinary model and courses on Indian Knowledge Systems in NEP 2020 will hopefully pave the way to realise this end.

Digressing a bit, we note that Abraham Maslow proposed his theory of Hierarchy of Needs in 1943. Maslow's Hierarchy of Needs was a psychological theory based on a five-stage model that highlighted how human beings develop and evolve in their understanding quantified by lived experiences through time to generally progress towards self-actualization. The latter is achieved when one progresses towards the ascending hierarchy of physiological needs, safety needs, love and belonging and lastly esteem, all in the chronological order. This thought process was irrigated on Indian lands hundreds of years ago as a system of *puruṣārtha*, i.e., stage of *dharma*, *artha*, *kāma* and *mokśa*.[5] When one successfully realizes the starting three prior ends of life, the state of self-realisation comes, naturally or normatively in the form of *mokśa*. The last *puruṣārtha* consists in the questioning of oneself and transcending himself. Peeking through the channels of history, the focus of education in India since the ancient times had always been to elevate one's consciousness. Man is a Being who always seeks to transcend itself. The vision of traditional education right from the Vedic ages resided in the ultimate teleology of man-making.

Hence, the real essence of higher education hence, is not only to inform the individual of various ways to strengthen his capability in fulfilling the economic, social and career ambitions but also help develop a strong sense of concretised identity. *Bhāratiya dārśanic* systems exemplified this fact by making the hierarchical distinction between *parā* and *aparā vidyā*. The *aparā vidyā* constitutes those species of knowledge systems that are dispersed in various branches of sciences, examples are history, *Āyurveda*, astrology, *kalpavidyā*, the *rāśī* (science of numbers), *bhūtvidyā*. *Parā vidyā* transcends *aparā vidyā* as the highest form of knowledge while being a unified whole in the form of

[5] Śikśā: An Indian Perspective, C. Saluja

*Brahmavidyā.* Swami Vivekananda said: "The ideal of all education, all training should be man-making. Education is not the amount of information that is put into your brain and runs riot there, undigested, all your life. We must have life-building, man-making and character-making assimilation of ideas." Education is not identical with formal intellectual training; that men can become educated without being intellectuals, and that intellectuals are not necessarily educated men. Grundtvig wrote:

"Scholarship is one thing, and education and fitness for life is another; they may well be united, but not in the case of the majority; they must not be hostile to each other. Scholarship will lead scholars astray if it is not confronted by an education of the people which oblige it to take present-day life into consideration, just as education of the people will soon degenerate into a superficial polish if scholarship does not keep it alive."

Einstein commented in the same fashion that school is not meant to promote future officials, scholars, lecturers, barristers and authors, but human beings. Whitehead similarly remarked, "The school course of classics must be planned so that a definite result (a great view of life) is clearly achieved. There has been too great a product of failures on a road to an ambitious ideal of scholarship." This is the ideal of holism in higher education found in the belief of various scholars. The primary objective of holism in Indian higher education does not lie only in the acquisition of various skills and learning of values for the sake of fruitful management in social and professional lives. These are the secondary results of holistic form of learning. In the bigger picture it also retains the fact that individuals can now and ought to choose their mode of personal development.

Holistic education is found in two binary versions -

- Learning and doing,
- Learning and be-ing.

Learning and doing: Analysing various instances in Indian thought systems regarding the comprehensive learning and knowledge models, we find that in the Sanskrit prose work of *Naiṣadhīyacaritam*, Sriharsha describes his protagonist Nala as an adept scholar in fourteen sciences. These fourteen sciences are four *Vedā*-s, six *Vedāntā*-s *śikṣā, kalpa, vyākaraṇa, jyotiṣa, nirukta, chanda, purāṇa, mīmāṃsā, nyāya* and *Dharmaśāstrā*-s. Not only he is described as well versed in these sciences, his knowledge is qualified by the hierarchy of *adhīti, bodha, ācaraṇa* and *prasāra*; that can be roughly translated as comprehension, understanding, application and finally, propagation respectively.

adhītibodhācaraṇapracāraṇairdaśāśvatayaḥ praṇayannupādhibhiḥ,

caturdaśatvaṃ kṛtavānkutaḥ svayaṃ na vedmi vidyāsu caturdaśasvayam"[6]

This comprehensive practise of learning, practising and propagating in hierarchical stages that also resonates with the basic idea of Bloom's taxonomy[7]. Sage Patañjali has posited a slightly different chronological pattern as – *adhīti, bodha, prasāra* and *ācaraṇa*, with practise *(ācaraṇa)* coming later to sharing of knowledge pool *(prasāra).* The vocational learning and practising of sixty-four arts are well mentioned in Vātsyāyana's *Mahābhāṣya* that include painting, architecture, sculptor, even the art of fabricating foreign sophistry. Lord Kṛṣṇa and Balarāma are said to be learnt in all these sixty-four arts.

Learning and Being: The import of philosophical concepts like - "*Brahma veda Brahmaiva bhavati*"[8] evolves around learning and being. True knowledge should generate a change in one's disposition, in the very fabric of one's being. We have focused too much on knowing that, we should also focus on knowing how. *Upaniṣada*-s that form the culmination of *Veda*-s are the genesis of Indian practise of spiritual quest. The etymological meaning of the word *Upaniṣad*, brings the holistic binary of learning and practise. *Upaniṣad* means "sitting near a teacher, from *upa* "by" and *ni-ṣad* "sitting down near", refers to the disciple sitting down near the teacher while receiving spiritual knowledge. Monier-Williams' Sanskrit Dictionary notes – "According to native authorities, *Upaniṣad* means setting to rest ignorance by revealing the knowledge of the supreme spirit."[9] Hence system of *Upaniṣad*, also known by *Vedānta* means therefore the sitting down of the disciple near his teacher in a devoted manner to receive instruction about the highest Reality and the identification of oneself with it which loosens all doubts and destroys all ignorance of the disciple. The composite of reception, thinking and reflection as *śravaṇa*, *manana* and *nidhidhyāsana* is also found in *Upaniṣad* tradition.

The biconditionality of praxis and theory is a part and parcel of holistic approach, it is construed in the fourfold mode of knowledge known as *anubandha-catuṣṭaya* in Indian thinking. These are chronologically in the order of *adhikārī, viṣaya, prayojana* and *saṃbaṃdha.*[10] Preparing a student for education is embodied in the concept of *adhikārī.* Before entering into any field of knowledge, one must be in acquisition of necessary qualifica-

6 Naiṣadhīyacaritam, section1, prose 4.

7 See appendix to Bloom's Taxonomy of Educational Objectives Handbook One, pp. 201-207.

8 "he who knows Brahma verily becomes Brahma", Mundaka Upaniṣada, 3.2.9

9 Monier-Williams 1976, p. 201

10 'tatra anubandho nāma adhikāriviṣaya sambandhaprayojanāni', Vedāntasāra, verse. 5

tions. Śaṃkarācārya's enumerated the four necessary qualifications *(sadhana-catuṣṭaya)* in *Vivekacūḍāmaṇi.* For a learner to be successful in the science of *Advaita*, one must be qualified of four criteria i.e., *sādhana-catuṣṭaya* which is an exemplary of *adhikārī.* These four qualifications are *viveka* (discriminative knowledge), *vairagya* (non-attachment to worldly pursuits), *ṣaṭasampat* (six virtues) and *mumukśutva* (longing to transcend one's present state of being).

A passage from *Chāndogya Upaniṣad* also emphasizes the necessary condition of qualifications for self-realisation:

vedānte paramaṃ guhyaṃ purākalpe pracoditam,
nāpraśāntāya dātavyaṃ nāputrāyāśiṣyāya vā punaḥ."[11]

"The highest form of knowledge in *Vedānta* delivered in a former age, should not be given to one whose passions have not been subdued, not even to the son or disciple, if he is unworthy."

The second in the *anubandha catuṣṭaya* is *viṣaya* which implies the clarification of the subject matter to be taken in the learning process. What the subject matter entails and is associated with, forms the crux of *viṣaya.* To gain full insight into the concerned *śātra*-s and the clarification of the end to be achieved is grasped in *prayojana.* The role of *adhikārī* and *prayojana* plays an important role in the process of learning. *Adhikārī* is a preparatory state for learners and *proyajana* is the objective of learning as well teaching. The last one is *saṃbandha* which shows the organic interrelatedness between all these three elements in teaching and intertextuality in the context of learning.

## A Philosophical Survey of Holistic and Multidisciplinary Approach in Education Policies

The genesis of multidisciplinary approach in Higher Education can be first marked in the theme of "General Education" in Independent India's first education know as Radhakrishnan Commission of 1948-49. General education, opines the report, would open the "windows in many directions, so that most of the varied experiences of his life, and most elements of his environment (would be included)." [12] General education was simply meant to act as an inclusion of the interdisciplinary mode of education in the college level. In this particular scope of higher education, the importance of learning in other disciplines is deemed as important along with the specialization. It was proposed in the report that the student, apart from his subject can cover other related sciences.

[11] Sveāśvataropaniṣad, 6.1.22

[12] The Report of the University Education Commission (December 1948 – August 1949) Volume I

Suffice it to say that the commission had cautioned against the educational structure and practise of over-specialisation. The report mentioned the statement of J Gasset regarding the traditional pattern of producing over-specialized educated masses.

"The man who does not possess the concept of physics (not the science of physics proper, but the vital idea of the world which it has created), and the concept afforded by history, and by biology, and the scheme of speculative philosophy, is not an educated man. Unless he should happen to be endowed with exceptional qualities, it is extremely unlikely that such a man will be in-the fullest sense a good doctor, a good judge, or a good technical expert. But it is certain that all the other things he does in life, including part of his profession itself which transcend its proper academic boundaries, will turn out unfortunately."[13] Wendell Berry, in a similar fashion mentions the report, has pointed out as what he calls, "itinerant professional vandals," persons devoid of any sense of place or stewardship, or inkling of why these are important.[14]

The above statements may have an archaic presentation of ideas but deliver the idea of general education perfectly. It paves the way for the holistic as well as multidimensional scope of education. In the National Education Policy of 2020, we find the realisation of this ideal. The terms 'multidisciplinary' and 'holistic' are mentioned seventy-two and forty-one times respectively in the report of NEP 2020. NEP 2020 becomes India's 21st-century education policy approved by the Union Cabinet on 29th July 2020 which replaces the National Policy on Education of 1986. Policy proposed the establishment of Model universities for holistic and multidisciplinary education, at par with IITs, IIMs to be known as MERUs (Multidisciplinary Education and Research Universities). These universities will aim to attain the highest standards for multidisciplinary education across India. Apart from fluidity in career choice, better material and social life, and participation in nation building, the New Education Policy 2020 carries a tool in its inventory to commence a process to capacitate individuals more and more in terms of their actualisation of higher human capabilities. New Education Policy takes upon this project by stating three main strategies [NEP 2020, pg.5]-

- flexibility in subject' choice,
- no hard separations and hierarchies between arts and sciences, curricular and extra-curricular activities and vocational and academic streams,
- and lastly the ideal of holistic and multidisciplinary education.

[13] Wendell Berry, Home Economics (San Francisco: North Point Press, 1987), p. 50

[14] Miller, New Directions in Education, pg. 53

## Conclusion

Holistic education can be conceived in two varieties, first as an ideal of education that sets its teleology in the realisation of self and the projects undertaken in the life and the second is construed as a model of education. Spirit of holistic education is scattered throughout Indian thought systems and consistently accentuate on the notion that the true essence of education lies in necessitating holistic development of an individual for the sake of individual only whereby multidisciplinary approach serves this cause.

## References


1. *Advaita Vedanta: An Introduction*, Arvinda Sharma, Motilal Banarasidass Publishers Private Limited, Mumbai, 2004.
2. *Bhāratīya Darśana Bṛhatkośa*, Vol. 1, Bacchulal Awasthi, Sharda Publishing House, Delhi, 1997.
3. *Demystifying Approaches of Holistic and Multidisciplinary Education for Diverse Career Opportunities: NEP 2020*, B Shukla, 15(14), pg. 603-607, M Joshi, R Sujatha, T. Beena, & H. Kumar, Indian Journal of Science and Technology, 2022.
4. *Educational System of the Ancient Hindus*, Santosh Kumar, Central Archaeological library, Kolkata, 1930.
5. *Holistic Education: An Analysis of Its Ideas and Nature.* Scott S. Forbes, Resource Centre for Redesigning. Vol. 8, New York, 2003.
6. *Holistic Learning and Spirituality in Education*, John P Miller, Sunny Press, State University of New York, Albany, 2005.
7. *Indian Philosophy of Education*, Humayun Kabir, Asia Publishing House, London, 1961.
8. *International Handbook of Holistic Education*, John P Miller, Kelli Nigh, Marni Binder, Bruce Novak, Sam Crowell (ed.), Routledge Publications, New York. 2016.
9. *Naishdhiyacharitam*, Mahakavi Sriharsha (Pratham Sarg), Mohandas Pant (Ed.) Motilal Banarsidass Publishers. India, 2011.
10. *National Education Policy 2020*, https://www.mhrd.gov.in/sites/upload_files/mhrd/files/nep/NEP_Final_English.pdf referred on 10/08/2020.
11. *One-Dimensional Man*, Hebert Marcuse, Routledge Classics, 2nd ed, New York, 1991.
12. *Samanya Dharma and Spirituality*, Vol 120(9), N. Sridhar, Prabuddha Bharata, 2015.

13. *Śikśā: An Indian Perspective*, C. K Saluja, Sanskrit Promotion Foundation, 2022.

14. *The Hindu Quest for the Perfection of Man*, Troy Wilson Organ, Wipf & Stock Publishers, India. 1998.

15. *The ten principal Upanishads*, S. P Swami and W.B Yeats, Faber and Faber Limited, London. 1937.

16. *Vedanta Paribhasha: Of Dharmaraja Adhvarindra*, Swami Madhavananda, (ed.)., Advaita Ashrama Publications, 14th ed., Bengaluru, 2019.

17. *Vivekacūḍāmaṇi of Śaṃkarācārya*, Swami Chinmayananada, Chinmaya Foundation, India, 2006.

❀❀❀

# विवेकचूडामणिदृशा व्यक्तित्वस्वरूपसमीक्षणम्

मनीषजुगरानः

सारांश

व्यक्तित्वस्य मानवजीवने अत्यन्तं महत्त्वपूर्णं स्थानं विद्यते। व्यक्तित्वकारणेन मानवः समाजे पूज्यापूज्यो भवति। पाश्चात्त्यविद्वद्भिः सिङ्गमण्ड्फ्रायड्-युङ्ग्-आल्पोर्ट्प्रभृतिभिः मनोविज्ञानशास्त्रस्याङ्गतया व्यक्तित्वं परिभाषितम्। तेषामेव सिद्धान्तानधिकृत्य साम्प्रतं व्यक्तित्वं परिभाष्यते। मनोविज्ञानं वस्तुतः दर्शनशास्त्रादेव समुद्भूतं वर्तते। भारतीयदर्शनपरम्परायामपि नैकैः विद्वद्भिः मनोविज्ञानसम्बन्धीनि तत्त्वानि विशदरूपेण विवेचितानि वर्तन्ते। भारतीयदर्शनेषु वेदान्तदर्शनमतीव प्रसिद्धं वर्तते। भगवत्पादाद्यशङ्कराचार्येण विरचितो विवेकचूडामणिरिति वेदान्तशास्त्रस्य प्रसिद्धो ग्रन्थो वर्तते। ग्रन्थेऽस्मिन्नद्वैतवेदान्तस्य निर्वचनं कृतं वर्तते। विवेकचूडामणौ ब्रह्मनिष्ठामहत्त्वं ज्ञानोपलब्ध्युपायाः आत्मज्ञानमहत्त्वं पञ्चप्राणानां स्वरूपम् अन्नमयादीनां पञ्चानां कोशानां स्वरूपं माया तदृणानां वर्णनञ्चादयो गूढवेदान्तविषयाः अत्यन्तं सरलतया प्रतिपादिताः वर्तन्ते। ग्रन्थेऽस्मिन् व्यक्तित्वसम्बन्धीन्यपि नैकानि तत्त्वानि निरूपितानि वर्तन्ते। विवेकचूडामणौ व्यक्तित्वस्य स्वरूपं कीदृशं प्रतिपादितं वर्तते इति समीक्षितुं शोधपत्रमिदं व्यलेखि।

(कूट शब्दाः - वेदान्तदर्शनम्, विवेकचूडामणिः, व्यक्तित्वम्, सत्त्वगुणप्रधानं, विशुद्धसत्त्वप्रधानं)

.....

## भूमिका

दृश्यते यथार्थतत्त्वमनेन इति दर्शनम् अर्थात् यद्वारा वस्तुनः यथार्थस्वरूपस्य दर्शनं भवति तद्दर्शनमिति कथ्यते। प्राचीनकालादेव भारतीयज्ञानपरम्परायां यथार्थतत्त्वं निरूपयितुं नैकैः ऋषिमहर्षिभिः महापुरुषैश्च सप्रमाणं स्वीयविचाराः प्रतिपादिताः। प्राच्याचार्याणामिमे विचारा ब्रह्माण्डस्य प्रकृतेश्च यथार्थस्वरूपप्रतिपादकाः दर्शनसंज्ञया परिभाषिताः। एषु कैश्चिद् वेदाधारेण कैश्चिच्च तदितरस्वतन्त्रविचाराः प्रतिपादिताः। वेदप्रामाण्यं स्वीकुर्वतां दर्शनम् आस्तिकदर्शनत्वेन प्रसिद्धम्। आस्तिकदर्शनत्वेन साङ्ख्यं योगो न्यायो वैशेषिको वेदान्तो मीमांसा चेति षड् दर्शनानि प्रसिद्धानि। वेदप्रामाण्यानङ्गीकुर्वतां दर्शनं नास्तिकमिति प्रसिद्धम्। नास्तिकदर्शनत्वेन जैनदर्शनं बौद्धदर्शनं चार्वाकदर्शनञ्चेति त्रीणि प्रसिद्धानि।

## वेदान्तदर्शनम्

वैदिकदर्शनस्य अन्तिमसिद्धान्ताः वेदान्तदर्शनत्वेन प्रसिद्धाः। वेदानाम् अन्तिमो भागः वेदान्तः इति प्रसिद्धः। समग्रमपि वेदान्तदर्शनं ब्रह्मसूत्र-भगवद्गीता-उपनिषदाधारितं वर्तते। श्रीमद्भगवद्गीतायां ब्रह्मसूत्रे चापि उपनिषदामेव सारः वर्णितो वर्तते। तस्माद् वेदान्तेऽपि उपनिषत्सु वर्णितस्य ब्रह्मसाक्षात्कारिणः गूढज्ञानस्यैव सारः प्रतिपादितो विद्यते, अतः उक्तमपि - वेदान्तो नाम उपनिषत्प्रमाणमिति। अस्य दर्शनस्य प्रवर्तकः महर्षिः बादरायणः वर्तते।

वेदान्तमते जगतोऽस्य आधारभूतं यथार्थतत्त्वं ब्रह्मास्ति। तच्च अखण्डम् एकरसञ्च वर्तते। प्रत्येकं प्राणिनः अन्तरात्मनि तस्य निवासोऽस्ति, तदेव विश्वस्य निमित्तम् उपादानञ्च कारणं वर्तते इत्यमुं सिद्धान्तमाधारीकृत्य महर्षिणा बादरायणेन ब्रह्मसूत्रस्य रचना कृता। महर्षिबादरायणेन उपनिषत्सु विद्यमानं ब्रह्मविषयकं गूढं ज्ञानं ब्रह्मसूत्रे निबद्धम्। ब्रह्मसूत्रमेव अधिकृत्य परवर्तिकाले नैकैः आचार्यैः वेदान्तविषयकं स्वीयं-स्वीयं मतं प्रतिपादितम्। येषु आचार्यशङ्कराचार्यस्य अद्वैतवादः, श्रीरामानुजाचार्यस्य विशिष्टाद्वैतवादः, मध्वाचार्यस्य द्वैतवादः, निम्बार्काचार्यस्य द्वैताद्वैतवादः, वल्लभाचार्यस्य शुद्धाद्वैतवादश्चादयः प्रसिद्धाः वर्तन्ते। वेदान्तानुसारं निःश्रेयसः प्राप्तिः (ब्रह्मसाक्षात्कारः मोक्षप्राप्तिः वा) परं प्रयोजनं वर्तते। वेदान्तदर्शने कर्मणः अपेक्षया ज्ञानस्य अत्यधिकं महत्त्वं स्वीकृतम्। जीवस्य यदा स्वीयस्थितिज्ञानं सम्पद्यते तदैव सः मुक्तो भवति। भगवत्पादशङ्करस्य ब्रह्म सत्यं

जगन्मिथ्या तत्त्वमसि अहं ब्रह्मास्मि इत्यादीनि वेदान्तस्य महावाक्यानि प्रसिद्धानि वर्तन्ते। वेदान्त-शास्त्रस्य ब्रह्मसूत्रम्, भगवद्गीता, सर्वा अप्युपनिषदः, वेदान्तसारः, वेदान्तपरिभाषा, विवेकचूडामणिः चेत्यादयो ग्रन्था प्रसिद्धा वर्तन्ते। एषु ग्रन्थेषु अध्ययनेऽस्मिन् विवेकचूडामणिदृशैव व्यक्तित्वविचारः समीक्ष्यते।

## विवेकचूडामणिः

श्रीमदाद्यशङ्कराचार्येण अद्वैतवादस्य प्रतिष्ठापनाय ब्रह्मसूत्राणां श्रीमद्भगवद्गीतायाश्च भाष्यं कृतम्। एतदतिरिच्य भगवत्पादैः श्रीशङ्कराचार्यैः वेदान्तविचाराणां लोके प्रचाराय नैके ग्रन्थाः विरचिताः। एतेषु ग्रन्थेषु विवेकचूडामणिः अत्यन्तः प्रसिद्धो वर्तते। विवेकचूडामणौ वेदान्तशास्त्रस्य गहनविषयाः अतीवसरलभाषया उदाहरणदृष्टान्तादिभिः निरूपिता वर्तन्ते। ग्रन्थेऽस्मिन् आत्मबोधः, मुक्त्यर्थो यत्नविशेषः, साधनचतुष्टयसम्पत्तिः, मोक्षहेतवः, आत्मानात्मविवेचनम्, स्थूलसूक्ष्मकारणश-रीरनिरूपणम्, परमात्मा, बन्धः, बन्दमोक्षोपायाः, अन्नमयादिपञ्चकोशविवेकः, ब्रह्मस्वरूपम्, समाधिः, जीवन्मुक्तलक्षणञ्चेति विषयाः विवेचिता वर्तन्ते।

## व्यक्तित्वम्

व्यक्तित्वं व्यक्तेः सकलगुणानां समुच्चयरूपं वर्तते। यदाधारेण व्यक्तिः समाजे स्वीयमभूतपूर्वं समायोजनं विदधाति आल्पोर्टमहोदयानुसारं व्यक्तित्वं व्यक्तेः तेषां मनोदैहिकगुणानां गत्यात्मकं संघ-टनं वर्तते यच्च वातावरणेन सह तस्य अपूर्वं समायोजनं विदधाति।[1] मार्टनप्रिंसवर्यस्यानुसारं व्यक्तित्वं सर्वविधजन्मजातप्रकृतीनाम् आवेगानां प्रवृत्तीनां मूलप्रवृत्तीनामिच्छानामनुभवानाञ्च द्वारा अर्जितानां गुणानां योगो वर्तते।[2]

## व्यक्तित्वस्य निर्धारककारकाणि

व्यक्तित्वस्य निर्धारककारकाणि सामान्यतः द्विविधानि वर्तन्ते - आन्तरिककारकाणि बाह्य-कारकाणि च। एतैः द्विविधकारकैः व्यक्तित्वं विकसितं प्रभावितञ्च भवति।

1. **आन्तरिककारकाणि** - व्यक्तेः शारीरिकसंरचना, बुद्धिः अभिप्रेरणा, महत्त्वकाङ्क्षास्तरः, इच्छाशक्तिः, रुचिः, अभिरुचिः, दृष्टिकोणः, स्वभावः, संवेगात्मकविकासः, सामाजिककुशल-लता चेति व्यक्तित्वस्य आन्तरिककारकत्वेन वर्तन्ते।
2. **बाह्यकारकाणि** - व्यक्तेः वातावरणेन सम्बद्धानि कारकाणि व्यक्तित्वस्य बाह्यकारकाणि कथ्यन्ते, यथा - भोजनं, जलं, भौतिकं वातावरणं, विद्यालयः, समाजः सांस्कृतिकवातावरणञ्चेति।

## व्यक्तित्वस्य भेदाः

विभिन्नैः मनोवैज्ञानिकैः स्व-स्वसिद्धान्तानुसारं व्यक्तित्वस्य भेदाः प्रतिपादिताः। हिप्रोक्रेट-स्वर्येण व्यक्तित्वं चतुर्विधं विभक्तम् -

1. कफप्रवृत्तिव्यक्तित्वम् (Choleric)
2. कृष्णपित्तव्यक्तित्वम् (Melancholic)

---

1 विवेकचूडामणिः – 74-75

2 तत्रैव - 90

3. पीतपित्तव्यक्तित्वम् (Phlegmatic)
4. अधिकरक्तव्यक्तित्वञ्च (Sanguinic)

क्रेशमरमहोदयस्यानुसारं स्थूलकायः (Pyknic Type) पुष्टकायः (Athletic Type) लम्बकायः (Leptosomatic Type) चेति त्रिविधं व्यक्तित्वं वर्गीकृतम्। युंगमहोदयेन अन्तर्मुखि-व्यक्तित्वं बहिर्मुखिव्यक्तित्वञ्चेति द्विविधं व्यक्तित्वं प्रतिपादितम्। एवं बहुभिः मनोवैज्ञानिकैः व्यक्तित्वं निरूपितम्। भारतीयपरम्परायान्तु व्यक्तित्वस्य सामान्यतः भेदत्रयं स्वीकृतम् - सात्त्विकं राजसिकं तामसिकञ्चेति।

## उद्देश्यम् (Objects)

विवेकचूडामणिग्रन्थदृशा व्यक्तित्वस्वरूपसमीक्षणात्मकस्य शोधपत्रस्यास्य उद्देश्यानि निर्धा-रितानि –

- विवेकचूडामणिग्रन्थदृशा व्यक्तित्वस्य समीक्षणम्।
- विवेकचूडामणिग्रन्थदृशा व्यक्तित्वस्य आधारभूतकारकाणां समीक्षणम्।
- विवेकचूडामणिग्रन्थदृशा व्यक्तित्वभेदानां समीक्षणम्।
- विवेकचूडामणिग्रन्थे प्रतिपादितानां व्यक्तित्वभेदानां शैक्षिकदृष्ट्या समीक्षणम्।

## शोधविधिः

अध्ययनस्यास्य प्रकृतिः गुणात्मिका वर्तते अपि च अध्ययनेऽस्मिन् ग्रन्थविशेषस्य विश्लेषणं व्यधायि। अतः विषयप्रकृतिमादाय अध्ययनेऽस्मिन् विषयवस्तुविश्लेषणविधिः प्रयुक्तः।

## विवेकचूडामणिग्रन्थदृशा व्यक्तित्वस्वरूपम्

विवेकचूडामणिग्रन्थः वेदान्तशास्त्रस्य ग्रन्थोऽतः अन्यवेदान्तग्रन्थवत् अस्मिन्नपि व्यक्तित्वस्य आधारत्वेन स्थूलशरीरं सूक्ष्मशरीरं कारणशरीरम् आत्मतत्त्वञ्चेति स्वीकृतानि।

## स्थूलशरीरम्

स्थूलशरीरन्तु अस्थि-मज्जा-मेद-पलरक्त-चर्मादिभिः सप्तभिर्धातुभिः हस्तपादाद्यङ्गैरु-पाङ्गैश्च निर्मितं विद्यते। एतद्धि ममेति भावाभिव्यक्तमोहस्य आश्रयत्वेन विद्यत इति विद्वद्भिः कथितम्। यथानिरूपितं ग्रन्थेऽस्मिन् –

मज्जास्थिमेदः पलरक्तचर्मत्वगाह्वयैर्धातुभिरेभिरन्वितम्।
पादोरुवक्षोभुजपृष्ठमस्तकैरङ्गैरुपाङ्गैरुपयुक्तमेतत्॥
अहं ममेति प्रथितं शरीरं मोहास्पदं स्थूलमितीर्यते बुधैः।
नभोनभस्वद्दहनाम्बुभूमयः सूक्ष्माणि भूतानि भवन्ति तानि॥[3]

जीवात्मा कर्माधारेण तत्फलं भुङ्क्ते। कर्मणाञ्चाधारेणैव नवं जन्म प्राप्नोति। मृत्योः परं जीवात्मा सूक्ष्मशरीरे विद्यमानो यथायोग्यं शरीरं प्राप्तुं प्रतीक्षते। स्वीयकर्मफलं भोक्तुं स्थूलशरीरमेव साधनं

[3] तत्रैव - 92

वर्तते, यस्य च प्रतीतिः केवलं जाग्रदवस्थायामेव भवति। अनेनैव स्थूलशरीरेण जाग्रदवस्थायां स्थूलपदार्थानाम् अपि च सुखदुःखरोगादीनाञ्चापि अनुभूतिर्भवति। यथोक्तं विवेकचूडामणौ –

पञ्चीकृतेभ्यो भूतेभ्यः स्थूलेभ्यः पूर्वकर्मणा।
समुत्पन्नमिदं स्थूलं भोगायतनमात्मनः।
अवस्था जागरस्तस्य स्थूलार्थानुभवो यतः॥[4]

गृहस्थस्य यथा सर्वविधव्यापाराश्रयत्वेन गृहं वर्तते तद्वद् इदमपि स्थूलशरीरं व्यक्तेः बाह्यजगता साकं व्यापाराश्रयस्थलं वर्तते। यथा प्रोक्तम् –

सर्वोऽपि बाह्यसंसारः पुरुषस्य यदाश्रयः।
विद्धि देहमिदं स्थूलं गृहवद्गृहमेधिनः॥[5]

मनुष्यस्य स्थूलशरीरं रक्तास्थिमासादियुक्तं वर्तते परञ्चास्य सञ्चालनं सूक्ष्मशक्तयः विदधति। ताश्च सर्वाः शक्तयः सूक्ष्मशरीरेऽन्तर्भवन्ति।

## सूक्ष्मशरीरम्

पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि, पञ्च प्राणाः, पञ्च महाभूतानि, अन्तःकरणचतुष्टयम्, अविद्या, कामः कर्म चेत्यष्टकं सूक्ष्मशरीरं कथ्यते। यथा प्रतिपादितम् –

वागादिपञ्च श्रवणादिपञ्च प्राणादिपञ्चाभ्रमुखानि पञ्च।
बुद्ध्याद्यविद्यापि च कामकर्मणी पुर्यष्टकं सूक्ष्मशरीरमाहुः॥[6]

इदं सूक्ष्मशरीरमपञ्चीकृतैर्महाभूतैः निर्मितं वर्तते इदमेव लिङ्गशरीरमपि कथ्यते। इदं वासनायुक्तं वर्तते अपि च जीवस्य पूर्वजन्मनः कर्मफलजन्यानां सुखदुःखादीनामनुभवञ्चापि कारयति। स्वस्वरूपस्य अज्ञानकारणाद् आत्मनोऽनादिरुपाधिर्वर्तते। यथा निरूपितम् -

इदं शरीरं शृणु सूक्ष्मसंज्ञितं लिङ्गं त्वपञ्चीकृतभूतसम्भवम्।
सवासनं कर्मफलानुभावकं स्वाज्ञानतोऽनादिरुपाधिरात्मनः॥[7]

आचार्यशङ्करानुसारं यथा स्थूलशरीरस्याभिव्यक्तिः केवलं जाग्रदवस्थायां भवति तथैव सूक्ष्मशरीरस्याभिव्यक्तिः स्वप्नावस्थायां भवति। अस्यामवस्थायामात्मतत्त्वं पूर्णतः सूक्ष्मशरीरमाध्यमेन कार्यं विदधाति। जाग्रदवस्थायान्तु तत् स्थूलसूक्ष्माभ्यामभिव्यक्तिं विधत्ते।

---

4 तत्रैव - 98
5 तत्रैव - 99
6 तत्रैव - 128
7 तत्रैव - 129

## कारणशरीरम्

कारणशरीरं कालातीतं वर्तते। इदमेवाज्ञानस्य भ्रमस्य च कारणं विद्यते। कारणशरीरस्य अविद्या, अव्यक्तशक्तिः, माया, अज्ञानं यथार्थबोधश्च पर्यायाः वर्तन्ते। मायाशब्दः एतदर्थमत्यन्तं प्रसिद्धो वर्तते। इदं कारणशरीरं माया वा अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिर्वर्तते। इयं माया अनादिः त्रिगुणात्मिका च वर्तते। केवलं सूक्ष्मबुद्धिमानवो हि तदनुमानं तत्कार्याधारेण कर्तुमर्हति। अनयैव समग्रं विश्वमुत्पन्नं वर्तते। यथा प्रतिपादितं विवेकचूडामणौ -

अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिरनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका परा।
कार्यानुमेया सुधियैव माया यया जगत्सर्विमिदं प्रसूयते॥[8]

अस्यैव कारणशरीरस्य सत्त्वरजस्तमोगुणाः वर्तन्ते, येषामाधारेण इदं कार्यं विदधाति अपि च एतदीयकार्यैः अस्याभिज्ञानं जायते।

सत्त्वरजस्तमोगुणैर्निरूपितं शरीरमिदम् आत्मनः कारणशरीरं वर्तते। अस्याभिव्यक्तिः सुषुप्त्यवस्थायां भवति, यस्याञ्च इन्द्रियाणां बुद्धेश्च सर्वाः वृत्तयो लीनाः भवन्ति। यथा निरूपितम् -

अव्यक्तमेतत्त्रिगुणैर्निरुक्तं तत्कारणं नामशरीरमात्मनः।
सुषुप्तिरेतस्य विभक्त्यवस्था प्रलीनसर्वेन्द्रियबुद्धिवृत्तिः॥[9]

## आत्मतत्त्वम्

यद्वारा जीवो जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु जायमानां सर्वामपि घटनां विजानाति, यद्वारा च बुद्धेः तद्वृत्तीनां भावमभावञ्च जानाति , यद्वारा अहम्भावः प्रकाशितो भवति तद्धि आत्मतत्त्वं वर्तते। यथोक्तम् -

यो विजानाति सकलं जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु।
बुद्धितद्वृत्तिसद्भावमभावमहमित्ययम्॥[10]

यः स्वयं सर्वं पश्यति किन्तु यं कोऽपि द्रष्टुं नार्हति, यश्च बुद्ध्यादिकं प्रकाशयति परञ्च यं बुद्ध्यादिकं न प्रकाशयति स एव आत्मा इति। यथा प्रतिपादितम् -

यः पश्यति स्वयं सर्वं यं न पश्यति कश्चन।
यश्चेतयति बुद्ध्यादिं न तु यं चेतयत्ययम्॥[11]

येन समग्रं विश्वं व्याप्तं भवति परं यञ्च किञ्चन न व्याप्नोति, यस्य च प्रकाशेन समग्रविश्वं तत्प्रतिबिम्बत्वेन प्रकाशितं भवति स एव आत्मा वर्तते। अपि यस्योपस्थितिमात्रेण शरीरं मनो बुद्धिः

---

8 तत्रैव 130-133
9 तत्रैव 135-136
10 तत्रैव - 110
11 तत्रैव - 119

स्वीयानि कार्याणि सम्पादयन्ति अपि च यन्माध्यमेन अहङ्कारादारभ्य स्थूलशरीरं यावद् इन्द्रियविषयाः सुखादयः स्पष्टरूपेण घटवद् ज्ञायन्ते स आत्मा इति। अयं परमसत्यान्तरात्मा वर्तते, पुराणपुरुषो वर्तते। सदैव एकरूपोऽखण्डानन्दानुभूतिरूपश्च वर्तते तथापि विभिन्नबुद्धिवृत्तिषु प्रतिबिम्बितो भवति, यस्याज्ञया च वागिन्द्रियाणि प्राणाश्च स्वीयानि कार्याणि विदधति। यथा निरूपितम् -

येन विश्वमिदं व्याप्तं यन्न व्याप्नोति किञ्चन।
आभारूपमिदं सर्वं यं भान्तमनुभात्ययम्॥
यस्य सन्निधिमात्रेण देहेन्द्रियमनोधियः।
विषयेषु स्वकीयेषु वर्तन्ते प्रेरिता इव॥
अहङ्कारादिदेहान्ता विषयाश्च सुखादयः।
वेद्यन्ते घटवद्येन नित्यबोधस्वरूपिणा॥
एषोऽन्तरात्मा पुरुषः पुराणो निरन्तराखण्डसुखानुभूतिः।
सदैकरूपः प्रतिबोधमात्रो येनेषिता वागसवश्चरन्ति॥[12]

अयमात्मा मनोऽहङ्कारयोः विकाराणां शरीरेन्द्रियप्राणैश्च कृतानां कार्याणां ज्ञाता भवति। तप्तलौहपिण्डे विद्यमानाग्निवद् अयं न काञ्चित् चेष्टां करोति न च अस्मिन् कश्चन विकारो जायते। अयञ्चात्मा न जायते न च म्रियते न वर्धते न क्षीयते न चास्मिन् कश्चन विकारो जायते शरीरे नष्टेऽपि न नष्टो भवति। अयञ्च घटाकाशवत् स्वतन्त्रो वर्तते।[13]

एवं विवेकचूडामणौ स्थूलशरीरं, सूक्ष्मशरीरं, कारणशरीरम् आत्मतत्त्वञ्चेति चत्वारि तत्त्वानि व्यक्तित्वस्य आधारत्वेन वर्तन्ते। वस्तुतः व्यक्तित्वं व्यक्तेः एकपक्षमधिकृत्य नापितु सर्वपक्षानधिकृत्यैव व्याख्यायते। अत इमानि चत्वारि व्यक्तित्वस्य मूलभूतानि भवन्ति। एतेषां तत्त्वानां यथा- यथा विकासो भवति तथैव व्यक्तित्वस्यापि विकासो जायते।

## व्यक्तित्वभेदाः

वेदान्तानुसारं सत्त्वरजस्तमोगुणाः प्रत्येकं मानवे भवन्ति। कस्मिंश्चित् सत्त्वस्य प्राधान्यं कस्मिंश्चिद् रजसः प्राधान्यं कस्मिंश्चिच्च तमसः प्राधान्यं भवति। इमे एव गुणा व्यक्तेः जीवनं प्रभावयन्ति अपि च एतेषामाधारेणैव व्यक्तिः कार्येषु प्रवृत्ता तस्माच्च निवृत्ता भवति। अत एतेषां गुणानामाधारेण व्यक्तित्वभेदाः स्वीकर्तुं शक्यन्ते।

विवेकचूडामणिदृशा सत्त्वगुणप्रधानं मिश्रसत्त्वगुणप्रधानं, विशुद्धसत्त्वगुणप्रधानं रजोगुणप्रधानं तमोगुणप्रधानञ्चेति व्यक्तित्वस्य पञ्च प्रकाराः भवितुमर्हन्ति। इमे भेदाः सोदाहरणं निरूप्यन्ते - **सत्त्वगुणप्रधानम्** - सत्त्वगुणः शुद्धः निर्मलश्च वर्तते। सत्त्वगुणः सूर्य इव समग्रं विश्वं प्रकाशयति। सत्त्वगुणयुक्तः जनः ध्यानसाधनादिभिः अन्तःकरणशुद्धये सर्वदा प्रयतमानो भवति। ईदृशः जनः सात्त्विकः धर्मपारायणश्च भवति। सत्त्वगुणप्रधानव्यक्तित्वस्य सद्गुणसंवर्धनस्य आत्मानुभूतेश्च इच्छा भवति। ईदृशजनस्य अवधानसामर्थ्यं विषयग्रहणसामर्थ्यज्ञाधिकं भवति। ईदृशजनाः स्वभावेन अतीव शान्ताः सत्कार्येष्वेव प्रवृत्ताः भवन्ति। सत्त्वगुणो यथा परिभाषितो विवेकचूडामणौ -

सत्त्वं विशुद्धं जलवत्तथापि ताभ्यां मिलित्वा सरणाय कल्पते।
यत्रात्मबिम्बः प्रतिबिम्बितः सन् प्रकाशयत्यर्क इवाखिलं जडम्॥[14]

---

12 तत्रैव - 120

13 तत्रैव - 122

14 तत्रैव - 121

**मिश्रसत्त्वगुणप्रधानम्** - सत्त्वगुणे यदा रजस्तमसी मिश्रिते भवतः किन्तु सत्त्वस्य मात्रा अधिका भवति तदा तत् मिश्रसत्त्वमित्युच्यते। मिश्रसत्त्वगुणयुक्ते जने स्वीयश्रेष्ठताभावो न भवति। ईदृशः जनः कृत्रिमव्यवहारं न प्रदर्शयति अपि च मनोवाक्कायकर्मभिः कस्मैचित् दुःखं न ददाति। मिश्रसत्त्वगुणप्रधानः क्षमाशीलः, आर्जवयुक्तः, निर्मलान्तःकरणः, अहङ्कारशून्यः, श्रद्धावान्, भक्तिमान्, मुमुक्षुः, असद्वस्तुभ्यः विरक्तः, दैवीसम्पद्युक्तः एकान्तप्रियश्च भवति।

मिश्रस्य सत्त्वस्य भवन्ति धर्मास्त्वमानिताद्या नियमा यमाद्याः।
श्रद्धा च भक्तिश्च मुमुक्षुता च दैवी च संपत्तिरसन्निवृत्तिः ॥[15]

**विशुद्धसत्त्वगुणप्रधानम्** - विवेकचूडामणिदृशा यदा सत्त्वं स्वीयविशुद्धस्वरूपे भवति अर्थाद् रजस्तमसोः तस्मिन् कश्चनपि संयोगो न भवति तदा तद्युक्तस्य जनस्य अर्थात् विशुद्धसत्त्वप्रधानजनस्य अन्तःकरणं पूर्णतः शुद्धं भवति। ईदृशजने प्रसन्नता, स्वात्मानुभूतिः, परमशान्तिः, तृप्तिः, प्रकृष्टो हर्षः परमात्मनिष्ठा चेति गुणाः भवन्ति, तथा एभिर्गुणैः सः नित्यानन्दम् अनुभवति। यथा प्रतिपादितं विवेकचूडामणौ -

विशुद्धसत्त्वस्य गुणाः प्रसादः स्वात्मानुभूतिः परमा प्रशान्तिः।
तृप्तिः प्रहर्षः परमात्मनिष्ठा यया सदानन्दरसं समृच्छति ॥[16]

**रजोगुणप्रधानम्** - रजसः विक्षेपशक्तिः कार्यरूपा वर्तते। इयमेव विक्षेपशक्तिः सर्वासां क्रियाणां मूलस्रोतत्वेन वर्तते। रजोगुणादेव मनोविकाराः रागद्वेषादयः दुःखादयश्च निरन्तरं जायन्ते। यथा प्रतिपादितम् -

विक्षेपशक्ती रजसः क्रियात्मिका यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी।
रागादयोऽस्याः प्रभवन्ति नित्यं दुःखादयो ये मनसो विकाराः ॥[17]

रजोगुणप्रधाने जने कामः, क्रोधः, लोभः, दम्भः, असूया, अहङ्कारः, ईर्ष्या मत्सरादयः भवन्ति, येषां कारणात् मानवस्य सांसारिकप्रवृत्तय उत्पद्यन्ते, अयं रजोगुणः एव बन्धस्य कारणं वर्तते। यथोक्तं विवेकचूडामणौ -

कामः क्रोधो लोभदम्भाभ्यसूयाहङ्कारेर्ष्यामत्सराद्यास्तु घोराः।
धर्मा एते राजसाः पुम्प्रवृत्तिर्यस्मादेतत्तद्रजो बन्धहेतुः ॥[18]

**तमोगुणप्रधानम्** - यद्द्वारा वस्तुनः स्वस्वरूपाभिन्नप्रतीतिः भवति सा तमोगुणस्य आवरणशक्तिर्वर्तते। मनुष्यस्य संसारेऽस्मिन् असकृदागमनस्य कारणं अयमेव गुणो वर्तते अपि च विक्षेपशक्तेश्चापि प्रसारहेतुरपि वर्तते। यथोक्तम् -

15 तत्रैव - 113
16 तत्रैव - 114
17 तत्रैव - 115
18 तत्रैव - 116

एषावृत्तिर्नाम तमोगुणस्य शक्तिर्यया वस्त्ववभासतेऽन्यथा।
सैषा निदानं पुरुषस्य संसृतेर्विक्षेपशक्तेः प्रसरस्य हेतुः ॥[19]

अत्यन्तं बुद्धिमान् शास्त्रज्ञः पण्डितः सूक्ष्मार्थज्ञातोऽपि तमोग्रस्तो भवति, तदा बहुधा बोधनेनापि स सम्यग् नावगच्छति। तमोगुणप्रधानजनः भ्रमारोपितपदार्थानेव सत्यं मत्वा तेष्वेव आसक्तो भवति ईदृशी तमोगुणस्य शक्तिर्वर्तते। यथा निरूपितः तमोगुणः -

प्रज्ञावानपि पण्डितोऽपि चतुरोऽप्यत्यन्तसूक्ष्मार्थदृक्
व्यालीढस्तमसा न वेत्ति बहुधा सम्बोधितोऽपि स्फुटम्।
भ्रान्त्यारोपितमेव साधु कलयत्यालम्बते तद्गुणान्
हन्तासौ प्रबला दुरन्ततमसः शक्तिर्महत्यावृतिः ॥[20]

तमोगुणप्रधानजनस्य सम्यक् निर्णयं कर्तुं क्षमता न वर्तते। इयमेव अक्षमता अभावना इति प्रतिपादिता विवेकचूडामणौ। अपि च ईदृशजनः भ्रमवशाद् असत्यमपि सत्यं मनुते। इयं विपरीतभावनेत्युच्यते। तमोगुणप्रधानजनः वस्तुनः अस्पष्टधारणान्तु निर्माति किन्तु तदस्तित्वे तस्य श्रद्धा न भवति, इयमेव असम्भावना कथ्यते। ईदृशस्य जनस्य वस्तुनः अस्तित्वे सन्देहो भवति, अपि च वस्तु वर्तते न वेति इति संशयो भवति इयञ्च शास्त्रे विप्रतिपत्तिः कथिता। यथा प्रतिपादितं विवेकचूडामणौ -

अभावना वा विपरीतभावना संभावना विप्रतिपत्तिरस्याः।
संसर्गयुक्तं न विमुञ्चति ध्रुवं विक्षेपशक्तिः क्षपयत्यजस्रम् ॥[21]

तमोगुणप्रधाने जने अज्ञानम्, आलस्यं, जडता, निद्रा, प्रमाद, मूढता चेति तमोगुणधर्मा विद्यन्ते। ईदृशजनः निद्रालुवत्, स्तम्भवत् पाषाणवच्च भवति। यथा प्रतिपादितं विवेकचूडामणौ -

अज्ञानमालस्यजडत्वनिद्रापुरमादमूढत्वमुखास्तमोगुणाः।
एतैः प्रयुक्तो न हि वेत्ति किञ्चिन्निद्रालुवत्स्तम्भवदेव तिष्ठति ॥[22]

## निष्कर्षः

विवेकचूडामणिदृशा व्यक्तित्वस्वरूपस्य समीक्षणमध्ययनेऽस्मिन् व्यधायि। अध्ययनस्य निष्कर्षत्वेन ज्ञातं यत् विवेकचूडामणौ व्यक्तित्वं तद्वेदाश्च दार्शनिकदृशा वेदान्तदृशा च निरूपिता वर्तन्ते। अस्मादध्ययनात् प्राप्ताः निष्कर्षाः अधोलिखिताः वर्तन्ते -

- विवेकचूडामणौ व्यक्तित्वस्य आधारत्वेन कारकत्वेन च स्थूलशरीरं, सूक्ष्मशरीरं, कारणशरीरम् आत्मतत्त्वञ्च वर्तन्ते।

---

19 तत्रैव - 117

20 तत्रैव - 118

21 Allport, G.W., Pattern and Growth in Personality - Page No. 28.

22 Cattell, R.B., Quoted by C.S. Hail and G. Lindzey, Theories of Personality - P.N. 386

- विवेकचूडामणौ सत्त्वगुणप्रधानं मिश्रसत्त्वगुणप्रधानं, विशुद्धसत्त्वप्रधानं, रजोगुणप्रधानं तमोगुणप्रधानञ्चेति पञ्चविधं व्यक्तित्वं निरूपितं वर्तते।
- विवेकचूडामणौ पञ्चविधं व्यक्तित्वं तेषां स्वरूपं च विस्तृत्वेन निरूपितं वर्तते।
- विवेकचूडामणौ पञ्चविधस्य व्यक्तित्वस्य गुणाः प्रतिपादिताः वर्तन्ते।

## सन्दर्भग्रन्थसूची


1. अद्वैत वेदान्त - इतिहास तथा सिद्धान्त, डा. राममूर्ति शर्मा, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, 1998.
2. अद्वैतसिद्धि, श्रीमधुसूदन सरस्वती, रत्न पब्लिकेशन्स, वाराणसी, 1985.
3. भारतीय दर्शन, दत्त एवं चटर्जी, पुस्तक भण्डार, पटना, 1994.
4. भारतीय दर्शन आलोचना एवं अनुशीलन, चन्द्रधर शर्मा, मोती लाल बनारसी दास, दिल्ली, 1998.
5. भारतीय दर्शन का इतिहास भाग - 3, एस. एन. दासगुप्ता, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1989.
6. वेदान्ततत्त्वविवेकः, श्रीस्वामी नृसिंहाश्रमः, श्रीदक्षिणामूर्तिमठ प्रकाशन, वाराणसी, 2002.
7. वेदान्तपरिभाषा, श्रीधर्मराजा ध्वरीन्द्रः, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालयः, वाराणसी, 2000.
8. श्रीमच्छङ्कराचार्यविरिचित विवेकचूडामणि, स्वामी प्रखर प्रज्ञानन्द सरस्वती, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 2010.
9. *Pattern and Growth in Personality*, G.W. Allport, Holt, New York, 1961.
10. *Theories of Personality*, R.B. Cattell, Quoted by C.S. Hail and G. Lindzey, John Wiley, New York, 1970


❀❀❀

# Our Contributors

1. **Dr. Dhananjaya Vasudeva Dwivedi**
   Assistant Professor, Dept. of Sanskrit
   Dr. Shyama Prasad Mukharji University, Ranchi

2. **Shubankar Das**
   Research Scholar, Dept. of Sanskrit and Philosophy
   Ramakrishna Mission, Vivekananda Educational Research Institution

3. **Paromita Biswas**
   Sact I, Bhangar Mahavidyalay
   South 24 Parganas, West Bengal

4. **Govind Sarkar**
   Resarch Scholar, Dept. of Sanskrit
   Rayganj University, West bengal

5. **Pooja**
   Research Scholar, University of Delhi

6. **Brajesh Kashyap**
   Research Scholar, Dept. of Sahitya
   Central Sanskrit University, Rajiv Gandhi Campus, Shringeri

7. **Dr. Dharmendra Das**
   Assistant Professor, Dept. of Sanskrit
   Utkal University, Bhubneswar

8. **Mangesh Pandey**
   Research Scholar, Yoga and Manaviki Vibhag
   S-Vyasa, Bengaluru

9. **Dr. Balram Pradhan**
   Associate Professor, Dept. of Yoga and Humanities,
   S-Vyasa, Bengaluru

10. **Gadahvi Anand Maheshbhai**
    Research Scholar, Dept. of Sanskrit
    Maharaja Krishnakumar Singhji Bhavnagar University

11. **Dr. Neeraj Sharma**
HoD, Dept. of Sanskrit,
Kanya Mahavidyalay, Jalandhar, Punjab

12. **Dr. Sadanand Jha**
Principle (I/C),
Janaki Narayan Brahmacaryashram Adarsh Sanskrit Mahavidyalay,
Lagma, Darbhanga, Bihar

13. **Dr. Indrajit Kumar**
Asst. Professor, Dept. of English,
Binod Bihari Mahto Koylanchal University, Dhanbad, Jharkhand

14. **Prof. Sharma Bhanu Bhupendra**
Hansraj College, Delhi

15. **Shruti Sharma**
MA, Dept. of Darshana,
Hansraj College, Delhi University, Delhi

16. **Dr. Tanuja Ajotikar**
Asst. Professor, The Sanskrit Library
2120 Sapphire Lane. Fairfield IA 52556, USA

17. **Balachandrakrishna Bhatta**
Cataloguing expert, Dharohar,
Madri Industrial Area, Udaipur

18. **Dr. Hari Ram Mishra**
Special Centre for Sanskrit Study,
Jawaharlal Nehru University, New Delhi

19. **Dr. Kusumlata Tailor**
Asst. Professor, Dept. of Sanskrit,
Janardanrai Nagar Rajasthan Vidyapeeth, Udaipur

20. **Karabi Sarmah**
Research Scholar, Dept. of Sanskrit
Gauhati University

21. **Dr. Debnath Pal**
Assistant Professor, Dept. of Sanskrit
Serampore College, Hooghly, West Bengal

22. **Anil Kumar Sanmuk**
Research Scholar, Dept. of Sanskrit Studies,
School of Humanities, University of Hyderabad, Telangana

23. **Dr. Satya Prakash Srivastva**
CMP PG College, Prayagraj

24. **Dr. Manish Jugran**
Asst. Professor, Dept. of Education,
Central Sanskrit Univerity, Ganganath Jha Campus, Prayagraj

# केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः
# गङ्गानाथझापरिसरः

चन्द्रशेखर-आजादोद्यानम्
प्रयागराजः -211002
Contact : 0532-2460957 Email : director-prayagraj@csu.co.in
Website : http://www.csu-prayagraj.res.in/